अंक : 62, भाग : 1-2, वर्ष : 2016-17
Vol. : 62, No. : 1-2, Year : 2016-17

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

अंक : 62, भाग : 1-2, वर्ष : 2016-17
Vol. : 62, No. : 1-2, Year : 2016-17

प्रज्ञा PRAJÑA

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

"प्रज्ञा" अंक– 61, भाग–2, वर्ष 2015–16 "विश्वविद्यालय शताब्दी विशेषांक" के विमोचन के अवसर पर लिया गया चित्र दिनांक 19.08.2016 (स्थान– कुलपति कक्ष, केन्द्रीय कार्यालय)

(बायें से) प्रो. एस.बी. राय, भौतिकी विभाग, विज्ञान संस्थान; प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह, राजनीति शास्त्र विभाग; **बीच में**– प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी, कुलपति; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, "प्रज्ञा" जर्नल; प्रो. राधेश्याम राय, हिन्दी विभाग; प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, संस्कृत विभाग।

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 62, भाग 1-2

वर्ष 2016-17

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 62 No. 1-2, 2016-17
ISSN 0554-9884

© Banaras Hindu University
December, 2016

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी
कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो. विजय कुमार शुक्ला
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. राजीव संगल
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. रवि प्रताप सिंह
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो. बच्चा सिंह
निदेशक, विज्ञान संस्थान

प्रो. राज कुमार
निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्रो. कविता शाह
निदेशक, पर्यावरण एवं सम्पोष्य विकास संस्थान

प्रो. संध्या सिंह कौशिक
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो. कुमार पंकज
प्रमुख, कला संकाय

प्रो. मंजीत कुमार चतुर्वेदी
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. आञ्जनेय शास्त्री
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो. आशा राम त्रिपाठी
प्रमुख, वाणिज्य संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार शर्मा
प्रमुख, विधि संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग,
कला संकाय

प्रो. एस. बी. राय
भौतिकी विभाग, विज्ञान संस्थान

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग,
सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

सम्पादक

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी ।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी ।।
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर ।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर ।।
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी । मधुर० ।।
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा ।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा ।।
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी । मधुर० ।।
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी ।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी ।।
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी । मधुर० ।।
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले ।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले ।।
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी । मधुर० ।।
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी ।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी ।।
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
विविध कला अर्थशास्त्र गायन ।
गणित खनिज औषधि रसायन ।।
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी । मधुर० ।।
यह मालवी की है देशभक्ति ।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति ।।
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी ।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी ।।

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

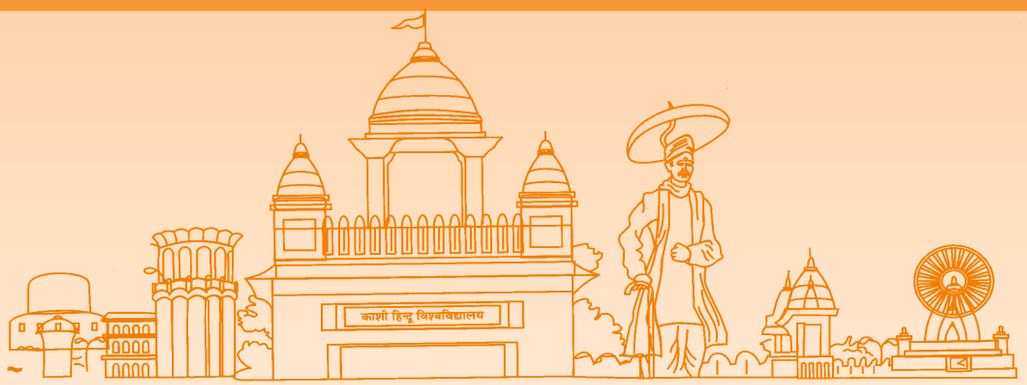

Kul-Geet

ENGLISH TRANSLATION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

RADIANT KASHI, WONDER OF THE THREE WORLDS
TREASURE-CHEST OF JNANA, DHARMA AND SATYA
NESTLING ON GANGA'S BANK, CENTRE FOR ALL DISCIPLINES.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

NO RECENT WORK OF BRICK AND STONE
PRIMORDIAL DESIGN OF DIVINITY ALONE
MANSIONS OF VIDYA, CENTRE FOR ALL CREATION.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

CLEAR HERE IS THE DOCTRINE PURE
TRUTH FIRST, THEN ONLY ONE'S SELF
HOME OF HARISHCHANDRA, TRUTH'S TESTING GROUND.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

THE VOICE OF GOD IN VEDIC RECORD
CONSTANT INSPIRATION FOR SOUL-ACCORD
WORK-SHOP OF VEDA VYASA, CENTRE FOR BRAHMA VIDYA.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

FIND HERE THE STEPS TO FREEDOM
TREAD HERE THE PATH OF DHARMA
FLAMING TRAIL BUDDHA'S AND SHANKARA'S CENTRE FOR PHILOSOPHER KINGS.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

LIFE-GIVING WATERS OF VARUNA AND ASSI
SUSTENANCE OF KABIR AND TULSI
FOUNTAINHEAD OF ELOQUENT SPEECH AND POETRY.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

MUSIC, ECONOMICS, OTHER ARTS SO MANY
MATHS, MINING, MEDICINE AND CHEMISTRY]
FRATERNAL FORUM OF EAST AND WEST, UNIVERSITY IN TRUEST SENSE.
(SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFULY ....)

PATRIOTISM OF MALAVIYAJI
HIS INTREPIDITY AND ENERGY
ALL IN YOUTHFUL MANIFESTATION,
CENTRE FOR MEN OF ACTION

SO SWEET, SERENE, INFINITELY BEAUTIFUL,
THIS IS THE PRESIDING CENTRE OF ALL LEARNING.

Composed by the Eminent Scientist **Prof. Shanti Swarupa Bhatanagar, Deptt. of Chemistry, B.H.U.*

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
An Institution of National Importance established by an Act of Parliament

प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी
कुलपति
Prof. Girish Chandra Tripathi
Vice-Chancellor

Varanasi–221005 (INDIA)
Phone : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
E-mail : vc@bhu.ac.in
Website : www.bhu.ac.in

१८ अक्टूबर २०१६

शुभ सन्देश

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शताब्दी वर्ष में प्रकाशित "प्रज्ञा" के प्रस्तुत अंक (अंक-६२, भाग १-२, वर्ष २०१६-१७) के प्रकाशन के अवसर पर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह पत्रिका सन् १९५८ ई० से लेकर अब तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वैदुष्य परम्परा एवं महामना के विचारों का सफल निर्वहन एवं प्रकाशन करती चली आ रही है। इस पत्रिका में न केवल हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे लेख प्रकाशित हुये है बल्कि ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित है। मैं आशा करता हूँ कि यह अंक पूर्व के अंको की भाँति जिज्ञासु पाठकों की ज्ञान पिपासा को तृप्त करेगा तथा पाठकगण इससे अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

मैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की तरफ से उक्त पत्रिका से जुड़े समस्त लोगों को बधाई देता हूँ तथा पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(गिरीश चन्द्र त्रिपाठी)

सम्पादकीय

विश्वविश्रुत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध शोध पत्रिका **'प्रज्ञा'** के इस अंक (अंक-62, भाग 1-2, वर्ष 2016-17) को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त संतोष एवं हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह पत्रिका विगत 58 वर्षो से सतत् रूप से प्रकाशित हो रही है, जिसमें अन्तरराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक विद्वानों के स्तरीय लेख प्रकाशित हुए हैं। इस अंक में कुल 41 शोध प्रपत्र/लेख प्रकाशित हैं, जिनमें 34 लेख हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में एवं 07 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। ये लेख संस्कृत भाषा एवं साहित्य, दर्शन एवं आध्यात्म्य, राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं हिन्दी साहित्य, पर्यावरण एवं प्रबन्धन, आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति, समाजशास्त्र, चित्रकला एवं ज्योतिष, संगीतशास्त्र एवं मंच कला, वेदान्त दर्शन एवं पुराण, धर्मशास्त्र एवं तंत्र तथा अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य जैसे अनेक विषयों एवं विधाओं से सम्बन्धित हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस अंक से वृहद पाठक वर्ग अवश्य लाभान्वित होगें। प्राची एवं प्रतीचि के सुन्दर मेल से बने इस विश्वविद्यालय की यश पताका को चतुर्दिक फैलाने में यह अंक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शताब्दी वर्ष में प्रकाशित इस अंक के सफल प्रकाशन हेतु मैं इस महान विश्वविद्यालय के यशस्वी एवं महामना के परमभक्त कुलपति माननीय प्रो. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी के प्रति मैं दिल से आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी सतत प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन से हमें पर्याप्त बल मिलता है। तदुपरान्त कुलसचिव डॉ. केशव प्रसाद उपाध्याय एवं वित्ताधिकारी डॉ. मारकण्डेय पाठक तथा अन्य अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके द्वारा हमें बराबर सकारात्मक सहयोग मिलता रहता है। संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सभी सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हूँ। मैं बी.एच.यू. प्रेस के प्रभारी प्रो. राकेश रमन के प्रति शुक्रिया अदा करता हूँ। अन्त में मैं **'प्रज्ञा'** कार्यालय के सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को साधुवाद देता हूँ, जिनसे मुझे बराबर सहयोग मिलता रहता है।

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)
सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल

विषय-सूची

1. विश्वामित्र-नदी संवाद सूक्तः समीक्षा तथा वर्तमान प्रासंगिकता 1
रविकान्त कसौधन एवं प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव

2. न्यायदर्शन के आलोक में आत्मा का स्वरूप 4
अंकिता मिश्रा एवं डॉ. करूणानन्द मुखोपाध्याय

3. डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में नयी कविता 7
श्रृतम्भरा तिवारी एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय

4. शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में चित्रित काशी 10
पीयूष कुमार द्विवेदी एवं प्रो. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी

5. दक्षिण भारत की लोकरंग परम्परा 20
माला यादव एवं प्रो. आनन्द वर्धन शर्मा

6. समकालीन कविता में स्त्री 24
ऋचा एवं प्रो. श्रीप्रकाश शुक्ल

7. 'अंधेरे में' की मूल संवेदना 28
डॉ. सत्यपाल शर्मा

8. दक्षिण की भक्त कवयित्री आंडाल : स्त्री चेतना का क्रान्तिकारी स्वर 34
डॉ. उर्वशी गहलौत

9. राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और हिंदी : प्रेमचन्द की दृष्टि में 38
परिमल प्रधान एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय

10. मध्यकालीन सन्त परम्परा 43
डॉ. सुमन तिवारी

11. हिन्दी साहित्य में किसानों की स्थिति का समीपावलोकन 48
डॉ. संगीता यादव

12. भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण प्रबंधन एवं मानवाधिकार-एक अध्ययन 52
डॉ. मुकेश कुमार मालवीय

13. आयुर्वेदिक चिकित्सा एवं रोगी संबंध का समाजशास्त्रीय अध्ययन 56
पंकज कुमार बेन एवं प्रो. लक्ष्मण सिंह

14. आधुनिक भारत एवं स्त्री शक्ति : पंडित मदन मोहन मालवीय का चिन्तन 62
डॉ. संध्या त्रिपाठी

15. पारम्परिक शिक्षा बनाम ई-लर्निंग : सतत् विकास का सार्थक प्रयास (उच्च शिक्षा में अध्ययनरत छात्राओं का...) 66
शीतल शर्मा एवं डॉ. अरूणा कुमारी

16. पर्यावरण एवं स्वास्थ्य चेतना का समाजशास्त्रीय आधार 71
डॉ. दिनेश कुमार सिंह

17. भारतीय चित्रकला में ज्योतिष तत्त्व 75
डॉ. राजेश कुमार शुक्ल एवं प्रो. दीप्ति प्रकाश मोहन्ती

18. काशी की चित्रकला के विविध आयाम 83
ज्योति भाष्कर एवं प्रो. मृदुला सिन्हा

19. संगीत चिकित्सा 88
चन्द्र भूषण एवं प्रो. शारदा वेलंकर

20. मंच प्रदर्शन में रस एवं सौन्दर्य निष्पत्ति-ग़ज़ल गायकी के सन्दर्भ में 92
स्मृति शुक्ला एवं प्रो. के. शशि कुमार

21. भारतीय चित्रपट तथा उसके संगीत के सौ वर्ष 96
अनुभव पाण्डेय एवं प्रो. संगीता पंडित

22. भारतीय संगीत वाद्यों का वर्गीकरण 100
अमित कुमार शुक्ल एवं डॉ. संगीता सिंह

23. संगीत शिक्षा में दार्शनिक चिन्तन एवं योग के तत्व 103
श्वेता राय एवं प्रो. शारदा वेलंकर

24. मानव-आचरण, क्रिया और थकावट पर संगीत का प्रभाव 108
निर्मल कुमार एवं डॉ. संगीत सिंह

25. संगीतसमयसार के शास्त्रीय 'निकष' 113
रागिनी सिंह एवं डॉ. के.ए. अम्बरीय चंचल

26. पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय में संगीत 116
अमित कुमार सिंह एवं डॉ. प्रेम किशोर मिश्र

27. संगीत में ताल की ऐतिहासिकता, महत्व एवं आवश्यकता 121
एकता सिंह एवं डॉ. शिवराम शर्मा

28. तबला-घरानों की उत्पत्ति का मूल आधार : संगीत विधाओं की संगत 125
डॉ. भीमसेन सरल

29. संगीत और मनोविज्ञान का संबंध 130
क्षमा मिश्रा एवं डॉ. के.ए. चंचल

30. वेदान्तदर्शने अज्ञानस्वरूपम् 134
ब्र. वाचस्पति कुमार एवं प्रो. विन्ध्येश्रवरीप्रसाद मिश्र

31. श्रीमद्भागवत महापुराण में प्रतिबिम्बित आचार पद्धति की मीमांसा 138
डॉ. श्रीकृष्ण त्रिपाठी

32. धर्मशास्त्र में तान्त्रिक प्रयोग 142
डॉ. प्रियङ्कर अग्रवाल एवं प्रो. रामकिशोर त्रिपाठी

33. श्रुतज्ञान का स्वरूप 148
जोगेन्द्र मित्र एवं प्रो. अशोक कुमार जैन

34. शिवशक्तितत्त्व : दार्शनिक मूल्य एवं सामाजिक उपयोगिता 153
डॉ. मिथिलेश पाण्डेय

35. Poetry on pyre: Hindi-Urdu Conflict in Anita Desai's in Custody 156
Prof. M.K. Pandey and Navin Kumar Yadav

36. Cyanopage in River Ganga: A Strategy to Control Michrobial Pollution 163
Vandana, Dr. A.Kumar M. Singh, and Dr. K.D. Pandey

37. Media and its Impact on our Attitudes 167
Shipra Singh and Dr. D.K. Singh

38. A Contrastive study of Hindi-German sound system 172
Dr. Prem Niwās Sinhā

39. The Chronological Development of Indian String Instruments: Ancient Period to... 185
Sarada Prasan Das and Swarna Khuntia

40. Eve Teasing and Mind Set of Youngsters "A Sociological study" 189
Ashutosh-Pandey and Dr. Dinesh Kumar Singh

41. Work-Family Conflict : An Overview 194
Dr. Swapana Meena and Gunjan Mishra

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

''प्रज्ञा''
नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

(अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

(ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

(स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

दिनांक एवं स्थान .....

मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

PRAJÑĀ

RULES AND GUIDELINES

1. As far as possible, **"Prajñā"** will be published twice a year : One issue at the time of start of the academic session, the other on the occasion of the Malaviya Jayanti.
2. The Teachers/Research Scholars of B.H.U. intending to publish their articles/research papers in the first issue of **"Prajñā"** are required to submit their manuscripts in the office of **"Prajñā"** before 30th November. The deadline for the submission of articles/ research papers for the second issue shall be 30th April. The research papers/articles of research scholars should be forwarded and recommended by the Supervisor/Head of the Department concerned.
3. The authors contributting their research papers/ articles shall get two copies of **"Prajñā"** : The first one would be the author's copy and second will be in lieu of 10 reprints of their articles.
4. All donations/subscriptions should be sent to the Editor, **"Prajñā"** B.H.U. Journal, Varanasi-221005.
5. **Guidelines for preparation of Manuscript of Articles/Research Papers :**
   a. Article/Research Papers should be Computer typed. Authors are required to submit a C.D. of their manuscripts alongwith the hard copy.
   b. The manuscript should be typed in double-space with 2 cm margin on the A-4 size bond paper.
   c. **For the manuscripts in Hindi and Sanskrit, the following instructions be followed :**

      APS-DV-Prinyanka Roman Font, Title–17 point black, Author's Name–13 point italic black, Text 13 point, folio 11 point and footnote 9 point.

   d. **For the manuscripts in English, the following instructions be followed :**

      'Time New Roman' font, Title-14 point All caps black, Author's Name - 11 point All caps italic black, Text-11 point upper lower, Footnote and Folio - 9 point. Text should be composed on A-4 size in the above font.

   e. **The Research papers/articles should not go beyond a maximum of 10 typed pages.**
6. **The declaration of the author for publication of articles in the "Prajñā" journal:**

   I, the author of the research paper/article entitled "....." declare that :

   a. I take the responsibility of the content and material of my paper as I myself have written it and also have read the manuscript of my paper carefully. Also, I hereby give my consent to publish my paper in the **"Prajñā"** journal.
   b. This article/research paper is my original work and no part of it's similar version is published or has been sent for publication anywhere else.
   c. I authorise the Editorial Board of the **"Prajñā"** journal to modify and edit the manuscript. I also give my consent to the Editor of **"Prajñā"** to own the copyright of my research paper/article.

   Author's Name and signature .....

   Date and Place .....

   Mobile/Telephone.....

●

विश्वामित्र-नदी संवाद सूक्तः समीक्षा तथा वर्तमान प्रासंगिकता

रविकान्त कसौधन एवं प्रो0 आनन्द कुमार श्रीवास्तव***

वेद बालसुलभ सरलता और निश्छलता वाले हदयों की अभिव्यक्तियाँ हैं, जिसको उन्होनें ठीक उसी प्रकार अभिव्यक्त किया, जैसा देखा था । ये दर्शनकर्त्ता ही ऋषि नाम से जाने जाते हैं । भारतीय चिन्तन की गरिमामय ज्ञान परम्परा वस्तुतः यहीं से प्रारम्भ होती है, जिसमें आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, देव, जीवन, मृत्यु, तथा नीति आदि विविध विषयों का चिंतन है । यह सम्पूर्ण वैदिक ज्ञानराशि वैदिक वाङ्मय के नाम से जानी जाती है, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग सम्मिलित हैं ।

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से ध्यान में आता है कि भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से ऋग्वेद संहिता अपेक्षाकृत प्राचीन है। जिसमें सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति-रिवाज, नीति विचार, तथा प्रकृति की विविध रूपों में स्तुति आदि विषय अनुस्यूत हैं। ऋग्वेद में अनेक संवाद सूक्त हैं, जो कला की दृष्टि से मनोरम, सरस एवं भावपूर्ण हैं। इनमें कथोपकथन की प्रधानता है। इसीलिए इन्हें संवाद सूक्त कहा गया हैं। ऋग्वेद में लगभग ऐसे बीस सूक्त हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में ये सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे, किन्तु पद्य भाग अधिक रोचक होने से अवशिष्ट रहा तथा गद्य भाग कथात्मक होने के कारण लुप्त हो गया। इन सूक्तों को ही परकालीन काव्यों, महाकाव्यों तथा नाटकों का आदि स्रोत माना जाता है। ऋग्वेद में बीज रूप में प्राप्त ये आख्यान ही ब्राह्मणों आदि में पुष्पित तथा परवर्ती काव्यों में पल्लवित हुए। जिनका प्रमुख उद्देश्य जनसामान्य को नीति-ज्ञान तथा आनन्द प्रदान करना था।

इन संवाद सूक्तों में तृतीय मण्डल का तैतीसवाँ सूक्त, जिसमें विश्वामित्र तथा नदियों का पारस्परिक संवाद है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुल तेरह मन्त्र हैं तथा ये मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में उपनिबद्ध हैं। केवल मन्त्र संख्या 11 अनुष्टुप् छन्द में है। इस सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि विश्वामित्र (जो कि पिजवन के पुत्र तृत्सुराज सुदास के पुरोहित हैं) पौरोहित्य से प्राप्त धन लेकर अपने घर जा रहे हैं। रास्ते में उनका मिलन विपाट् (विपाशा) और शुतुद्री (सतलज) नामक सिन्धु की दो सहायक नदियों से होता है।

ये नदियाँ जल से परिपूर्ण तथा अत्यन्त वेगवाली हैं। अतः उन्हें पार करना कठिन है। उनके पार जाने की इच्छा रखने वाले विश्वामित्र नदियों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि पर्वतों की गोद से प्रवहमान आप समुद्र की ओर जाने हेतु तीव्र वेग से प्रवाहित हैं, जैसे खुले लगाम वाली दो घोड़ियाँ। जिस प्रकार गायें बछड़े को को चाटने के लिए जाती हैं, उसी प्रकार तुम दोनो नदियाँ समुद्र की ओर गमनशील हो -

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।।[1]

विश्वामित्र कहते हैं कि हे नदियों ! इन्द्र द्वारा प्रेषित तुम दोनों रथवानों की तरह समुद्ररूपी गन्तव्य की ओर जाती हो । अपने प्रवाह द्वारा तुम दोनों आस-पास के प्रदेशों को सिञ्चित करती हुई, समुद्र की ओर जाते हुए एकत्व को प्राप्त करती हो अर्थात् परस्पर मिल जाती हो -

इन्द्रषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ।।[2]

विश्वामित्र कहते हैं कि हे नदियों ! जगत् को स्नेह प्रदान करने वाली माताओं के समान तुम दोनों के समीप मैं विश्वामित्र आया हूँ । जिस प्रकार गायें बछडे को चाटने के लिए दौडती हैं, उसी प्रकार तुम सञ्चरण कर रही हो। ऐसी तुम्हें मैं प्राप्त हुआ हूँ -

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयसां विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्तीं।।[3]

विश्वामित्र की स्तुतियों को सुनकर नदियाँ कहती हैं कि हम वर्षा के देवता इन्द्र द्वारा सतत प्रवाहित रहने के लिए ही प्रवहमान हैं। हमारा यह प्रवाह स्वाभाविक है और हमारा गन्तव्य समुद्र है। अतः हम रुक नहीं सकती हैं। फिर किस इच्छा से युक्त होकर तुम हमारी स्तुति कर रहे हो?

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनुयोनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्त : किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति।।[4]

प्रत्युत्तर में विश्वामित्र कहते हैं कि सोम के समान माधुर्य युक्त वचनों के द्वारा मैं अपनी रक्षा के लिए आप दोनों को क्षण भर रुकने को कहता हूँ और इसीलिए मैं आप दोनों की स्तुति कर रहा हूँ -

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरी रूप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्ने कुशिकस्य सूनुः।।[5]

इस पर नदियाँ कहती हैं कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भुजाओं में वज्र धारण करने वाले इन्द्रदेव ने हमारे लिए मार्ग बनाया था और हमारे प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले वृत्त और अहि का वध किया

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

था। जगत् के प्रेरक तथा तेजस्वी इन्द्रदेव की प्रेरणा से ही विशाल जलराशि से परिपूर्ण हम प्रवाहित हैं।

नदियाँ कहती हैं कि हे विश्वामित्र! जब भी हमारा मार्ग प्रतिबन्धित हुआ है, तब कुपित इन्द्र ने वज्र द्वारा हमारा मार्ग बनाया है। हमारा प्रवाह निर्बाध गति से बहने के लिए है, इसे तुम याद रखो ताकि इस बात को आगे आने वाले युगों में लोग सुनें। हमारी स्तुति करो, किन्तु संकीर्ण कार्यों के लिए हमारा प्रवाह मत रोको, हमारा अधःपतन मत करो। हे मन्त्रदृष्टा ! तम्हे प्रणाम है -

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठ आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरूषत्रा नमस्ते॥[6]

विश्वामित्र पुनः अपनी समस्या स्पष्ट करते हैं कि मैं अत्यन्त दूर से आया हूँ तथा अत्यधिक भार से युक्त हूँ। अतः मेरी सहायता करो और अपने प्रवाह को धीमा करती हुई, हे बहनों! सरलता से पार करने योग्य हो जाओ। प्रत्युत्तर में नदियाँ कहती हैं कि हम तुम्हारे कष्ट को समझ रही हैं। अतः जिस प्रकार दूध भरे स्तनों वाली माता अपने पुत्र और युवती अपने प्रेमी के आलिङ्गन के लिए झुकती है, उसी प्रकार मैं नीचे झुक रही हूँ अर्थात् अपने प्रवाह को धीमा कर रही हूँ -

आ ते कारो शृण्वामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यनेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचैते॥[7]

ऋषि विश्वामित्र की प्रार्थना पर नदियाँ मन्द प्रवाह हो जाती हैं और विश्वामित्र नदियों का सर्मथन प्राप्त कर परिजनों सहित पार हो जाते हैं। पार होने के उपरान्त वह नदियों को पुनः पूर्ववत् प्रवाहित होने की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे नदियों ! तुमने पूर्व में भी अपनी शाखाओं द्वारा भूमि को सिंचित करते हुए अन्न से परिपूर्ण किया है। अतः रत्नों से समृद्ध तुम दोनों नदियों और नहरों को तृप्त करती हुई, सदा प्रवहमान रहो -

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम् ।
प्र पिन्ध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्॥[8]

इस प्रकार हमें प्राप्त होता है कि यह संवाद सूक्त अत्यन्त भावोत्पादक है। इसमें वर्णित नदियाँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। जिनमें से शुतुद्री उत्तर वैदिककाल में शुतुद्र के नाम से विख्यात हो गई।[9] वर्तमान में यह सतलज नाम से जानी जाती है। दूसरी नदी विपाट् है, जिसका आचार्य यास्क के अनुसार प्राचीन नाम उरुंजिरा था।[10] बंधनों को नष्ट करने के कारण ही यह विपाश् नाम से प्रसिद्ध हुई। वर्तमान में इसे व्यास नाम से जाना जाता है, जो पंजाब की प्रसिद्ध नदी है।

प्रस्तुत सूक्त से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल से ही नदियाँ सभ्यताओं का केन्द्र रही हैं। वैदिक सभ्यता भी ऐसी ही नदियों की गोद में (जिसे सप्तसिन्धु प्रदेश कहा जाता है) विकसित हुई है। यातायात, कृषि तथा अन्य आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र नदियाँ ही रही हैं। प्राचीन समय से ही सिंचाई तथा पेयजल के लिए कृत्रिम नहरों का निर्माण किया जाता रहा है। ये नदियाँ ही विभिन्न राज्यों की सीमाओं का भी निर्धारण करती थीं।

प्रस्तुत आख्यान से वर्षा की उत्पत्ति की भौतिक प्रक्रिया का भी ज्ञान होता है। जिसमें आकाशीय विद्युत बादलों को विदीर्ण करती है और जल-प्रवाह भयंकर रूप धारण करके पृथ्वी को जल से आप्लावित कर देता है। [11]

प्रस्तुत सूक्त में प्रकृति तथा मानव का अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध वैदिक ऋषि द्वारा वर्णित है। एक स्थान पर माता-पुत्र, भाई-बहन तथा प्रेमी-प्रेमिका की भी उपमा है, जिससे ध्यान में आता है कि मनुष्य जिस प्रकार अपने रक्त सम्बन्धियों से स्नेह रखता है तथा उन्हें किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रकृति का भी दोहन करते हुए, उसे उचित पोषण प्रदान करे तथा अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखे। प्रस्तुत सूक्त में यह तथ्य विशेष ध्यातव्य है कि जब-जब प्रकृति की स्वाभाविक गति को बाधित किया गया है, तब-तब प्रकृति ने उसका प्रतिकार किया है। अतः मनुष्य का उत्तरदायित्व है कि वह अपना विकास प्रकृति के अनुकूल होकर करे, जिससे मानव और प्रकृति का सन्तुलन बना रहे।

वर्तमान समय में जल प्रदूषण से उत्पन्न संकट मानव सभ्यता के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा है। जलीय जीव नष्ट हो रहे हैं। अनेक प्रकार की व्याधियाँ मनुष्य को अपना ग्रास बना रही हैं । औद्योगिक कारखानों के अपशिष्ट नदियों के जल को अपेय और अप्रयोज्य बना रहे हैं। जिससे दिन-प्रतिदिन पर्यावरणीय असन्तुलन बढ़ता ही जा रहा है। अनेक दुर्लभ प्रजातियाँ विलुप्तप्राय होती जा रही हैं। यही स्थिति रही तो निश्चय ही निकट भविष्य में जल-संकट एक महायुद्ध का रूप धारण कर लेगा और जिसकी परिणति शायद मानव सभ्यता के अन्त के रूप में हो। ऐसी परिस्थिति में वैदिक मनीषियों की यह प्रेरक वाणी इन समस्त प्रसङ्गों में हमारा मार्गदर्शन करती है तथा हमें प्रकृति के साथ सन्तुलन निर्माण कर चलने की प्रेरणा देती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक मनीषियों की प्रकृति के प्रति अत्यन्त उदात्त दृष्टि है। वह माता के समान प्रकृति का आदर करते हैं तथा आवश्यकतानुसार उसके दोहन की इच्छा रखते हैं। यही संदेश उन्होने भावी पीढ़ियों को भी प्रस्तुत संवाद-सूक्त के माध्यम से दिया है।

संदर्भ सूची

1. ऋ0-3/33/1,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1409
2. ऋ0-3/33/2,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1410
3. ऋ0-3/33/3,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1410

4. ऋ0-3/33/4,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1411

5. ऋ0-3/33/5,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1411

6. ऋ0-3/33/8,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1413

7. ऋ0-3/33/10,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1414

8. ऋ0-3/33/12,डा0 भीष्मदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ0-1415

9. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेद खण्ड, डा0 बलदेव उपाध्याय, उ0प्र0 संस्कृत संस्थान,उ0 प्र0,पृ0-517

10. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेद खण्ड, डा0 बलदेव उपाध्याय, उ0प्र0 संस्कृत संस्थान, उ0प्र0, पृ0-522

11. वैदिक देवों का वैज्ञानिक स्वरूप,डा0 कपिलदेव द्विवेदी, विश्व अनुसंधान परिषद, भदोही- उ0प्र0, पृ0-131

●

न्यायदर्शन के आलोक में आत्मा का स्वरूप

अंकिता मिश्रा एवं डॉ0 करूणानन्द मुखोपाध्याय***

भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन का प्रमुख स्थान है। गौतम ने बारह प्रमेयों[1] को प्रमुख माना जिनका तत्त्वज्ञान मोक्ष में हेतु है। भाष्यकार वात्स्यायनने भी कहा है- **''आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः[2]।''** अर्थात् आत्मादि द्वादश प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इन द्वादश प्रमेयों में एकमात्र आत्मा ही चेतन प्रमेय है, शरीर, इन्द्रिय आदि अन्य सभी एकादश प्रमेय अचेतन है। चेतन होने से आत्मा प्रधान प्रमेय है। वाचस्पति मिश्र ने इसे स्पष्ट किया है- **''अपवर्गस्य आत्मत्वेन प्रमेयेषु आत्मनः प्राधान्यात्[3]।''** आत्मा चेतन है इस विषय में न्यायदर्शन के आचार्यों का ऐकमत्य है। लेकिन आत्मा की चेतनता स्वाभाविक या आगन्तुक है इस विषय में विद्वानों में संशय दृष्टिगोचर होता है। संशय का कारण यह है नैयायिक स्वीकार करते है कि सुषुप्ति एवं मोक्षदशा में जीवात्मा में ज्ञान नहीं रहता है। चूँकि जड़ एवं चेतन में प्रमुख भेद यह है कि चेतन जानता है और जड़ नहीं जानता है। ज्ञान ही जड़ व चेतन में भेद करता है। चूँकि सुषुप्ति एवं मोक्ष में आत्मा में ज्ञान नहीं रहता है, अतः उन समयों में आत्मा जड़साम्य को प्राप्त होती है। जब आत्ममनः सयोगादि कारण उपस्थित रहता है तब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा चेतन होता है। अतः न्यायसिद्धान्त के अनुसार आत्मा में चेतनता आगन्तुक है ऐसा आक्षेप करने वाले का आशय है। इस आलेख में उक्त आक्षेप जन्य संशय का निराकरणपूर्वक आत्मनिष्ठ चैतन्य की स्वाभाविकता या आगन्तुकता का निर्णय करने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त संशय का समाधान करने से पूर्व हम न्याय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप एवं लक्षण पर विचार करते हैं। आचार्य वात्स्यायन ने आत्मा का लक्षण करते हुये कहा है- **''तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी।''**[4] अर्थात् आत्मा सबका द्रष्टा है, सबका भोक्ता है, सब कुछ जानने वाला तथा सबका अनुभवकर्त्ता है। आचार्य वात्स्यायन द्वारा किए गये आत्मा के लक्षण को स्पष्ट करते हुए 'तात्पर्यटीका' में श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है- **''सर्वस्य सुखदःखसाधनस्य द्रष्टा सर्वस्य सुखदुःखस्य भोक्ता यतः सुखदुःखसाधनं सर्वं। सर्वं च सुखदुःखं जानाति अतः सर्वज्ञः। न च अप्राप्तानि एतानि जानाति इत्यत आह सर्वानुभावी। अनुभवः प्राप्तिः तदेतद् वैराग्योत्पादनायोक्तम् ॥''**[5] सर्वस्य द्रष्टा का अर्थ है सभी सुखदुःख के साधनों को जानने वाला। सर्वस्य भोक्ता का अर्थ है, सुखदुःख के साधनों का उपभोक्ता, आत्मा ही सुख व दुःख का भोग करता है। आत्मा इन्द्रिय एवं मन से संयुक्त होकर भोक्ता कहलाता है। कठोपनिषद् कहती है- **''आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।''**[6] भोग का अर्थ है सुख व दुःख का साक्षात्कार, अतः भोग भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। इस प्रकार सब कुछ जानने के कारण आत्मा सर्वज्ञ है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'सर्वज्ञता मात्र परमात्मा में है, किन्तु जीवात्मा का ज्ञान तो अल्प विषयक है, अतः जीवात्मा में यह लक्षण कैसे समन्वित होगा? इसका उत्तर है कि सर्वज्ञता से भाष्यकार का आशय मात्र 'जानने' से है अर्थात् सभी वस्तु का ज्ञान एकमात्र आत्मा को ही होता है, अतः आत्मा सर्वज्ञ है। इस प्रकार 'सर्वज्ञ' पद का अर्थ करने से जीवात्मा में भी लक्षण का समन्वय होता है।

सर्वानुभावी पद में विद्यमान अनुभव का अर्थ है प्राप्ति। आत्मा को ही भोग, भोगसाधन व मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए आत्मा को सर्वानुभावी कहा गया है। चूँकि ज्ञानपूर्वक ही प्राप्ति होती है, अतः सर्वानुभावी इस पद के अर्थ में सर्वविषयक ज्ञान अन्तर्निहित है। इस प्रकार आचार्य वात्स्यायन एवं वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में सामञ्जस्य है।

भाष्यकार कृत इस लक्षण में आत्मा के चार विशेषण हैं- सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः व सर्वानुभावी। इन चारों में वस्तुतः ज्ञान ही प्रमुखतया विद्यमान है अतः ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। इसलिए तर्कसंग्रह में अन्नंभट्ट ने आत्मा का लक्षण करते हुए लिखा है-**''ज्ञानाधिकरणं आत्मा''**[7] अर्थात् ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। इस लक्षण के विश्लेषण से समवायसम्बन्धेन ज्ञानवान् आत्मा यह लक्षण प्राप्त होता है और समवाय सम्बन्ध से ज्ञान जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों में ही रहता है। जीवात्मा के जन्यज्ञान एवं परमात्मा के नित्यज्ञान को लेकर लक्षण का समन्वय हो जाता है। समवायसम्बन्धेन यह विशेषण नहीं देने से पृथिवी जलादि में विषयता सम्बंध से ज्ञान रहता है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए समवाय सम्बन्ध से यह विशेषण दिया गया है।

आत्मलक्षण पर पर्यनुयोग- समवायसम्बन्धेन ज्ञानवान आत्मा इस लक्षण का समन्वय मात्र बन्धनदशा में होता है, क्योंकि

* शोध छात्रा संस्कृतविभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

न्यायदर्शन के अनुसार मोक्षदशा में ज्ञान आत्मा में नही रहता है, अतः मोक्षकालीन आत्मा में लक्षण की अव्याप्ति होती है। न्यायदर्शन के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा भिन्न है। परमात्मा नित्य मुक्त है एवं नित्यज्ञान का आश्रय है, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति का प्रसंग नहीं है, पक्षान्तर में जीवात्मा की दो स्थिति का उल्लेख न्यायदर्शन मे किया गया है प्रथम बन्धनावस्था एवं द्वितीय मोक्षावस्था। बन्धनदशा में ही ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा मोक्षदशा में ज्ञान नहीं रहता है इसलिए लक्षण की अव्याप्ति होती है। इस बात को ध्यान में रखते हुये श्रीहर्ष मिश्र आदि विद्वानों ने आक्षेप किया है कि न्यायदर्शनानुसार मोक्ष में आत्मा शिला की तरह जड़ हो जाती है।

समाधान- उपर्युक्त आक्षेप का समाधान न्यायदर्शन के आचार्यो ने तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। तथाहि आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि आत्मा में ज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य या योग्यता है, आत्मा की यह योग्यता ही वस्तुतः उसकी चेतनता है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति से आत्मा में चेतनता का आविर्भाव होता तो पृथिवी आदि द्रव्यों में ज्ञान उत्पन्न होकर उन्हें भी चेतन बना सकता है। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

न्यायदर्शन के अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति मे समवायि, असमवायि एवं निमित्त तीन प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। जैसे घट के निर्माण में कुलाल, दण्ड आदि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान को उत्पन्न होने के लिए तीनों प्रकार के कारणों की उपस्थिति अनिवार्य है। ज्ञानरूपी कार्य के प्रति समवायिकारण आत्मा है, असमवायिकारण आत्ममनः संयोग है, आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रिय से सम्बन्ध एवं इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध आदि निमित्त कारण है। इन तीनों कारणों की उपस्थिति बन्धन अवस्था में ही सम्भव होने से बन्धनकालीन आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, विषय एंव सक्रिय मन का सम्बन्ध नहीं होने से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार मोक्ष दशा में असमवायि व निमित्त कारण न होने से आत्मा में ज्ञान नहीं होता है, परन्तु उस समय भी आत्मा ज्ञानोत्पत्ति के लिए स्वरूपतः योग्य है, अतः आत्मा स्वरूपतः चेतन है। आत्मा के लक्षण में अव्याप्ति न हो इसके लिए 'ज्ञानवान् आत्मा' इस लक्षण को 'ज्ञानाश्रययोग्यत्वमात्मत्वम्' इस प्रकार परिष्कृत लक्षण किया गया है। इस लक्षण का समन्वय आत्मा के मोक्ष एवं बन्धन दोनों ही अवस्थाओं में होता है अतः अव्याप्ति दोष नहीं है। आशय यह है कि आत्मा की चेतनता स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं है।

आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण- प्रमेय सिद्धि प्रमाणद्धिः इस नियम अनुसार आत्मा रूपी चेतन प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है। न्यायदर्शन स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों में आत्मा को सिद्ध करने में कौन प्रमाण समर्थ हैं, यह विचारणीय है।

आत्मा के अस्तित्व में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार न्यायाचार्यो ने किया है। न्यायदर्शन में आत्मा को द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। द्रव्य का प्रत्यक्ष कराने में तीन इन्द्रियाँ समर्थ होती है, चक्षुरिन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय एवं मन। इनमें चक्षुरिन्द्रिय उन्हीं द्रव्यों का प्रत्यक्ष कराने में समर्थ है जो रूपवान् हैं एवं त्वगिन्द्रिय उद्भुतस्पर्श का आश्रयभूत द्रव्यों का प्रत्यक्ष कराती है, किन्तु आत्मा में ये दोनों गुण नहीं है इसलिए चक्षुरिन्द्रिय एवं त्वगिन्द्रिय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। तीसरी इन्द्रिय मन है, उस के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है। आत्मा एवं मन के संयोग से अहं सुखी आदि मानस प्रत्यक्ष होता है अतः अहं सुखी रूप मानस प्रत्यक्ष आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है।

प्रश्न उठता है-अहम् अनुभूतिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से शरीरादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि सम्भव है या नहीं? इस पर भाष्यकार वात्स्यायन से लेकर जयन्त भट्ट आदि आचार्यों ने गहन विचार किया है। भाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है-**''तत्र आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते''**[8] अर्थात् जब तक घटादि की तरह शरीरादि से भिन्न, आत्मा सिद्ध न हो, तब तक अहम् सुखी आदि प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं होगा क्योंकि आत्मा के स्वरूप के विषय में विद्वानों में संशय है। अहम् अनुभूति के द्वारा यदि आत्मा प्रकाशित होगी तो आत्मा के आस्तित्व में 'अहं' प्रत्यक्ष प्रमाण होगा। 'अहं' प्रत्यक्ष का विषय आत्मा है या नहीं इसमें संशय होने पर उदयनाचार्य ने लिखा है-**''निरूपाधि शरीरबुद्धितत्मुदायालम्बनत्वेन अहंप्रत्ययस्य अतिप्रसंगात् स्वसम्बन्धिनि शरीरादवयमहं प्रत्ययः इति वाच्यम्।**[9]

अर्थात् आचार्य उदयन के अनुसार यदि अहं का विषय निरूपाधि आत्मा, शरीर, प्रत्येक इन्द्रिय अथवा उनके समुदाय को मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग होगा, क्योंकि स्वसम्बन्धी शरीर, बुद्धि, मन आदि में ही अहं प्रत्यय होता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'स्व' शब्द का आत्मा में भिन्न कोई अर्थ सम्भव है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उदयनाचार्य ने लिखा है-**''अनन्यत्वं स्वत्त्वं सर्वभावानाम् । तथा च यदा तेनैव तदनभूयते तदा प्रत्येतुः प्रत्येतव्यादनन्यत्वादहमिति स्यात् ।''**[10]

अर्थात् जिसके लिए स्व का प्रयोग होता है वह उससे अभिन्न होता है यह व्याप्ति है। इसी प्रकार जब अनुभवकर्त्ता स्वयं अपनी ही अनुभूति करता है, उस समय अनुभवकर्त्ता एवं अनुभव का विषय अभिन्न होता है एवं 'अहम्' यह अनुभूति होती है। इसलिए घटादि या अन्य शरीर में 'अहं' अनुभव नहीं होता है, क्योंकि अनुभवकर्त्ता से घटाादि कभी अभिन्न नहीं होते। इसी तरह सिद्ध होता है कि चूँकि आत्मा से सम्बन्धित शरीरादि में भी अहम् अनुभूति होती है, अतः शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा है ऐसा 'अहं सुखी' इत्यादि मानस

प्रत्यक्ष से सिद्ध होना सम्भव नहीं है इसी आशय से वात्स्यायने कहा है तत्र आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते।

अनुमान प्रमाण जो कि लगभग सभी दर्शनों में स्वीकृत है, उससे आत्मा की सिद्धि सम्भव है। यही कारण है कि आत्मा की सिद्धि के लिए नैयायिकों ने वाहुल्येन अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है। आचार्य वात्स्यायन ने कहा है-''**अनुमानाच्चप्रतिपद्यते इति**''[11] अनुमान के लिए हेतु आवश्यक है, इसलिए न्यायसूत्र के आत्मलक्षणप्रकरण में महर्षि गौतम ने आत्मविषयिनी अनुमिति के साधनभूत लिङ्गो का वर्णन करते हुए कहा है- ''**इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम।**''[12]

अर्थात् इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये सभी आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग है। इच्छादि गुण है। चूँकि गुण द्रव्य में रहते हैं इसलिए इच्छादि का आश्रय जो द्रव्य है. वहीं आत्मा है यह सिद्ध होता है। न्यायदर्शन के विकास के साथ ही इसकी भाषा एवं शैली में नवीनता आयी। आत्मा की सिद्धि के लिए पूर्वाचार्यों की परम्परा का पालन करते हुए नव्यनैयायिकों ने भी आत्मा के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो अपेक्षाकृत उन्नतभाषा एवं शैली का परिचायक है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के अनुसार आत्मानुमान का प्रारूप इस प्रकार हे-''**रूपग्रहणकालीनं चक्षुः सकर्तृकं फलोपधायकत्त्वे सति करणत्त्वात् कुठारवत्।**''[13] इस अनुमान में पक्ष है-'रूपग्रहणकालीनचक्षु। साध्य है-सकर्तृकत्त्व। फलोपधायकत्त्वविशिष्टकरणत्त्व हेतु है। दृष्टान्त है कुठार। अनुमान की सम्पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है-

1. पक्षधर्मताज्ञान-रूपग्रहणकालीनं चक्षु फलोपधायकत्त्वविशिष्ट-करणत्ववत्।

2. व्याप्तिस्मरण-यत्र यत्र फलोपधायकविशिष्टकरणत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वम्। अर्थात् जहाँ जहाँ फल से विशिष्ट करणत्व होता है वहाँ वहाँ सकर्तृकत्व होता है, जैसे कुठार जब जब द्वैधीकरण रूपी फल से युक्त होता है तब तब वह कर्त्ता से भी युक्त होता है। पक्षान्तर में जब कुठार द्वैधीकरणरूपी फल से युक्त नहीं होता है, तब कुठार कर्त्ता से भी युक्त नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से हेतु और साध्य के व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान होता है।

3. परामर्श ज्ञान- ''सकर्तृकत्त्वव्याप्यफलोपधायकत्वविशिष्ट-करणत्ववत् रूपग्रहणकालीनं चक्षुः।''

4. अनुमिति ज्ञान :- 'रूपग्रहणकालीनं चक्षुः सकर्तृकत्त्ववत्'

इस प्रकार अनुमान से सकर्तृकत्त्व की सिद्धि होती है। यद्यपि इस अनुमान से सकर्तृकत्त्व की सिद्धि होने पर भी अनुमान के साध्य के रूप में आत्मा की सिद्धि नहीं होती है, तथापि नैयायिकों ने सामान्य व्याप्ति से विशेष साध्य के सिद्धि की प्रक्रिया को विकसित किया है, तदनुसार जब चक्षुरिन्द्रिय करण के रूप में कार्य कर रही है तथा फल से युक्त भी है अतः इसका कोई कर्त्ता अवश्य होगा और यह कर्त्ता आत्मा ही है, इस प्रकार चेतन आत्मा की सिद्धि होती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। महर्षि गौतम न्यायसूत्र 1/1/9 सम्पादक स्वामी द्वारकादास शास्त्री, प्रथम संस्करण बौद्ध भारती प्रकाशन, 1999, वाराणसी।
2. आचार्य वात्स्यायन, न्यायसूत्रभाष्य 1/1/1 सम्पादक स्वामी द्वारकादास शास्त्री प्रथमसंस्करण, बौद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1999।
3. श्रीवाचस्पति मिश्र, न्यायवार्तिव तात्पर्यटीका पृ0सं0 210 सम्पादक पं0 श्री राजेश्वर शास्त्री द्राविड़, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी द्वितीयसंस्करण 1989
4. वात्स्यायनभाष्य, 1/1/9
5. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ0 सं0 209
6. कठोपनिषद् 1/3/4 पुनर्मुद्रित सप्तम संस्करण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2009
7. अन्नं भट्ट, तर्कसंग्रह, पृ0 सं0 14, चतुर्थ संस्करण, 1980, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
8. वात्स्यायनभाष्य 1/1/10
9. आचार्य उदयन न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिः पृ0 सं0 233
10. न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, पृ0सं0 233, सम्पादक श्री अनन्तलाल ठाकुर, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996
11. वात्स्यायनभाष्य 1/1/10 पृ0 सं0 22
12. न्यायसूत्र 1/1/10
13. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, आचार्य विश्वानाथ पंचानन भट्टाचार्य, पृ0सं0 107, सम्पादक पं0 श्रीरामगोविन्द शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, षोडश संस्करण, 2008.

●

डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में नयी कविता

ऋतम्भरा तिवारी एवं प्रो0 बलिराज पाण्डेय* *

प्रयोगवाद का सहारा लेकर अपना एक अलग अस्तित्व घोषित करने वाली नयी कविता का विकास स्वातंत्र्योत्तर भारत में ऐसे समय हुआ जब साहित्य और राजनीति में गहरा संघर्ष और उथल पुथल था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद ने विश्व पैमाने पर कम्युनिस्ट विरोधी अभियान चलाया, जिसे भारत में कांग्रेसी नेताओं ने भी अपनाया। उन्होंने स्वतंत्रता के लिये क्रान्ति करने की अपेक्षा साम्राज्यवाद से समझौता करना अधिक श्रेयस्कर समझा। भारतीय राजनीति में कांग्रेसियों के इस कम्युनिस्ट विरोधी अभियान से साहित्य जगत भी अछूता नहीं रह सका। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार नयी कविता का उद्भव और विकास इस कम्युनिस्ट विरोधी अभियान से जुड़ा हुआ है। नयी कविता को इन सामाजिक, राजनीतिक सन्दर्भों से अलग कर केवल कलावाद के सन्दर्भ में नहीं देखा जा सकता है। वे अपनी पुस्तक 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में लिखते हैं- **''चाहे प्रयोगवाद हो, चाहे नयी कविता, उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए भारत पर साम्राज्यवाद के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दबाव को नजरंदाज करना गलत है।''**[1]

डॉ. रामविलास शर्मा ने तारसप्तक से नयी कविता का प्रारम्भ मानने वाले आलोचकों से अपनी असहमति व्यक्त की है। वे कारण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- **''बहुत से लोग नयी कविता की शुरूआत तारसप्तक से मानते हैं, मैंने इस धारणा का खण्डन किया है। तारसप्तक के अधिकांश कवि मार्क्सवाद से प्रभावित थे या कहीं उसके आसपास थे।''**[2] उन्होंने प्रयोगवाद का प्रारम्भ अज्ञेय द्वारा 'कृति' के प्रकाशन वर्ष सन् 1947 से तथा नयी कविता का प्रारम्भ इलाहाबाद से 'नयी कविता' के प्रकाशन वर्ष सन् 1954 से स्वीकार किया है। वे प्रयोगवाद और नयी कविता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- **''प्रयोगवाद सन् 47 से 51 के बीच स्थापित हुआ पर नयी कविता का आन्दोलन- अज्ञेय से भिन्न विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती और जगदीश गुप्त का साहित्यिक आन्दोलन सन् 51 के बाद आरम्भ हुआ था। प्रयोगवाद कुंठा और घुटन पर जोर देता था; नयी कविता का जोर मनुष्य के टूटने पर, उसके त्रास और व्यक्तित्व के विघटन पर था।''**[3]

रामविलास शर्मा के मतानुसार कम्युनिस्ट समर्थन और कम्युनिस्ट विरोध के कारण ही तारसप्तक से नयी कविता अलग होती है। इसके विषय में उन्होंने लिखा है- **''तारसप्तक' में फिर 'प्रतीक' में, नेमिचन्द्र जैन के वक्तव्यों का भेद कम्युनिस्ट समर्थन और कम्युनिस्ट विरोध का भेद है। युद्धकाल में अज्ञेय फासिस्ट विरोधी लेखकों के साथ थे, तारसप्तक में उन्होंने लाल फौज की पद्यबद्ध प्रशस्ति छापी थी। यह सब युद्ध के बाद बदल गया।''**[4] सन् 1947 के पहले जिन कवियों ने मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाया था, उसे उन्होंने 1947 के बाद छोड़ दिया। 'प्रतीक' पत्रिका के दूसरे अंक में नेमिचन्द्र जैन ने स्पष्ट रूप से अन्तर्मुखी साहित्य का समर्थन किया तथा यह घोषणा की कि- **''तथाकथित सामाजिक चेतना का साहित्य प्रायः सारा का सारा अस्वीकार का साहित्य है, बचकाना और जैसे किसी साँचे में ढला हुआ।''**[5] लेकिन कुछ मार्क्सवादी समीक्षकों के द्वारा नयी कविता को प्रगतिवाद से जोड़ते हुए उसमें प्रगतिशील तत्वों का उल्लेख किया गया। मुक्तिबोध द्वारा उनकी पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में नयी कविता के प्रति ऐसी ही विचारों की अभिव्यक्ति की गई है- **''नयी कविता में स्वयं कई भाव धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं। इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्व पर्याप्त हैं। उनकी समीक्षा होना बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है, आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्व और भी बढ़ते जाएँगे और वह मानवता के अधिकाधिक समीप आयेगी।''**[6] इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए रामविलास जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है- **''नयी कविता का आन्दोलन प्रगतिशील साहित्य के विरोध में चलाया गया था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है। व्यक्तिमूल्य का नारा लगाकर इसने जानवादी आन्दोलनों का विरोध किया पर दस साल से भी कम समय में यह नयी कविता की धारा मूल्यहीनता के रेगिस्तान में खो गयी।''**[7] उनके अनुसार नयी कविता को प्रगतिशीलता के निकट बताने वाले मुक्तिबोध ने भी दबे स्वर से ही लेकिन यह स्वीकार किया था कि नयी कविता प्रगतिशीलता के तत्वों से उदासीन है। नयी कविता के मूल्यांकन में मुक्तिबोध का यह अन्तर्विरोध द्रष्टव्य है- **''आज के युग के मूलभूत जीवन-तथ्यों के तर्कसंगत तथा अनुभव सिद्ध निष्कर्षों और परिणामों की ओर न जा सकने के कारण, आज का कवि वर्तमान समस्याओं के प्रति भी उदासीन है।''**[8] इस प्रकार सामाजिक समस्याओं के प्रति उदासनीता ही यह सिद्ध

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

करती है कि नये कवि प्रगतिशीलता से दूर थे।

मार्क्सवाद प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य का खुलकर विरोध करने वाली नयी कविता का सम्बन्ध अस्तित्ववाद से था। रामविलास जी लिखते हैं- **''नयी कविता को प्रभावित करने वाले अस्तित्ववाद से मुख्य टक्कर मार्क्सवाद की थी।''**[9] उनका मत है कि अस्तित्ववाद एक सुनिश्चित दार्शनिक व्यवस्था नहीं है और न ही इसकी कोई एक निश्चित जीवन दृष्टि है। सार्त्र की पुस्तक 'अस्तित्ववाद और मानवतावाद' का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने बताया है कि उसकी भूमिका में फिलिप मैरे कहते हैं कि अस्तित्ववाद के अन्तर्गत फ्रांस में एक ओर सार्त्र का कठोर नास्तिकवाद है, दूसरी ओर फ्रांस में ही गाब्रियेल मार्सेल जैसे अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं- **''आस्तिक और नास्तिक जीवन-दृष्टियाँ परस्पर विरोधी हैं। यदि अस्तित्ववाद की जीवन दृष्टि निश्चित होती तो मार्सेल और सार्त्र दोनों अस्तित्ववादी न कहलाते।''**[10] इसके विपरीत मार्क्सवाद के विषय में उनका मत है कि मार्क्सवाद एक दर्शन है तथा उसकी एक निश्चित जीवन दृष्टि है- **''मार्क्सवादी लेखक भी अनेक प्रकार के होते हैं, एक मार्क्सवादी लेखक आस्तिक हो और दूसरा नास्तिक, यह असम्भव है।''**[11] अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद के अन्तर को उन्होंने और स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर लिखा है- **''अस्तित्ववाद पुराने यांत्रिक भौतिकवाद और प्रकृतिवाद के विरुद्ध दर्शन और साहित्य में घटित होने वाली, एक प्रतिक्रिया है, किन्तु वह जिनके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उन दोनों से अधिक एकांगी है। मार्क्सवाद व्यक्ति, समाज स्वेच्छित कार्य और स्वेच्छातीत परिवेश, अहंगत विवेक और वस्तुगत परिस्थिति- इनका द्वन्द्वात्मक संबंध मानता है, एक को काटकर दूसरे की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं करता।''**[12] इस प्रकार काव्य में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दो अलग-अलग सिद्धान्तों को फेटने के प्रयत्न से दोनों के मध्य संघर्ष उत्पन्न होता है, तथा कविता में एक प्रकार के तनाव और घिराव का वातावरण बनता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने नयी कविता को सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों में देखने के साथ ही नये कवियों के कृतित्व का भी उसकी विषयवस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से मूल्यांकन किया है। उनके विचार से इनमें से अधिकांश का हाल सार्त्र के 'नौशिया' या 'उबकाई' शीर्षक उपन्यास के नायक रोकांतै जैसा है- **''ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ांध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि लक्षण इनमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को हर चीज बीमार नजर आती है, इन कवियों को चीजें बीमार ही नहीं मुर्दा भी नजर आती हैं।''**[13] श्रीकान्त वर्मा को लगता है कि सारी पृथ्वी से सड़ांध उठ रही है। कैलाश वाजपेयी हर तरफ पिचकी घुमावदार आतों की गलियाँ देखते हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना स्वयं को मुर्दों के बीच मृत नगर में पाते हैं। दुर्गन्ध और वमन की चर्चा का बाहुल्य देखकर वे व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखते हैं- **''स्वभावतः नयी कविता में विक्षिप्तता और पागलपन की चर्चा विशेष हुई है, और इसमें यह कहना कठिन है, कितना हिस्सा काल्पनिक है, कितना यथार्थ पर आधारित है।''**[1] इसके प्रमाणस्वरूप शर्मा जी ने कैलाश वाजपेयी की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं-

''इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूँ गरदन पर
हाथ में जहर-बुझा कोड़ा लिए हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ...
या दबा दूँ जलती रेत में
ये अपनी आँखें, नाक, कान, जिह्वा
कूद जाऊँ ताजे चून के
हौज में
या कि
फिर क्या करूँ ?''

रामविलास जी जिसे 'विक्षिप्तता' कहते हैं उसे मुक्तिबोध ने 'आत्मग्रस्तता' कहा है। नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' में जो मुख्य रूप से मुक्तिबोध पर केन्द्रित है, काव्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई 'आत्मग्रस्तता' को खतरनाक बताया है- **''उन्हें (मुक्तिबोध) स्पष्ट दिखाई पड़ा कि परवर्ती काव्य में वह दोहरा संघर्ष (सामाजिक संघर्ष और आंतरिक संघर्ष) क्षीण हो रहा है। इसके लिये उन्होंने काव्य में सृजन-प्रक्रिया के विश्लेषण पर बल दिया, उन्हें काव्य के क्षेत्र में बढ़ती हुई 'आत्मग्रस्तता' खतरनाक प्रतीत हुई।''**[15] मुक्तिबोध के अनुसार नये कवियों की इस 'आत्मग्रस्त' मनोवृत्ति जिसे रामविलास शर्मा ने 'विक्षिप्त' मनोवृत्ति कहा है, बढ़ने के फलस्वरूप काव्य में 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि' का निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में गिरिजाकुमार माथुर की काव्य पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं, जिसमें उन्हीं का सिर, उनके धड़ का विक्षिप्त नृत्य देखता है-

''मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज-सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है
देखता है
और रनिंग कमेण्ट्री करता जाता है।''

रामविलास जी ने अपने उद्धरणों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि बार-बार मूल्यों के विघटन की दुहाई देने वाले इन कवियों ने

प्रगतिशील मूल्यों को तो नहीं लेकिन फासिस्ट तानाशाही के लिये परिवेश के अनुकूलन का प्रयास जरूर किया है- **''फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिये वह हवा मुफीद होती है, जिसमें मनुष्य के लिये हत्या और आत्महत्या में ज्यादा फर्क न रहे। नयी कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अन्दाजा होता है कि जनतंत्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई खास तकलीफ न होगी।''**[16] गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार लोकमत, मानवता, जनता सिर्फ चेहरे हैं और वे हिटलर के सुर-में-सुर मिलाते हुए लिखते हैं-

''लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतंक से प्रीति करते हैं।''

शर्मा जी ने नयी कविता की विषयवस्तु के साथ-साथ उसके शिल्प के प्रति भी विरोध व्यक्त किया है। उनका सबसे ज्यादा विरोध नयी कविता की अगुवाई करने वाले उन प्रवक्ताओं से है, जिनके लिये कविता का सरस होना जरूरी नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार रस की स्थिति को स्वीकारने का अर्थ है कवि की बौद्धिक चेतना का अवमूल्यन करना। रामविलास जी की नये कवियों द्वारा गृहीत उपमानों पर भी खीझ कम नहीं है। ये कवि जिन उपमानों का प्रयोग करते हैं वे हैं- कछुए, केकड़े, केंचुए, मकड़ा, बुझे हुए बल्ब आदि। जगदीश चतुर्वेदी लिखते हैं-

''सभी मर्द घिनौने कछुओं से पहने हुए हैं खोल
केंकड़े-सी सिमटी जा रही रतिक्रान्त युवतियाँ
बुझे बल्बों की कतार-सी टिड्डियों की टोली,
नपुंसकों का हुजूम।''

नये कवियों ने उपमानों की तलाश में देश ही नहीं, विदेश को भी खंगाल डाला है। उनकी इस उड़ान पर उन्होंने व्यंग्य करते हुए लिखा है- **''इस भारत देश में जहाँ बहुत सी खराबियाँ हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसने कवियों के लिये काफी उपमान नहीं पैदा किए। इसलिए उपमानों की तलाश में कवि मिश्र, यूनान, फिलिस्तीन कहाँ-कहाँ की यात्रा नहीं करते।''**[17] लक्ष्मीकान्त वर्मा की काव्यपंक्तियाँ हैं-

''और मैं केवल एक अस्तित्वहीन
निर्जीव ममी सा...
पिरामिड की पर्तों में दफनाया हुआ-सा लगता हूँ।''

स्पष्ट है कि रामविलास जी ने नयी कविता का सामाजिक, राजनीतिक सन्दर्भों से ही नहीं, बल्कि उसकी विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से भी गहन मूल्यांकन विश्लेषण कर अपने तर्कसंगत उद्धरणों के माध्यम से अस्तित्ववाद प्रभावित नयी कविता को प्रगतिविरोधी सिद्ध किया है। उनके मतानुसार नयी कविता एक अराजकतावादी काव्यधारा है, जिसके कवियों तथा उनके पक्ष समर्थन में खड़े नयी कविता के प्रवक्ताओं को यह भ्रम है कि वे हिन्दी कविता का स्वस्थ विकास कर रहे हैं। विकास की इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वे स्वयं को तुलसीदास और शेक्सपीयर से भी बढ़कर मानते हैं, लेकिन कभी आत्मबोध के विरल क्षणों में- उन्हें सारा प्रयास व्यर्थ जान पड़ता है और वे कह उठते हैं- **''हम सब बौने हैं।''**[18] डॉ0 रामविलास शर्मा नये कवियों की इस आत्मस्वीकृति से सहमत हैं।

सन्दर्भ सूची

1- डॉ0 रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद : पृ0सं0 285
2- वही, प्रथम संस्करण की भूमिका।
3- वही, पृ0सं0 285
4- वही, पृ0सं0 284
5- वही, पृ0सं0 286
6- मुक्तिबोध रचनावली : सं0 नेमिचन्द्र जैन, पृ0सं0 334
7- डॉ0 रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद : दूसरा संस्करण, भूमिका।
8- गजानन माधव मुक्तिबोध, नयी कविता का आत्मसंघर्ष : पृ0सं0 35
9- डॉ0 रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद : दूसरा संस्करण, भूमिका।
10- वही, पृ0सं0 195
11- वही, पृ0सं0 195
12- वही, पृ0सं0 107
13- वही, पृ0सं0 115
14- वही, पृ0सं0 116
15- डॉ0 नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान : पृ0सं0 92
16- डॉ0 रामविलास शर्मा, नयी कविता और अस्तित्ववाद : पृ0सं0 120
17- वही, पृ0सं0 127
18- वही, पृ0सं0 119

●

शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों में चित्रित काशी

पीयूष कुमार द्विवेदी एवं प्रो0 वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी***

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह का जन्म 19 अगस्त 1928 को बनारस के जलालपुर गांव मे एक जमींदार परिवार में हुआ था। श्री सिंह की प्रारम्भिक शिक्षा (इण्टरमीडिएट) उदय प्रताप कॉलेज में हुआ। शिवप्रसाद सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1951 में बी0ए0 तथा 1953 में एम0ए0 करने के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी के दिशा निर्देशन में 1957 में पी0एच0डी0 किया। डॉ0 शिवप्रसाद सिंह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे 1957 में प्रवक्ता नियुक्त हुए, बाद में वहीं प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष भी रहे। शिवप्रसाद सिंह 31 अगस्त 1988 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त हो गए। तत्पश्चात् भारत सरकार के नयी शिक्षा नीति के अन्तर्गत यू0जी0सी0 ने 1986 में उन्हें ''हिन्दी पाठ्यक्रम विकास केन्द्र'' का समन्वयक नियुक्त किया था। श्री सिंह का निधन 28 सितम्बर 2008 को हुआ।

कृतियाँ

उपन्यास – अलग-अलग वैतरणी, गली आगे मुड़ती है, शैलूष, मंजूशिमा, औरत, नीला चॉद, वैश्वानर, कोहरे में युद्ध, दिल्ली दूर है।

कहानी – अंधकूप (सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 1), एक यात्रा सतह के नीचे (भाग 2), अमृता (भाग 3)।

निबन्ध – मानसी गंगा, किस-किस को नमन करूँ (सम्पूर्ण निबन्धों के दो खण्ड)।

आलोचना – उत्तर योगी (महर्षि श्री अरविन्द की जीवनी), कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, विद्यापति, आधुनिक परिवेश और नवलेखन, आधुनिक परिवेश और अस्तित्त्ववाद।

पुरस्कार :

हिन्दी के महान साहित्य पुरोधा डॉ0 शिवप्रसाद सिंह को अनेक पुरस्कार मिले जो निम्नलिखित है-

1) साहित्य अकादमी सम्मान 1991, 2) शारदा सम्मान 1992, 3) व्यास सम्मान 1993, 4) लोहिया विशिष्ट सम्मान, 5) केडिया सम्मान समेत अनेक पुरस्कार मिले।

शिक्षा जगत् के जाने-माने हस्ताक्षर शिवप्रसाद सिंह का साहित्य के दुनिया में ऊँचा स्थान है। प्राचीन और आधुनिक दोनों ही समय के साहित्य से अपने गुरु पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह समान रूप से जुड़े शिवप्रसाद जी ''नयी कहानी'' आन्दोलन के आरम्भकर्ताओं में से हैं। कुछ लोगों ने उनकी ''दादी माँ'' कहानी को पहली ''नयी कहानी'' माना है। उपन्यासकार शिवप्रसाद सिंह ने साहित्य के हर एक विधा पर लेखनी चलाई है। उनके द्वारा लिखित काशी पर आधारित उपन्यासों की वृहतत्रयी है, **गली आगे मुड़ती है, नीला चाँद, वैश्वानर**।

शिवप्रसाद सिंह जी ने गली आगे मुड़ती है में युवा आक्रोश छात्र आन्दोलन, विश्वविद्यालय के अध्यापकों की राजनीति, समाज-विरोधी तत्त्वों और प्रति क्रियावादी शक्तियों का छात्र आन्दोलन को गलत दिशा में मोड़ने की कोशिश, रामानन्द तिवारी जैसे आदर्शवादी छात्रों का संघर्ष और अन्त में टूटकर काशी छोड़ने का निश्चय, यह सब कुछ पूरे विश्वास और विश्वसनीयता के साथ दिखाया गया है। लेखक ने पूरी कथा का केन्द्र काशी नगरी को बनाया है। उपन्यास के अन्त में युवा आक्रोश को दूर करने का कोई निदान लेखक ने नहीं दिया है। 'गली आगे मुड़ती है' से यह संकेत अवश्य मिलता है कि अभी सारे रास्ते बन्द नहीं हुए हैं और युवकों को कोई न कोई दिशा अवश्य मिलेगी।[1] 'गली आगे मुड़ती है' लेखक के निजी जीवन का मोड़ था। श्री सिंह जी ने 1974 तक ग्राम कथा और 'वैतरणी' जैसे विख्यात उपन्यासों के लेखक के रूप में अपना एक अलग स्थान बना चुके थे। वे पुराने परिवेश को कभी दुहराते नहीं। इसलिए 'गली' में वे काशी जैसे विरले नगर की अनेकानेक छवियों को जो काली हैं, धूसरित हैं, उकेरना चाहते थे; पर इसी के बीच एक ऐसी भी काशी है, जिसे गालिब ने कभी 'अध्यात्म का चिराग' कहा था, जो इस डबरे भर परिवेश में निरन्तर प्रतिच्छायित होता रहता है। यही वह मोड़ था, जिसने लेखक को लारेंस ड्यूरल के आलेक्जांड्रिया क्वार्टरेट की तरह काशी त्रयी लिखने की चुनौती दी। लारेंस तो इतिहास के दस्तावेजों और खण्डहरों में भटककर विस्मृत हो गया, किन्तु काशी का मध्य कालीन इतिहास ''नीलाचांद'' (काशी-2) में ऐसा निखरा कि इसे विद्वानों ने एक स्वर में अभूतपूर्व, नितांत अनुछुए विषयों से अनुप्रणित बताकर भूरि-भूरि प्रशंसा की। शिवप्रसाद सिंह का कहना है कि ''वैतरणी'' में संबोध्य राष्ट्र कृषक और कृषक पुत्र थे। 'गली' में संबोध्य सम्पूर्ण राष्ट्र का युवा वर्ग है। युवा वर्ग के क्रोध और क्षोभ का विस्फोट 'गली' में निरन्तर गूंजता रहता है।

नीला चांद नीलाचांद, नीलाचांद, ये ही है इधर बीच के सुप्रसिद्ध तीन उपन्यास। ऐसा ही कहा था उषा किरण खान ने।

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'नीला चांद' कालजयी कथाकार शिवप्रसाद सिंह का यशस्वी उपन्यास है- जिसे अनेक पुरस्कार मिले- 1991 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1992 में शारदा सम्मान, और अब 1993 में व्यास सम्मान। नीलाचांद को प्राप्त 'व्यास सम्मान' की प्रशस्ति में ठीक ही कहा गया है कि शिवप्रसाद सिंह का अनुकरण नहीं किया जा सकता है। वे एक साथ बेबाक ढंग से सुरूप और सौन्दर्य को, वीभत्स और विरूप को, भयानक और चमत्कारिक को साकार और जीवन्त करने की कला में दक्ष है। वे इतिहास के स्रोतों से लेकर पुरातात्विक उत्खनन से सीधा सम्पर्क रखते हैं शिलालेखों को जांचकर अपनी सामग्री ग्रहण करते है। 'नीलाचांद' मध्ययुगीन काशी का विस्तृत फलक है। इसमें 1060 ई0 की काशी को उसके पूरे सांस्कृतिक सन्दर्भ में मूर्त किया गया है। इस समय काशी पर दो राजवंशों का शासन था। व्यावहारिक रूप में काशी का शासन कलुचरी राजा कर्णदेव के हाथ में था। किन्तु एक आपसी अनुबंध के तहत गाहड़वाल नरेश चन्द्र देव भी काशी के राजा माने जाते थे। कर्णदेव ने चन्देल राजा देव वर्मा को हराकर उसका वध कर दिया था। देव वर्मा का छोटा भाई कीर्ति वर्मा गाहड़वाल नरेश चन्द्रदेव के पौत्र गोविन्द चन्द्र (गोविन्द सिंह) को अपने संरक्षण में लेकर जनशक्ति को संगठित करता है और एक सच्चे लोकनायक के रूप में न केवल जनता को अनेक प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति दिलाता है, वरन् कर्ण देव को पराजित कर अपनी वंश मर्यादा की पुनर्प्रतिष्ठा भी करता है। लेखक ने कीर्तिवर्मा को एक आदर्श एवं प्रगतिशील सामन्त शासक के रूप प्रस्तुत किया है।'' इतिहास को मार्मिक एवं जीवन्त कथा के रूप में प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने रम्य कल्पना का सार्थक और सोद्देश्य प्रयोग किया है। कीर्ति वर्मा का साथ देने वाले गोड़, भील आदिवासी और नीच जातियों के अनेक पात्र कल्पना की सृष्टि है। 'गोमती; 'शीलभद्रा', 'सुनन्दा', 'वसन्ती', 'दक्षिणा' जैसे नारी पात्र भी काल्पनिक है, जो अपनी उपस्थिति से कथा को न केवल रागदीप्त करते है; वरन् उसे सार्थक परिणति तक ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। तत्कालीन धार्मिक मतों बौद्ध-ब्रजयानियों, कापालिक तांत्रिकों, नाथ योगियों, शैवों और वैष्णवों की जीवन-चर्चा का सजीव अंकन करके लेखक ने पूरे युग की सांस्कृतिक मनोभूमि का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। सब मिलाकर 'नीला चांद' निश्चित रूप से एक महत्वाकांक्षी रचना है।[2]

''वैश्वानर काशी को केन्द्र में रखकर भारतीय संस्कृति के धन और ऋण दोनों ही पक्षों को प्रत्यक्ष किया गया है। उपन्यास विराट् वैश्वानर जो धु लोक का सूर्य (शिर), पृथ्वी की नाभि (जनन-केन्द्र) द्यावा पृथ्वी और रोदसी (अन्तरिक्ष) का स्वामी है, जिसे देवगण विश्वनेता कहते है, जिसने भारतीय जाति (आर्यों) को सदैव प्रकाश का मार्ग दिखाया है- को समर्पित है। यह एक महत्त्वाकांक्षी रचना है। इसमें प्रतर्दन (काशीराज), मदालसा, अलर्क, धन्वन्तरि, परशुराम, शौनक, अंगिरस आदि पात्रों के माध्यम से पूरी वैदिक संस्कृति को व्याख्यायित किया गया है। लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्यों और अनार्यों दोनों का योगदान है। यह एक उदार और विश्वचेता संस्कृति है। यह आज भी विश्व का मार्ग दर्शन कर सकती है। लेखक को कहीं न कहीं यह गर्व भी है कि, काशी इस उद्दात संस्कृति का केन्द्र रहा है।''[3]

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह की दृष्टि में काशी की सामाजिक चेतना :

सन् 1973 में प्रकाशित उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के काशी त्रयी सीरीज का प्रथम उपन्यास है। कथाकार ने अपने कर्मक्षेत्र काशी को उपन्यास का आधार बनाया है। डॉ0 शिवप्रसाद जी पर काशी की गहरी छाप पड़ी है क्योंकि वे यही पर किशोर से युवा और युवा से जीवन पर्यन्त रहे। काशी को गलियों का नगर कहा जाता है। भवनों की दो पंक्तियों के बीच से आने-जाने के निमित्त रिक्त स्थान को 'गली' की संज्ञा दी जाती है। इस परिभाषा के अनुसार जहाँ कहीं भी भवन पाए जाएंगे वहाँ गलियाँ होंगी। गलियों का सम्बन्ध गाँव तथा शहर दोनों से होता है लेकिन स्थितियों के कारण नगर की गलियों का महत्व कुछ और ही होता है। काशी की उन गलियों का महत्व अधिक है जो गंगा किनारे स्थित है। इन गलियों में अनेक सम्प्रदाय, धार्मिक स्थल, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएं, राजनीतिक व्यवसायिक केन्द्र, आमोद-प्रमोद के स्थान आदि हैं। इसी कारण वर्तमान काशी पर आधृत उपन्यास का नाम डॉ0 श्री सिंह ने 'गली आगे मुड़ती है' रखा। 'गली' का समाज युवा आक्रोश के बीज को युवाओं में पनपने का अवसर देता है। इस समाज ने किसी भी युवा को अछूता नहीं छोड़ा। उपन्यास के प्रारम्भ में आयोजित 'नुक्कड़ सभा' (भूमि) में उपन्यासकार ने इस बात की स्पष्ट घोषणा भी की है कि 'युवा आक्रोश पूरे समाज में फैली वस्तु है और उसको ठीक से समझने के अभाव में न तो उसका सही निदान हो पा रहा है और न उसे सही दिशा देने की कोई सार्थक कोशिश।..... आप पूछेंगे कि क्या इस उपन्यास में ऐसी कोई कोशिश है? उत्तर है जी नहीं। मुझे इस तरह का कोई मुगालता नहीं है कि जिस समस्या से पुरानी पीढ़ी के बौद्धिक वर्ग बुरी तरह टकरा रहे हैं उसके समाधान का मैंने रास्ता पा लिया।''[4] काशी में अनेक समाज के लोगों का निवास है। उनकी अपनी अपनी समस्याएं और समाजिक परिस्थितियाँ है। काशी के समाज में केवल बनारसी ही नहीं वरन् देश के विभिन्न भागों से आकर रहने वाले लोग भी इस शहर के अंग बन गए है। इन लोगों का अपना समाज है, अपनी संस्कृति है, अपने रीति-रिवाज हैं, अपनी परम्पराएं हैं। लेखक ने कुछ खास चरित्रों के माध्यम से बनारस के विभिन्न वर्गों और उनके सामाजिक स्थिती का कुशलता पूर्वक अंकन किया है। वैसे तो 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास में चित्रित समाज अनेक वर्गों के पात्रों से भरा है परन्तु मुख्य रूप से युवा वर्ग, शिक्षित वर्ग, हरिजन समाज और व्यापारी वर्ग को विशेष स्थान दिया गया है। 'गली आगे मुड़ती है' का नायक रामानन्द तिवारी है। उपन्यासकार जिस युवाशक्ति और युवामानसिकता का प्रतिनिधित्व रामानन्द से कराना चाहतें है वह अपने माता-पिता के

असफल दाम्पत्य जीवन से भी आक्रोशित रहता है उसके पिता के अन्य स्त्री से सम्बन्ध होने के कारण रामानन्द अपनी माँ और बहन को काशी ले आया है। पिता के प्रति नाराजगी भरे शब्द देखने योग्य है- ''मैं अपने बाप को दिखा देना चाहता हूँ कि कुत्ते की दुम में क्या शक्ति होती है। हम भूखों नहीं मरेंगे, उसके आसरे नहीं जियेंगे। हम किसी की कृपा नहीं चाहते।[5] रामानन्द की सामाजिक स्थिति शून्य के बराबर प्रतीत होती है। दलित लड़की 'रज्जो' के साथ बलात्कार की घटना होने पर आतताइयों से बदला लेने का आश्वासन रामानन्द ने दिया। लेकिन कुछ कर नहीं पाया। अपनी बहन के जन्मदिन पर सहेलियों द्वारा दुर्व्यसनों का प्रयोग छिपकर देखा लेकिन विरोध न कर सका। वह इस बात से भली-भाँति परिचित है कि समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और दुर्व्यवस्था में परिवर्तन लाने में वह असमर्थ है। ''मैं जानता हूँ कि मैं निहायत कायर हूँ। सिंह बनने की क्षमता मेरे में नहीं है। मैं न्याय का पक्ष लेकर अन्यायी का विरोध नहीं कर पाता। मासूम पर हुए अत्याचार को देखकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए निकल जाता हूँ। मेरे आँख के सामने निहायत भद्दे और कुकृत्य होते रहते हैं पर मैं गर्जना करना तो दूर दुम दबाकर खिसक जाता हूँ।''[6]

'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास का अधिकांश युवा पात्र भ्रष्ट-दुराचारी, चरित्रहीन, विलासी और गुण्डा दिखाया गया है। स्वयं उपन्यास का नायक रामानन्द भी इससे अछूता नहीं है। यू0जी0सी0 फेलोशिप से वंचित होने पर ट्यूशन पढ़ाने का निर्णय बुरा नहीं था लेकिन जिसकी मदद से अच्छा ट्यूशन मिला, जिसके निर्देशन में शोध कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसके मन में रामानन्द के प्रति अपार स्नेह था, उसकी बहन के साथ प्रेम सम्बन्ध (प्रेम-प्रेमिका सरीखा) स्थापित कर लिया। इतना ही नहीं जिसको ट्यूशन पढ़ाता था उसके साथ भी वहीं सम्बन्ध था। दो-दो लड़कियों के साथ प्रेम सम्बन्ध नायकत्व पर प्रश्न चिह्न लगा देता है।

प्रतिनिधि पात्रों में जमनादास की सामाजिक स्थिति भी अलग है। वह मात्र इसलिए साधु बन गया कि उसके पिता को लगा कि उनकी जवान और नयी पत्नी के साथ जमना का अवैध सम्बन्ध है। उपन्यास के सभी पात्रों का क्रिया-कलाप और उसके विचार लेखक की सोच से ही संचालित होते है। माता-पुत्र का सम्बन्ध इस तरह बिगड़ सकता है, ऐसा विचार कलयुगी समाज की देन है। अपनी मानसिक पीड़ा से उबरने के लिए जमना के द्वारा अपना घर छोड़ देने पर वासना की भूखी साधु महिला से उसकी भेंट हो जाती है। परिणाम स्वरूप वह आत्महत्या का प्रयास भी करता है। रामानन्द की बहन आरती घर से भाग कर विवाह कर लेती है। इस विद्रोही युवा वर्ग के प्रति लेखक की नाराजगी इस वर्ग के मूल्यांकन के रूप में जयंती के इन शब्दों के रूप में प्रकट हुआ है ''सारा युवा आक्रोश के नाम पर शराब और सेक्स बस ये ही दो लक्ष्य रह गए है। कोई कवि बनने चला तो बुभुक्षित पीढ़ी के नाम पर सेक्स का शिकार हुआ। चित्रकार बनने चला तो अश्लील, नंगे और भद्दे चित्र बनाने लगा। सर्वत्र एक ही मुद्रा है; जिसके बीच में अंकित है एक लड़की जो खुद अपने पारिवारिक दबाव के नीचे पिस रही है।''[7] इन युवाओं को राह दिखाने वाली पीढ़ी भी कुछ कम नहीं है। जमनादास का पिता अपनी पत्नी को बुरी तरह मारता पीटता था। रामानन्द के पिता ने दूसरी स्त्री के चक्कर में पड़कर अपनी पत्नी और पुत्र-पुत्री को छोड़ दिया। मठ का महंत रामकीरत दास कहार महिला को अवैध रूप से रखता है।

काशी की सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत उपन्यास के खल पात्र बक्कड़ गुरू यानी वक्रेश्वर प्रसाद नारायण का उल्लेख करना आवश्यक है। यह होशियार एवं खतरनाक अपराधी है। होटल फिलाडेल्फिया इसके कुकृत्यों का खास अड्डा है इस अड्डे पर स्मगलिंग करने वालो का भी जमावड़ा लगता है। वह रामानन्द को भी पांच सौ रूपये की नौकरी का लालच देकर गैंग में शामिल करवाना चाहता है। इस होटल में वेश्यावृत्ति भी खूब चलती है। 30, 40, 50, की दर पर लड़कियां उपलब्ध है। बक्कड़ रामानन्द से कहता है- तीस, चालिस, पचास ये तीन दरें है हर लड़की के लिए निश्चित रकम अदा करो और उसके साथ मौज करो।[8] इस प्रकार गली आगे मुड़ती है के पात्रों के माध्यम से समाज में उनकी स्थिति का आकलन डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने किया।

काशी त्रयी का प्रथम उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' के लगभग 14 वर्ष पश्चात् 'नीला चांद' 1988 में प्रकाशित हुआ। 'नीला चांद' में रचनाकार ने अतीत की ओर उन्मुख होकर मध्ययुगीन काशी की प्रमाणिक प्रस्तुति दिया है। यह इतिहासाश्रित उपन्यास है। 'नीला चांद' में डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने प्रमुख रूप से पुरुषों एवं नारियों के नाम तो इतिहास से लिए हैं लेकिन पात्रों के आसपास का वातावरण अपनी कल्पना के आधार पर बना है।

'नीला चांद' में काशी नरेश कलचुरी कर्ण के अमानुषिक कृत्यों उसके जनपीड़क आततायी रूप के विरूद्ध जैजाक मुक्ति के राजा देववर्मा के भाई कीर्तिवर्मा का ऐतिहासिक सत्ता संघर्ष वस्तुतः व्यापक जनमुक्ति का प्रतीक बनकर आता है। जहाँ मनुष्यता विरोधी शक्तियाँ नष्ट होती है और मानव मूल्यों का विजय होता है। उपन्यास के सामाजिक परिस्थिति को व्यक्त करने वाले प्रतिनिधि पात्रों ने कीर्तिवर्मा के साथ उनके ही पक्ष के गोमती, शीलभद्रा माँ, सूरज गोड़, भरत डोम आदि है।

'नीला चांद' का नायक कीर्ति वर्मा ने मध्यकालीन परम्परा का निर्वाह किया है। सम्पूर्ण उपन्यास कीर्तिवर्मा के शौर्य से भरा है। वह एक परिपूर्ण योद्धा है। चंदेलों की परम्परा के अनुसार उसको प्रजा से बेहद प्रेम है। उसके लिए प्रजा सर्वोपरी है। गोविन्द से कीर्ति वर्मा का कथन है- 'राजा का आकर्षण भूमि से नहीं प्रजा से जुड़ना होता है। तुम्हारी प्रजा अगर तुम्हारे साथ नहीं है तो तुम्हारी रक्षा कोई नहीं कर सकता।[9] कीर्ति सिंह के लिए उसकी प्रजा उसके

परिवार की तरह है। सामान्यजन के साथ उसका अपनत्व का सम्बन्ध है। आदिवासी सूरज गोड़ कीर्ति वर्मा के लिए काका है, उसने बब्बरनट को चाचा और लोचन को वत्स कहा है। निम्न कुशलता से कीर्ति वर्मा ने प्रमाणित कर दिया है कि गोंड़ नट, काछी, भर आदि कबीलों से जैजाक मुक्ति का राजा अलग नहीं है। इसीलिए ऐसे राजा के लिए प्रजा मर मिटने को तैयार रहती है। कीर्ति सिंह को जनसाधारण का प्यार और विश्वास तो प्राप्त है ही, सिद्ध पुरूषों का प्रेम भी प्राप्त है।

'नीला चॉद' उपन्यास में वर्णित समाज में कीर्ति वर्मा के बाद सर्वाधिक स्मरणीय चरित्र माँ शीलभद्रा का ही उभर कर आया है। मां शीलभद्रा ने पत्नी प्रेमिका, साधिका तथा समाज सेविका का प्रतिनिधित्व किया है। अपने पति के अमानवीय अत्याचारों से त्रस्त होकर शील भद्रा घर त्यागकर सन्यासिनी बनकर अष्टभूजा की पहाड़ी में स्थित एक प्रकृतिक गुफा में अपना जीवन निर्वाह करती है। शीलभद्रा का व्यक्तित्व इंसानियत से ओतप्रोत है। उनके सामने जातियता कोई महत्व नहीं है। उनका स्वस्थ चिंतन और व्यवहार समाज सुधार के दृष्टिकोण से सर्वाधिक कारगर है। उन्होंने समाज में डोम की मर्यादा को स्थापित करने तथा एक सम्मानित व्यक्ति के रूप में मान्यता दिलाने का अथक व सफल प्रयास किया है। उन्हें अपने हक के लिए लड़ने की चेतना जगाने तथा उनके साथ सदैव जुड़े रहकर सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है। वह अपनी पूजा-अर्चना के लिए भरत डोम से फूल मांगती है। स्वयं भरत भी हैरान है ''पूजा के लिए डोम से फूल कौन तोड़वाता है भला? यह सब माँ की लीला है।''[10] वह केवट रामचन्द्र को अपना भाई मानती रही और उनकी पत्नी माँ के लिए भातृजाया रही। गोमती के शब्द उदाहराणार्थ प्रस्तुत है- ''माँ केवल मठाधीशों या मंडेलेश्वरों की माँ नहीं थी। सच तो इसके विपरीत था। वे केवटों, डोमों, चाण्डालों ग्वालों, भिक्षुओं, बीमारों, अपाहिजों को ज्यादा प्यार देती है।''[11] समाज में निचले तबके के व्यक्तियों को उनका अधिकार दिलाने उनकी स्थिति में बदलाव करने जैसे सराहनीय कार्य करने से माँ का चरित्र बहुत आत्मीय, व्यावहारिक तथा अनुकरणीय बन पड़ा है।

काशी के तत्कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने समाज के कई अंगो पर विशेष ध्यान दिया है। समाज द्वारा तिरस्कृत दो वर्ग वेश्या और अस्पृश्य की चर्चा हुई है। काशी की वेश्याओं के बारे में लेखक ने लिखा है कि ''काशी में वैशिक वीथिका के पनपने का मुख्य कारण था अपनी वस्तुओं के व्यापार द्वारा विदेश से प्रचुर धन की प्राप्ति। भारत में गणिका को छठीं शताब्दी तक हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। यहां तक की उनके देवदासी रूप की अभिवन्दना की गयी है। वेश्याएं तो खानों द्वारा दुत्कारित तब हुई जब साधारण से साधारण भू स्वामियों ने अपने को सामन्त, मंडलेश्वर आदि-आदि उपाधियों से अलंकृत करके अपने बड़प्पन की घोषणा आरम्भ कर दी। किन्तु इनमें से अधिकांश संस्कार से विरहित बर्बर पशु से ऊपर नहीं उठ सके वे कला नहीं केवल वासना के भक्त है।''[12]

'नीला चांद उपन्यास में तद्युगीन अश्पृश्य वर्ग के सामाजिक परिस्थिति का मार्मिक उल्लेख हुआ है। समाज का यह वर्ग इस काल में भी सवर्णों का दास बनकर जीता था। प्रत्येक उपन्यास की भाँति इस उपन्यास में भी लेखक की सहानुभूति इस वर्ग के प्रति विशेष रही है। इसके समर्थन में लेखक ने उन पैराणिक ग्रन्थों पर भी व्यंग्य किया है जो अश्पृश्यता का समर्थन करते है। पूरे विश्व में तिरस्कार और घृणा को वहन करने वाली ऐसी जाति नहीं मिलेगी, जैसी भारत में चाण्डाल, खपल अथवा डोम नाम से पुकारी जाने वाली जाति है। इनकी छाया पड़ जाने से ही धर्म नष्ट हो जाता है। संभाषण से ही धोर पाप होता है। अपमान, तिरस्कार, घृणा आदि से अलंकृत यह जाति धिक्कार ओर जुगुप्सा का पर्याय बन गयी है।[13]

उपन्यासकार डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने आलोच्य उपन्यास में नट जनजाति को भी शैलूष की संज्ञा देकर उनका विस्तृत वर्णन किया है। उपन्यास में इनकी दो श्रेणियों का उल्लेख हुआ है। पहला भैसवार नट, जिनकी आजीविका का साधन भैंस थी दूसरा भेरिया नट। भेरिया नट निम्न कोटि के माने जाते थे इनकी लड़कियाँ सुन्दर रूप रंग की होती थी। प्रायः सेठ साहूकारों के यहां से चुरायी गयी लड़कियाँ अपनी आजीविका के लिए देह संतुलन के अद्भुत कारना में, बाजीगरी के साथ वेश्यावृत्ति भी करती थीं। प्राणायाम के योगी के समक्ष एक नट का कथन कि ''आप सब कुछ जानते हुए भी कोठरी में बंद होकर 'धौति' (आसन) करते हैं, ताकि आप आवश्यकता से अधिक भोजन के लिए पेट को स्वच्छ रखों ओर हम इसलिए करते है कि परिवार के साथ दो रूखी सूखी रोटी मिले।[14] जैसे वाक्य निर्धनता से उपजी पीड़ा का बोध कराता है। इन सबके अलावा नटों की लड़कियाँ और स्त्रीयों गुरियाँ की माला, लाख, राल, गोंद, गुग्गल, शहर, सॉपों के चमड़े आदि एकत्र करके बड़े घरों के अंतःपुर में जाकर विक्रय करती थी। ये स्त्रीयां गोदना गोदने में भी निपुण थीं।

इस प्रकार 'नीला चॉद' उपन्यास के माध्यम से लेखक ने तत्कालीन समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था, समानता के भाव ओर सह अस्तित्व का बोध कराया है साथ ही समाज को जिस सर्जनात्मकता के साथ संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया है वह अद्भुत है।

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के काशी त्रयी की तीसरी रचना प्राचीन काशी पर आधारित है जो 'वैश्वानर' के रूप में सामने आयी। इसमें ईसा पूर्व 1750 के आसपास के समय की काशी को दर्शाया गया है। ''वैश्वानर में वर्णित समाज में 'धन्वन्तरी' एक ऐसा चरित्र है। जिसने तत्कालीन सामाजिक स्थिति में विशेष स्थान बनाया है। जिस समय काशी तक्मा जैसे महामारी के चपेट में था। लोग बेबस होकर मृत्यु का वरण कर रहे थे। उनको धन्वन्तरि ने उबारा। उनका जीवन दुखियों के लिए अर्पित था। तरह तरह के रोगियों को उनसे जीवन

मिला था। इसलिए लोग उन्हें विष्णु कलांश मानते थे। आधुनिक दुनिया जहां विश्व मानवता का सपना देख रही थी वहाँ हजारों साल पहले धन्वन्तरि ने उसे प्रत्यक्षकर दिखाया था।''[15]

तत्कालीन समाज में विशेष स्थिति रखने वाला पात्र युवराज प्रतर्दन भी है। प्रतर्दन उपन्यास का नायक है। काशी वासियों को शत्रुओं से मुक्त कराने में प्रतर्दन ने अपने प्राण की परवाह नहीं की। प्रतर्दन के शब्दों में- ''काशी की जनता के लिए मैं अपने प्राण भी दूंगा। यह मैं भगवान के सामने अग्नि को साक्षी मानकर प्रतिज्ञा करता हूँ।''[16] समाज में एक युवराज की स्थिति को जीने वाला व्यक्ति अपने आपको काशी की सीमा का प्रहरी मानता है। युद्ध से घबराना उसके स्वभाव में नहीं है। प्रजा की रक्षा हेतु युद्ध को युद्ध नहीं अपना कर्त्तव्य मानता है। इसमें उसे कोई संकट नजर नहीं आता। प्रतर्दन की अइय्या कहती है- ''तुम एक सहस्त्र अश्वारोहियों के साथ अदृष्ट पूर्व गंगा के विस्तार और गहराई से अन्जान रात्रि के समय अरण्य में छिपे भाद्रश्रेव्य जैसे चतुर शृगाल पर आक्रमण करने जा रहे हो ओर कहते हो कि कोई संकट नहीं है।''[17] युद्ध के समय भी प्रतर्दन इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि गलती से भी कोई निर्दोष आहत न हो। वह चक्रपालित से कहता है- ''एक भी निरपराध व्यक्ति न घायल होना चाहिए, न ही अपमानित। हमारी लड़ाई काशी के प्रजाजन से नहीं है। तुम निरन्तर घोषणा करते चलो की राजद्रोही दस्युओं को अपने घरों से निकालकर कोट्टपाल के सामने प्रस्तुत करने वालों को कोई भी दण्ड नहीं दिया जाएगा।''[18] प्रजा के प्रति इतना समर्पण भाव होने के कारण ही ''यह नगर उन्हें आशुतोष विश्वेश्वर का स्वरूप मानता है, वे जिधर से निकलते है देखने वाले कर बद्ध खड़े होकर जय बोल पड़ते है। ऐसी जनास्थाएँ सहसा नहीं बनती।''[19]

सारांशतः यह स्पष्ट है कि डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने ईसापूर्व 1750 से लेकर बीसवीं शती तक की काशी के सामाजिक स्थिति को समझने के लिए विशेष काल खण्ड को चुना। साथ ही उन्होंने तत्कालीन समाज की जीवनधारा को प्रभावित करने वाली समस्त प्रवृत्तियों, रूढ़ियों, विचार धाराओं के फलस्वरूप उपन्यासों में पात्रों की सर्जना, इतिहास से उनका चुनाव और घटनाओं का संयोजन एवं समस्याओं का विश्लेषण किया।

डॉ0 शिवप्रसाद की दृष्टि में काशी की सांस्कृतिक चेतना

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के सांस्कृतिक उपन्यासों की श्रेणी में काशी त्रयी का प्रथम उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है।' यह उपन्यास वर्तमान काशी की संस्कृति को दर्शाने वाला अनूठा उपन्यास है। अन्य भारतीय नगरों की भाँति बनारस की संस्कृति का आधार भी धार्मिक है। उपन्यास का श्री गणेश करते हुए डॉ0 सिंह ने लिखा है-''बनारस जैसे नगर की संस्कृति के प्रति पूरा न्याय करने के लिए उसके अतीत और वर्तमान के सही साक्षात्कार के लिए सैकड़ों समाजशास्त्रीय शोध प्रबन्ध और दर्जनों उपन्यासों की अब भी जरूरत है। तभी गंगा की कमर पर रखे संस्कृति के इस लबालब भरे कलश को सही ढंग से जाना जा सकता है।''[20] उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर ही काशी की संस्कृति की झलक दिखाई देती है- ''बोलों, गंगा मइया की जै, बाबा विश्वनाथा की जै? गंगा को एक सिक्का भेंट कर दिया। वह काहे के लिए? ओर इतनी खुशी क्यों? गंगा शायद रिजर्व बैंक है, कभी लौटाती होंगी अमानत।''[21] ''काशी में गंगा धनुषाकार आकृति में बहती है। इसे देखकर लगता है जैसे कोई तपस्वी कुमारी अपनी बलखाती कमर पर संस्कृति का कलश धरे चली जा रही है।''[22] काशी आस्था की नगरी है। डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने काशी की संस्कृति की चित्रण में अत्यन्त बारीक बातों का भी ध्यान दिया है। यहां समस्याओं का निदान पूजन-अर्चन से भी हो जाता है। दूर दूर से लोग यहाँ पुण्य लाभ लेने आते हैं। ''राजेश्वरी प्रसाद जायसवाल रांची के वैश्य कुल के आभूषण थे। कहते है कि उनके दाहिने हाथ में लकवा मार गया। बड़ी दवा दारू कराई पर उंगलियां सीधी नहीं हो पायी। टेढ़ी ऊँगली से घी निकालकर उन्होंने काशी में दीपदान किया'' तुलसी पत्र पर राम-नाम लिखा, आटे की गोलियाँ बनाकर मछलियों को खिलाया और उनकी उँगलियाँ सीधी हो गयी।''[23]

काशी विश्व के प्राचीनतम नगरों में से एक है। भारत की रंग-बिरंगी संस्कृतियों ने इसे संवर्धित किया है। काशी की अपनी भोजपुरी संस्कृति तो है ही यहां बंगाली, गुजराती, मराठी आदि संस्कृतियों ने भी विस्तार पाया है। 'गली आगे मुड़ती हैं उपन्यास में प्रमुख रूप से बंगाली, गुजराती और भोजपुरी संस्कृति का वर्णन हुआ है। काशी में वर्षों से बंगाली समाज का निवास है, अतः काशी की संस्कृति में इनका विशेष प्रभाव है। बंगाली संस्कृति का चित्रण कथाकार ने गांगुली परिवार के माध्यम से किया है। सुबोध भट्टाचार्य, रामानन्द तिवारी के गुरू है। रामानन्द तिवारी की प्रेमिका जयन्ती इसी परिवार की लड़की है। अतः जब भी रामानन्द और जयन्ती का संवाद हुआ है तब बंगाली संस्कृति का अद्भुत सौन्दर्य देखने को मिला है। जयन्ती के हाथ का बना हुआ बैंगुनी पकुड़ी[24] (पकौड़ी) और सूजी का हलवा खाकर सुबोध बांग्लागीत है।

आबार आशिबो फिरे ध्यान सिडिटिर तीरे
इए बांगलाय, हयतो मानुष नय हयतो शंखचिल
शलिखेर वेशे।
हय तो भोरेर काक हय इए कार्तिकेर नवान्नेर देशे।

काशी के दुर्गापूजा पर डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है, जिसने बनारस की दुर्गापुजा देखी है, वह साक्षी देगा कि भाव, ज्योति और नृत्य की जो त्रिवेणी यहाँ बहती हैः वह अन्यत्र कहीं शायद ही दिखे! बंगालियों का दुर्गा उत्सव, हिन्दी भाषियों की राम लीला और गुजरातियों के गरबा का ऐसा सम्मोहक संगम कहीं नहीं मिलेगा।[25] उपन्यास में बंगाली स्त्रियों के परिधानों का भी वर्णन है। खाद्य व्यंजनों का चित्रण हुआ है। रामानन्द बंगाली तहजीब और बंगाली मिठाईयों का प्रशंसक है। गांगुली परिवार के माध्यम से बंगाली परिवारों की विशेषताओं का भी परिचय मिलता है।

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने अपने उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में बंग्ला संस्कृति के साथ साथ गुजराती संस्कृति को भी सन्निहित किया है। किरण के पिता का नाम बल्लभचन्द्र नागर है। वह काशी के बड़े व्यापारी है। बंगाली संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले परिवार का गुजराती संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले परिवार के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है। गरबा गुजरातियों का प्रसिद्ध नृत्य है। 'गरबा' के लिए हो रही तैयारियों का लेखक ने विस्तार से वर्णन किया है। साथ में परिधानों पर भी विशेष प्रकाश डाला है-''तभी मंडप में बाहर गुजराती लड़कियाँ करीब-करीब एक ही ऊँचाई की सभी सिंदूरी साड़ी और उसी की मेल की गहरे बादामी रंग का ब्लाऊज पहने सिर पे गेंडर में गरबी धरे मंडप में प्रविष्ट हुईं। उनके आगे-आगे किरण थी। वह सचमुच केसरिया पहनकर मीरा जैसी लग रही थी। उसका भी वहीं ड्रेस था, सिर्फ अंतर यह था कि उसने गरीबी की जगह अपने शीश पर सहस्त्र छिद्रों वाला कोरेला गरबा उठा रखा था।''[26] गुजराती संस्कृति के खान-पान सम्बन्धी उल्लेख भी उपन्यास में हुए है। मूंग गुजराती भोजन का अविभाज्य अंग है। उससे ढेर सारे पकवान बनते हैं। इमली और गुड़ मिश्रित दाल गुजरातियों की पसंद के व्यंजन है। इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते है कि श्री सिंह ने गुजराती संस्कृति को प्रस्तुत करने में लघु गुजरात की झलक प्रस्तुत की है।

काशी की स्थानीय संस्कृति का चित्रण किसी त्योहार या विशेष आयोजन के द्वारा नहीं बल्कि यहां के मंदिरों, घाटों, गलियों और परिवेश के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। रामलीला, रासलीला से जुड़कर उपन्यास में जमुना दास के घर मनायी गयी कृष्णजन्माष्टमी का प्रसंग यहां की संस्कृति के महत्वपूर्ण प्रसंग हैं। काशी के दीपदान का रमणीय वर्णन लेखक ने किया है। दीपों से भरे घाट ओर उन पर खड़ी अट्टालिकाएँ गंगा के जल में अपनी छवि निहार रही थीं। नीचे-ऊपर दोनों तरफ दीपावली थी। दीपों की पंक्तियाँ नीचे जल में प्रतिबिम्बित होकर दुहरी प्रकाश रेखाएं खींच रही थीं।''[27]

जिस प्रकार से कोई गाइड किसी पर्यटक को क्रमशः भिन्न-भिन्न स्थानों का दर्शन कराता है उसी प्रकार श्री सिंह भी अपने पाठकों को काशी का दर्शन करा रहे हैं। तुलसीघाट पर गोसाई पादुका 'गोमठ गली में मणिकेश्वर', चौखम्भा के बाल गोपाल, लोलार्क कुण्ड, चौंसठी घाट, संकठा मंदिर, मणिकेश्वर मंदिर, कर्मदेश्वर मंदिर आदि अनेक मंदिरों का वर्णन उनकी उत्पत्ति के साथ हुआ है। भाषा की दृष्टि से भी यह उपन्यास सांस्कृतिक है।

बनारस जिस प्रकार अपनी मस्ती के लिए प्रसिद्ध रहा है उसी प्रकार अपनी संस्कृति के लिए भी प्रसिद्ध है। शिवप्रसाद सिंह ने अपने काशी त्रयी में तीन काल खण्डों की संस्कृति का अद्भुत वर्णन किया है। नीला चॉद में वर्णित काल ग्यारहवीं शताब्दी भी मस्ती भरा कला था। यहां बुजुर्गों में भी युवकों जैसी स्फूर्ति और मस्ती दिखाई देती है। उपन्यास में बिरजू जदुवंशी का कथन उदाहराणार्थ प्रस्तुत है 'अरे भईया बहत्तर बरिस के हुए हम, आज तक नहीं जाना कि थकान का होता है।''[28] तत्कालीन समाज में बनारसी मस्ती को रेखांकित करने वाले रज्जुक का कथन है- ''हम लोग काशी का संस्कृति की उपज थे, इसलिए मर्यादित का वह मतलब नहीं लगाते थे जो ठसकदार कहलाता है। न ही यह कि मिथ्या अभिमान का मुखौटा लगाए सबकी उपेक्षा करता हुआ गलत सहीं में अंतर नहीं करता।''[29] इस उपन्यास में अनगिनत स्थान ऐसे हैं जो काशी की संस्कृति को उजागर करते हैं। भारतीय संस्कृति स्त्री को देवी का दर्जा देती रही है और जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता का वास होता है। आज गिरते नैतिक मूल्यों के समय में नारी देवी नहीं, भोग्या के रूप में देखी जा रही है। इस तथ्य को डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने स्पष्ट किया है- ''आज दासी केवल दासी नहीं, वेश्या बना दी गयी, भोग्या हो गयी। यह स्थिति तब पैदा होती है, जब उसका पति दॉव पर रखकर उसे हार जाता है। महाभारत में कृष्णा पांचाली को जब युधिष्ठिर ने धुत पर चढ़ा दिया और हार गये तो विदूर ने बड़े कातर और क्रोध भरे शब्दों में धृतराष्ट्र से कहा था- दासी भावेन कृष्णांच भोक्तुकायाः सुताः तब। दासी भोग्या बन गयी। वह मातृ स्थान से नीचे गिरा दी गयी।''[30]

काशी की संस्कृति भारत की विविध संस्कृतियों का समूह है। भारतीय संस्कृति को पालने में झूलने वाला शिशु समझने वालों के प्रति डॉ0 शिवप्रसाद सिंह की व्यंग्यात्मक टिप्पणी निम्न पंक्तियों में है- ''भारतीय संस्कृति को पालने में झुलाने वालों को ज्ञान नहीं है कि उन्हें किससे जूझना है। वात्याचक्र की तरह जीर्ण-शीर्ण मलबे को उन्मथित करता हुआ ऐसा दुर्दांत शत्रु आ रहा है जो पालने में झूलती हुई आर्य संस्कृति की बच्ची खड्ग की नोंक पर उठा लेगा।''[31]

काशी सात वार में तेरह त्योहार के लिए प्रसिद्ध है। यहां विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय के लोगों के होने के कारण त्योहारों की अधिकता है। अनेक धर्मों के कारण ही यहाँ की संस्कृति रंग-बिरंगी है। यहाँ त्योहारों में सभी धर्मों के लोग शरीक होते है। यहां जो मस्ती होली, दिवाली में होती है। वही मस्ती ईद में भी होती है। क्रिसमस डे पर बनारसियों के आकर्षण का केन्द्र काशी के चर्च होते हैं। यहाँ नागपंचमी पूजा हो, दिवाली हो, महाशिवरात्री हो, होली हो सबके अपने अलग अलग रंग हैं महाशिवरात्री व होली में भांग एवं ठंडई का अलग ही मजा है। 'नीला-चॉद' में सूरज, लोचन, बब्बर आदि अनेक पात्र ऐसे हैं जो काशी की संस्कृति के जीवन्त उदाहरण है। लोकगीत यहां की संस्कृति का प्राण है। सूरज काका पूरी तान के साथ गाते हैं-

''नवां चान उगे, उगे, उगे नवां चान उगे।

सासु ननद देवई गारि नवां चान उगे, नवां चानउगे''[32]

काशी सर्व धर्म समभाव को जीने वाली नगरी है। इस नगर पर आधारित डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के सभी उपन्यासों में धर्मों के प्रति समभाव विद्यमान् है। नीला चांद उपन्यास में अनेक स्थलों पर

इसके उदाहरण उपस्थित हैं। काशी की इस संस्कृतिक का जीवन्त उदाहरण उपन्यास का नायक कीर्ति वर्मा है। जिस प्रकार भगवान श्री राम ने विश्व को रावण के आतंक से मुक्त कराने के लिए बंदर, लीलू व अन्य पशुओं से सहायता ली उसी प्रकार कीर्ति वर्मा भी काशी को लक्ष्मी कर्ण से मुक्त कराने के लिए समाज के उन लोगों से मदद लेते हैं जिन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था। काशी की संस्कृति में ही है कि यहाँ लोग व्यक्ति हित, वंशहित से कहीं आगे बढ़कर सम्पूर्ण विश्वहित की कामना में रत होते हैं। ऋतुध्वज के बारे में वृषध्वज गोमती से कहता है ''बाबा ने अपने जीवन को संकट में डालकर आपके पितामह विद्याधर देव से एक तांत्रिक पूजा करायी थी, जो व्यक्ति के लिए नहीं, वंश के लिए नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में अपनी पुरानी संस्कृति के लिए प्रसिद्ध भारत के मध्य देश में स्थित आटव्य देश के आदिवासियों से लेकर ब्राह्मणों तक अर्थात् नीच से नीच तथा उच्च से उच्च व्यक्ति में जागृत संस्कृति अद्भुत धरोहर की रक्षा के लिए थी। हमारे लिए खजुराहों के मंदिर गर्व की वस्तु हैं। पर उनसे भी अधिक आक्रमण के बीच अपनी गुफाओं में, कन्दराओं में छिपकर कष्टमय जीवन व्यतीत करते रहे पर उन्होंने कभी किसी से समझौता नहीं किया।''[33] ''श्री माँ बंगाली महिला है। उनके मृत शरीर के पास केवल एक धर्म के लोग नहीं थें बल्कि बड़ा विचित्र दृश्य था। एक ओर आचार्य राहुल भद्र अपने शिष्यों के साथ धम्मपद का पाठ कर रहे थे। दूसरी ओर मीनाक्षी भागवत् में तल्लीन थी। झुंड के झुंड शैव योगी शिव महिम्न का पाठ कर रहे थे।''[34]

इस प्रकार डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने अतीत की ओर उन्मुख होकर मध्ययुगीन काशी को प्रमाणिक प्रस्तुति देने में काशी की संस्कृति का विशेष सहारा लिया है। वास्तव में लेखक ने काशी की संस्कृति से प्रभावित होकर ही अतीत को खंगालना प्रारम्भ किया होगा, तभी तो पहले 'गली आगे मुड़ती है' के द्वारा वर्तमान काशी की संस्कृति को देखा। फिर और पीछे जाकर 1060 ई0 की काशी का सांस्कृतिक अध्ययन 'नीला चाँद' के द्वारा किया और जब काशी के और अतीत को देखना हुआ तो पुराणों को खंगाला। उपन्यास के रूप में वही 'वैश्वानर' नाम से प्रकाशित हुआ।

''काशी त्रयी लिखने के पीछे डॉ0 शिवप्रसाद सिंह का प्रमुख उद्देश्य काशी का सांस्कृतिक चित्रण करना था। इस दृष्टि से वैश्वानर भी काशी के सांस्कृतिक दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत हुआ। काशी की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है। 'ऋग्वेद' में काशी नगरी का तथा 'वैश्वानर के नायक प्रतर्दन का उल्लेख मिलता है। काशी में मृत्यु भी उत्सव है क्योंकि यहाँ मरने से मोक्ष मिलता है। अनन्तकाल से इस नगर में लोग उसी मोक्ष प्राप्ति हेतु आते रहते है और मृत्यु पर्यन्त काशी प्रवास करते रहे है। तत्कालिन काशी का सांस्कृतिक वातावरण धार्मिक था। मंदिरों में प्रमुख रूप से शिव के मंदिर थे। जिनमें विश्वेश्वर मंदिर, स्वर्लीन ज्योतिर्लिंग तथा मध्यमेश्वर आदि प्रसिद्ध थे। यज्ञ का सर्वाधिक महत्व था उस काल की संस्कृति को इसी कारण यज्ञ संस्कृति कहा जाता है।''[35] यज्ञ में पशु बलि तथा मनुष्य बलि भी दी जाती थी। 'वैश्वानर' के अनुसार काशी की तत्कालीन संस्कृति में बलि प्रथा को लेकर परस्पर विरोधी मत है। उपन्यास के नायक प्रतर्दन के साथ गोधा जैसी ऋषिका ने भी विरोधा किया है। एक प्रसंग में गोधा ने कहा है- 'आर्य देवरात ने जिस नवयुग के आगमन की घोषणा की है गोधा उसकी सच्चाई में आस्था रखती है। किन्तु युवराज प्रतर्दन के भाषण में एक जीवित स्फुलिंग और था जिसे सम्यक रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया। मैं जाने कितने मासों से इसी सत्य को समझा रही हूँ कि मूक पशु-बलि बन्द हो। देवताओं को जीवबलि लेना ओर देना कदर्थना है।

देवों से कहो कि बलि है निपट नृशंसा
मंत्र और श्रुति से अनुमोदित यज्ञ भाग
से मिलती तुम्हें प्रशंसा (ऋक0 10/134/6)

अगर जीवन बलि को कोई उचित ठहराता है तो उसे युवराज प्रतर्दन के उस कथन से प्रेरणा लेनी चाहिए, चुनौति है वह कथन कि प्रजापति ने सर्वप्रथम अपनी बलि दी।[36] तत्कालीन काशी में जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन में अनेक संस्कार विद्यमान थे। आलोच्य उपन्यास में विवाद और अंत्येष्टि के संस्कारों का विस्तार से वर्णन हुआ है।

'वैश्वानर' में डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने अंत्येष्टि और दशाह के अवसर पर किये जाने वाले संस्कारों का विस्तृत वर्णन किया है। बाबा धन्वन्तरी की मृत्यु होने के पश्चात् लोकाचार का अंग पूरी करने के लिए धौम्य ने कहा, ''इस स्थान पर शव उतारकर उसे सामने के अश्वत्था वृक्ष के नीचे रखा जाता है और मृतक के मुख, नाक, कानों और आँखों में सुवर्ण की छोटी शलाकाएँ रखी जाती हैं। यही गरूण पुराण का प्रेत कल्प बताता है और चूंकि काशी के बसे आर्यों में यह नियम लोकाचार का रूप ले चुका है इसलिए आप भी बिना बाद विवाद के इस संस्कार का निर्वाह करें।''[37] काशी में स्थान का विशेष महत्व है। यह प्रकाश की नगरी है। यहाँ द्वादश आदित्य है। ''जब सूर्य अपनी ध्रुव दक्षिण में राशि सिंह में आते हैं तो लोलार्क में स्थित होते है। सरिता के तीर पर लोलार्क कुण्ड में नहाकार वहाँ एक मास सूर्य तप में बैठना होता है। वैसे ही कन्या में विमलार्क, तुला में कणार्क, वृश्चिक में वृद्धार्क, धनु में गंगार्क, मकर में साम्बार्क, कुम्भ में यमार्क, मीन में मयूर वार्क मेष में अरुणार्क, वृष में वक्रार्क, मिथुन में सुमन्त्व, कर्क में उत्तरार्क की स्थिति ज्योतिष के अनुसार होती रहती है। काक्षी वती उसी समय से कुष्ठ मुक्ति पाने लगी है जब वह साम्बार्क की पूजा कर रही थी। यही आदित्यों की द्वादश राशि का मध्य बिन्दु है।''[38]

सारांशतः इस प्रकार काशी त्रयी के लेखक शिवप्रसाद सिंह ने वैश्वानर में वैदिक कालीन काशी की संस्कृति को प्रस्तुत किया है। गालिब काशी की संस्कृति का वर्णन करते हुए कहते है।

''त आलल्ला बनारस चश्मे बद दूर
बहिश्ते खुर्रमो फिरदौसे मामूर
इबादत खान ए नाकूसियॉ अस्त?
हमाना काव ए हिन्दोस्ताँ अस्त''

हे परमात्मा, बनास को बुरी दृष्टि से दूर रखना क्योंकि यह आनन्दमय स्वर्ग है। यह घण्टा बजाने वालों अर्थात् हिन्दूओं की पूजा का स्थान है। यानी यही हिन्दुस्तान का काबा है।''

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह की दृष्टि में ऐतिहासिक बोध

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित काशी त्रयी के प्रथम उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में ऐतिहासिकता शुन्य है। क्योंकि डॉ0 सिंह 'गली' में आधुनिक काल को लिए है परन्तु काशी त्रयी के शेष बचे दो उपन्यासों, नीलाचॉद और वैश्वानर में ऐतिहासिकता कूट कूट कर भरा हुआ है। 'नीला चॉद' की कथा वस्तु इतिहास पर आधारित है। 'नीला चॉद' की रोशनी में डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने मध्यकालीन काशी का चित्रण किया है, काशी की धड़कनों को अभिव्यक्ति दी है। उपन्यास की भूमिका में ही इस सम्बन्ध में लेखक के विचार द्रष्टव्य है- ''मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रान्ताओं से पहले थी। मुझे तद्नुरूप ऐसे समय को ढूढना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो। जहाँ 'धगद्, धगद्, धगद् ज्वलम्' के भीतर नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग के विशाल स्तम्भ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलुचरी ने देव वर्मा की हत्या की। उस समय की काशी है यह यानी ईसवी 1060 की।''[39] उपन्यास के कथानक में तीन राजपूत शासकों का वर्णन है- चंदेलवंशी शासक देववर्मा का अपदस्थ भाई कीर्ति वर्मा, गाहड़वाल नरेश चन्द्रदेव, और काशी नरेश हैहयवंशी कल्चुरी लक्ष्मीकर्ण। कीर्तिवर्मा चंदेलवंशी सम्राट विद्याधर का पौत्र है। चंदेलों का राज्य जुझौती था। इस वंश का शूर राजा जयशक्ति (जैजाक) के नाम पर ही आज के बुंदेलखण्ड को उस समय जुझौती या जैजाक मुक्ति कहा गया।

उपन्यास में उल्लिखित ''हर्षदेव, यशोवर्मन, धंगदेव, गण्डदेव विद्याधर, विजयपाल तथा देववर्मा आदि चंदेल वंशीय राजा हैं। ये सभी पात्र ऐतिहासिक है।''[40] इस उपन्यास में वर्णित अधिकांश घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। ''चंदेलों पर कर्ण कल्चुरी के आक्रमण का पुत्र और उत्तराधिकारी गांगेयदेव लगभग 1015 ई0 में राजगद्दी पर बैठा। उसके राज्यारोहण के समय कल्चुरी सत्ता एकदम कमजोर और शिथिल थी। उसकी सीमाओं पर स्थित चंदेल और परमार राज्यों के शासकों क्रमशः विद्याधर और भोज के व्यक्तित्व प्रायः सभी समकालीन सत्ताओं को चुनौती दे रहे थे। इन कठिन चुनौतियों के बीच कल्चुरी सत्ता को तत्कालीन राजनीतिक रंगमंच पर प्रमुख रूप से स्थापित करना ही गांगेयदेव के इतिहास की विशेषता है। प्रारम्भ में गांगेय देव ने विपरीत परिस्थितियों से समझौता कर लिया, क्योंकि 1011 ई0 के आस-पास विद्याधर के नेतृत्व में चंदेल सत्ता अपनी सैनिक और राजनीतिक उत्कर्ष की चोटी पर थी। गांगेयदेव को उसकी अधिसत्ता स्वीकार करनी पड़ी।''[41] लेखक ने उपन्यास में लिखा है- ''गांगेय कल्चुरी शत्रुओं से पराजित होकर प्रयाग में अपनी सौं रानियों के साथ जल समाधि ली थी।''[42] सन् 1024 ई0 के आस-पास गांगेयदेव चन्देल अधिसत्ता को छोड़कर अपनी राज्य सीमाओं के विस्तार में जुट गया। चारों ओर बढ़ी हुई उसकी प्रतिष्ठा और यश के उत्तराधिकारी उसके पुत्र कर्ण (लक्ष्मी कर्ण) ने सत्ता संभाली। कर्ण ने प्रायः सभी समकालिक राजाओं के मन में कल्चुरी सत्ता का भय पैदा कर दिया था। कर्ण को सम्भवतः सर्वाधिक सफलता बुन्देलखण्ड के चंदेल राज्य के विरूद्ध मिली। विद्याधर के बाद विजयपाल (1030-1050) ओर देव वर्मा (1050-1060) जैसे कमजोर शासकों ने सत्ता संभाली। कीर्ति वर्मा खजुराहो के मंदिरों को जलते हुए देखकर कह रहे थे- ''विक्रम संवत्'' एक सहस्त्र सत्तावन,' मैंने उस जागृत व्यक्ति के मुँह से सुना, उन्होंने कहा 'अब इतिहास अपने चरमबिन्दु को छू रहा है।''[43] देव वर्मा की हत्या हो गयी। देव वर्मा का उत्तराधिकारी कीर्ति वर्मा था जो 'नीला चांद' उपन्यास का महानायक है। कीर्तिवर्मा एक शक्तिशाली और गुणवान शासक था। 'नीलाचांद' कीर्ति वर्मा का खोया हुआ राज्याधिकारी प्राप्त करने और उसकी प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित करने की संघर्ष गाथा है।

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह जैसे गंभीर चिंतक ने इतिहास में कल्पना का पुट देकर उपन्यास की कथावस्तु तैयार की है। उपन्यास में कथानक और पात्र दोनों ही दृष्टियों से ऐतिहासिकता की रक्षा की गयी है। घटनाओं के ऐतिहासिक सत्य की पुष्टि में उपन्यासकार ने विविध सन्दर्भ-ग्रन्थों को उद्धृत किया है। लक्ष्मी कर्ण द्वारा देव वर्मा की हत्या, खजुराहों के मंदिर में लूटपाट, तुर्कों का आक्रमण और लूट-पाट, कन्नौज के शासक की कायरता, चंदेल शासको के यहां ब्राह्मण की परम्परा, कर्ण और भोज द्वारा मंदिर निर्माण की स्पर्धा, काशी में व्रजयानियों की वामाचारी साधना, गणिका-देवदासी प्रथा, तथा कथित अस्पृश्यों के प्रति अमानवीय व्यवहार और उपन्यास के अन्त में कीर्ति वर्मा द्वारा लक्ष्मी कर्ण का मानमर्दन, वे सभी इतिहास सम्मत सत्य है। डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने ऐतिहासिक नगरी काशी को इतिहास के चश्में से देखने का प्रयास किया है। संस्कृति से अपनी अलग पहचान बनाने वाली काशी की एक और अपनी पहचान है वो है ऐतिहासिक धरातल

वैश्वानर के द्वारा ईसापूर्व 1750 के काशी को प्रस्तुत किया गया है। इसके कथानक के द्वारा वैदिक परम्परा उजागर हुई है। उपन्यास में कला, इतिहास, प्राचीन संस्कृति का विस्तृत वर्णन है। लेखक ने सभी पात्रों को इतिहास से लिया है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि आर्यों ने सप्त सिन्धु से ही भारत के विस्तृत भूखण्ड पर अपनी संस्कृति का विकास किया है। भूमिका में कथाकार ने यह माना है कि गृत्समद तथा नहुष दोनों सगे भाई थे। नहुषजन, भोगवादी, व्यवसाय, प्रिय, लोभी तथा आर्य मूल्यों की उपेक्षा करने वाले थे। ये अपने विकास की दिशा में नगर

स्थापन, वास्तुविज्ञान, व्यापार में निपुण होने लगे। फलस्वरूप इन्हें व्यापार के निमित्त, अन्य देशों में जाने का भी अवसर मिला जिससे इनके संस्कार में परिवर्तन हुए। परिणामतः देश में रहने वाले आर्य इन्हें आर्य व्रात्य कहने लगे। व्रात्यों से भिन्न उन आर्यों की चर्चा है जो गृत्समद के वंशज दीर्घतमा की पीढ़ी में थे। ये परहित प्रेमी थे। उपन्यास में वर्णित ऐतिहासिक पात्र सभी इसी परम्परा के आर्य है। बीती होत्र, हैहय, पाणि आदि लाल गंध के समर्थक है। उनका कार्य लूटपाट, हत्या, डकैती, बलात्कार हैं। आर्यों को सताना ही इनका मुख्य कार्य है।

आर्यों में वशिष्ठ और विश्वमित्र दो शाखाएँ है। वशिष्ठ कट्टर आर्य है। ये व्रात्यों को शिश्न देव से सम्बोधित करते हैं। वशिष्ठ आर्य के लिए व्रात्य अपवित्र हैं। विश्वमित्र गायत्री साधना के प्रणेता विश्वमानव की कल्याण कामना से ओत-प्रोत हैं। सम्पूर्ण उपन्यास इन्हीं आर्य, व्रात्य, भार्गव, नागवंश, हैहय, बीतिहोत्र, पाणि, तालसंघ, भुण्डा, किरात, के घात प्रतिघात का जीवन्त कथा प्रवाह है।

वैश्वानर की ऐतिहासिकता पर लेखक ने स्वयं स्पष्टीकरण दिया है। उपन्यास की भूमिका ज्वलन्त प्रश्न' में शिवप्रसाद सिंह का कथन है- ''काशी के इतिहासकारों के कथन को ऋग्वेद में काशी शब्द का प्रयोग नहीं है, प्रमाणित मान ले तो ऋग्वेद के दशम् मण्डल के सूक्त 179 का उपहास होगा। इस सूक्त में मात्र तीन ऋचाएँ है। पहली ऋचा शिवि रौशीनर की है दूसरी का ऋषि है काशिराजः प्रतर्दनः तथा तीसरी का ऋषि रौहदश्वो वसुमनः। नवम् मण्डल के सूक्त 96 का ऋषि प्रतर्दन दैवोदासि बताया गया है। इस तरह काशी के न होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता हैं।''[44]

दिवोदास काशी के प्रथम शासक थे। उपन्यास का नायक प्रतर्दन दिवोदास का पुत्र है। लेखक ने प्रतर्दन की कथा कहने के लिए उसके पिता दिवोदास, पितामह भीमरथ तथा प्रपितामह धन्वन्तरि की भी विस्तार से चर्चा की है। 'वैश्वानर' की ऐतिहासिकता वैदिक कालिन परिवेश पर आधारित है। उपन्यास को पढ़ने से लगता है कि लेखक ने इसकी रचना के पूर्व वैदिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। रूप सिंह चंदेल के शब्दों में ''डॉ0 शिवप्रसाद सिंह उन विरले लेखकों में थे, जो किसी विषय पर कलम उठाने से पूर्व विषय से सम्बन्धित तमाम तैयारी पूरी करके ही लिखना प्रारम्भ करते थे। वैश्वानर पर कार्य करने से पूर्व उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक साहित्य खंगाल डाला था। और कार्य करने के दौरान भी जब किसी नवीन कृति को उपलब्ध कर उससे गुजरे नहीं, 'वैश्वानर' लिखना स्थगित रखा।''[45] वैदिक युग में नारियों की अच्छी स्थिति को भी लेखक ने अभिव्यक्त किया है। उपन्यास में वर्णित गार्गी, विश्ववारा, गोध आदि, ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का शास्त्रार्थ में भाग लेना वैदिक संदर्भों के अनुसार ही है। 'विश्वम्भर नाथ पाण्डेय' के अनुसार- ''वैदिक काल में स्त्रीयों का पद अत्यन्त ऊँचा था। बाल विवाह का नाम निशान न था। स्त्रियाँ भी ऋषियों का पद प्राप्त कर सकती थी। घोषा, और विश्ववारा इसके उदाहरण है।''[46] वैश्वानर में चित्रित गार्गी-याज्ञवल्क्य-शास्त्रार्थ वैदिक साहित्य से उद्धृत है।

उपसंहार

डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के लेखन का बड़ा हिस्सा काशी को समर्पित है। काशीत्रयी का प्रथम उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक तीनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण कृति है। यह उपन्यास काशी के वर्तमान समय का आइना बनकर प्रस्तुत हुआ है। 'गली आगे मुड़ती है' स्वतंत्रता के बाद वाले वर्षो की एक अहम राष्ट्रीय समस्या-युवा आक्रोश, युवा विद्रोह, व युवा असंतोष से सम्बन्धित राजनैतिक दस्तावेज के रूप में भी दिखाई देता है। काशी विभिन्न संस्कृतियों की संगम स्थली मानी जाती है। इसलिए इस उपन्यास में काशी के सम्प्रदायों, संस्कारों, सभ्यताओं, वर्गो, भाषाओं एवं बोलियों का समन्वीकरण किया गया है। यह सभी अलग-अलग होकर भी अखण्ड काशी की छवि को वाणी देते हैं। नीला चाँद के माध्यम से डॉ0 शिवप्रसाद सिंह ने ग्यारहवीं शताब्दी की काशी को जीवन्त कर दिया है। यह उपन्यास तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेक अच्छे बुरे रंगों को प्रदर्शित करने वाला वाइस्कोप साबित हुआ है। 'नीला चाँद' ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाक्रम का यथार्थ दर्पण है। काशीत्रयी लिखने के पीछे लेखक का उद्देश्य काशी की संस्कृति को समझना है। किसी भी काल के संस्कृति को समझने के लिए उस काल के समाज को समझना आवश्यक है। काशी की संस्कृति के वर्णन में लेखक ने अनेक ऐतिहासिक स्थलों के साथ वहाँ के रहन-सहन, परम्पराओं, मंदिरों का वर्णन किया है। 'वैश्वानर' काशीत्रयी की तीसरी कृति है। जिसमें ईसापूर्व 1750 में काशी के समाज, संस्कृति और राजनीति का वर्णन किया गया है। 'नीला चाँद की भाँति वैश्वानर भी डॉ0 शिवप्रसाद सिंह के गंभीर अध्ययन का सुफल है।

अंततः शिवप्रसाद सिंह जी ने अपनी दुरदृष्टि से अपनी लेखनी से कथाक्रम को उस लक्ष्य तक पहुँचाया है जहाँ से आज के भारत की छवि देखी जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी का गद्य साहित्य- डॉ0 रामचन्द्र विवारी पृ0 226
2. हिन्दी का गद्य साहित्य- डॉ0 रामचन्द्र विवारी पृ0 207
3. हिन्दी का गद्य साहित्य- डॉ0 रामचन्द्र विवारी पृ0 208
4. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, भूमिका से
5. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, पृ0 40
6. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, पृ0 162
7. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, पृ0 187
8. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह, पृ0 125

9. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 103
10. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 313
11. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 351
12. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 953
13. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 161
14. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 259
15. शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास साहित्य- डॉ0 राजेन्द्र पृ0 205
16. शिवप्रसाद वैश्वानर- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ021
17. शिवप्रसाद वैश्वानर- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 51
18. वही
19. वही
20. गली आगे मुड़ती है- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह उककड़ सभा से
21. वही पृ0 13
22. वही पृ0 19
23. वही पृ0 19
24. वही पृ0 36
25. वही पृ0 80
26. वही पृ0 265
28. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 184
29. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 184
30. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 213
31. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 105
32. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 534
33. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 339
34. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 343
35. शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास साहित्य- डॉ0 राजेन्द्र पृ0 207
36. वैश्वानर- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 271
37. वैश्वानर- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 338
38. वही पृ0 237-381
39. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह भूमिका सिर्फ एक
40. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600-1200)- डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक पृ0 615
41. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (600-1200)- डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक पृ0 618
42. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 21
43. नीला चॉद- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह पृ0 18
44. वैश्वानर- डॉ0 शिवप्रसाद सिंह की भूमिका, 'ज्वलंत प्रश्न' से
45. www.rachnasamay.blogpost.com पर रूप सिंह चंदेल के लेख 'एक परम्परा का अन्त था शिवप्रसाद सिंह का जाना' से
46. भारत और मानव संस्कृति,(खण्ड-1) विश्वम्भरनाथ पाण्डेय 'आमुख' से

●

दक्षिण भारत की लोकरंग परम्परा

माला यादव[*] एवं प्रो0 आनन्द वर्धन शर्मा[**]

भारतीय लोकनाट्यों का ज्ञात इतिहास दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच दिखायी देता है। संस्कृत नाटकों के पराभव काल से जुड़े होने के कारण कुछ विद्वान लोकनाट्यों के विकास को संस्कृत नाटकों के पराभव से जोड़ देते हैं जो उचित प्रतीत नहीं होता। संस्कृत नाटक शिष्ट समाज द्वारा राजाश्रय में रचे और खेले जाते थे। दसवीं शताब्दी के आस-पास होने वाले राजनैतिक उथल-पथल के परिणामस्वरूप ये राजाश्रय कमजोर हुए जिनका प्रभाव इनके द्वारा संरक्षित नाटकों ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण साहित्य पर पड़ा। संस्कृत भाषा क्षीण होती जा रही थी और समाज पर उसकी पकड़ भी कमज़ोर हो रही थी। उस समय लोकभाषाएँ दृढ़ता के साथ विकसित हो रही थीं और सामान्य जनता के आचार-विचार एवं परस्पर संप्रेषण का माध्यम थीं। उस समय लोकभाषाओं में कई साहित्यिक रचनाएँ हो रही थीं। विद्यापति की 'देसिल बयना' उक्ति का संदर्भ यही है। अपभ्रंश आदि भाषाओं का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में हो रहा था। अतः यह सत्य है कि दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच संस्कृत नाटकों की परम्परा अवरूद्ध हुई परन्तु ऐसा बिल्कुल भी नहीं है कि लोकनाटकों ने उनके द्वारा रिक्त किये गये अन्तराल को भरा या उनका स्थान लिया। लोकनाट्य लोकजीवन में सतत् प्रवाहित थे। क्योंकि- भरत का नाट्यशास्त्र कोई आकस्मिक उपज नहीं वरन् पूर्व परम्परा को लेकर की गयी एक सुनिश्चित योजना है, क्योंकि इतना तो स्पष्ट है कि भरत के नाट्यशास्त्र का आधार लोकनाट्य ही रहे होंगे।

अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकनाट्य-परम्परा प्राचीन काल से न केवल साहित्यिक नाटकों और शिष्ट रंगमंच के समानान्तर रही है, बल्कि उन्हें प्रभावित भी करती रही है। उदाहरणस्वरूप- ''भारतीय काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में विवेचित उपरूपक वास्तव में इन्हीं क्षेत्रीय, लोकनाट्यों के ही विकसित रूप हैं।''[1]

मध्यकाल में लोकनाटकों की धारा के अचानक वेगमयी और बलशाली हो जाने के कारणों पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ0 'जावेद अख्तर खाँ' ने अपनी पुस्तक हिन्दी रंगमंच की लोकधारा में उमा आनन्द के कथन को उद्धृत किया है-

"The classic sanskrit theater did not fulfill Bharat's Ideas, because this was Theatar for the elite the king, his nobles and the learned Brahmins, It was not a theater for the common man, though there was a theater of another short for the common people. This is Folk Theater."[2]

भारत में लोकनाट्यों की विशद् परम्परा रही है। बहुरंगी भाषा एवं संस्कृति से सुसज्जित हमारे देश के लगभग हर क्षेत्र की अपनी लोकरंग परम्परा है जो अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं से युक्त होते हुए भी सार रूप में अनेकता में एकता का दिग्दर्शन कराती है साथ ही शताब्दियों से लोकजीवन को अनुप्राणित भी करती आ रही है। यहाँ हम दक्षिण भारत में प्रचलित लोकनाट्यों का विहंगावलोकन करेंगे।

कुडियाट्टम्

'कुडियाट्टम्' का शाब्दिक अर्थ है ''साथ-साथ अभिनय करना।'' यह केरल का प्राचीनतम कला रूप है। भरतमुनि द्वारा द्वितीय शताब्दी में रचित 'नाट्यशास्त्र' पर आधारित कुडियाट्टम् की शुरूआत 9वीं शताब्दी में हुई। इस नाट्य परम्परा पर भास के नाटकों के साथ-साथ संस्कृत रंगमंच में निर्दिष्ट उपरूपकों का भी प्रभाव है। 'कुडियाट्टम्' के जन्मदाता केरल के चेरवंश के सम्राट 'कुलशेखर वर्मन' को माना जाता है। उन्होंने संस्कृत नाटकों को जनसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए इस विधा का सूत्रपात किया। कुलशेखर द्वारा जिस समय इस विधा को अस्तित्व प्रदान किया गया उस समय केरल में मुटियेट्टु, तीयाट्टु, पुरट्टु, यात्रकलि नामक लोकप्रदर्शन प्रचलित थे। इन प्रदर्शनों में विदूषक द्वारा तत्कालीन समाज पर व्यंग्य इनकी प्रमुख विशेषता थी। 'मुट्टियेट्टु आदि विधाएँ नम्बूदरी ब्राह्मणों द्वारा विकसित की गई। कुडियाट्टम् के प्रस्तोताओं में नम्बूदरी, नायरों, चाक्यारों और नांग्यारों का प्रमुख योगदान होता है। नम्बूदरी ब्राह्मण केरल में प्रवासी थे। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् शासक वंश के राजकुमारों का रूपांतरण क्षत्रीय वंश में हो गया, चोलों के साथ निरन्तर युद्ध के परिणामस्वरूप इसी शासक वर्ग का आविर्भाव नायर या नाइर के रूप में हुआ। नम्बूदरियों और नायरों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध भी थे। नम्बूदरियों के बड़े पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्र नायर स्त्री से विवाह कर सकते थे। चाक्यार वंश एवं नांग्यार वंश इसी सामाजिक वैवाहिक संबंधों से सम्बद्ध है। चाक्यार अंबलवासी जो कि मन्दिर में रहने वाली जाति है और ब्राह्मणों और नायरों के बीच का एक वर्ग है, किसी नम्बूदरी स्त्री पर व्यभिचार का सन्देह होने पर उसे समुदाय से

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**निदेशक, ऐकेडमिक स्टॉफ कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

निलम्बित कर दिया जाता था। दोष सिद्ध होने पर वह बहिष्कृत कर दी जाती थी। अपराध की तारीख और बहिष्कृत होने की तारीख के बीच पुत्र उत्पन्न होने पर वह चाक्यार वंश का मान लिया जाता था और पुत्री उत्पन्न होने पर वह नांग्यार मानी जाती थी। चाक्यार मंदिरों में अनेक ग्रन्थों से पद्य कथाएँ लेकर उन्हें उद्धृत करते हुए अनेक पात्रों का अभिनय अकेले ही करने में सिद्धहस्त होते हैं। चाक्यारों के इस एक पात्री अभिनय को 'कुत्तू' कहते हैं।

संभवतः कुलशेखर ने 'मुटियेट्टु' आदि लोकविधाओं की विदूषक शैली और मंदिरों में प्रचलित चाक्यारों की 'कुत्तू' शैली को जोड़कर अपने संस्कृत नाट्य प्रदर्शन के लिए इस सर्वथा नवीन शैली का विकास किया। 'कुलशेखर वर्मन' ने दो नाटक लिखे- 'सुभद्राधनंजयम्' एवं 'ताप्तीसंवरणम्'। कुलशेखर ने ही अपने ब्राह्मण मंत्री 'तोलन' द्वारा 'कुडियाट्टम्' नाट्य विधा की अभिनय-विधियों, निर्देश एवं मंचन संबंधी सिद्धान्तों को लिपिबद्ध करवाया। इस ग्रन्थ का नाम 'वांग्येय व्याख्या' है। कुलशेखर के दो नाटकों के बाद धीरे-धीरे कुडियाट्टम् के साहित्य में श्रीवृद्धि हुई और श्रीहर्ष, भास आदि के द्वारा लिखे गये नाटकों को कुडियाट्टम् शैली के अनुरूप संशोधित किया गया। वे अन्य नाटक हैं- 'आश्चर्यचूड़ामणि', 'नागानन्दम्', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्', 'मत्तविलासम्', 'भगवद्ज्जुकीयम्', 'दूतघटोत्कचम्' एवं 'कल्याण सौगन्धिकम्'।

कुडियाट्टम् को 'कुथाम्बलम्' या 'कुटुम्बलम्' नामक रंगशाला में मंचित किया जाता है। कुटुम्बलम् केरल के मंदिरों की शैली में निर्मित किए गये हैं। कुटुम्बलम् का निर्माण अत्यन्त भव्य शैली में कुडियाट्टम् की प्रस्तुति हेतु किया जाता है। 'कुडियाट्टम्' की प्रस्तुति अनेक रातों में पूर्ण होती है। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के अनुसार- ''अकेला चाक्यार कई रात्रियाँ पूर्वरंग में ही गुजार देता है और मुख्य नाटक प्रदर्शन अन्तिम तीन रजनियों में प्रस्तुत होता है।''[3] कुडियाट्टम् में पुरुष और स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। पहले पूर्वरंग की प्रक्रिया संपन्न की जाती है। वाद्ययंत्रों में ढोल, मिझाब, इड़क्का, कोंमा (तुरही किस्म की), कुरूनकुझुल या कुचल (वंशी) तथा शंख आदि का प्रयोग होता है। मिझाबु का वादन नांग्यारों के द्वारा होता है तथा वे गायन भी करती हैं।

पूर्व रंग में गणपति आदि देवताओं की वंदना होती है। इस क्रिया को 'अक्किट्ट कुट्टक' कहते हैं। इसके बाद नांग्यार प्रस्तुत की जाने वाली कथा का सार मलयालम में प्रस्तुत करता है, इसे 'नंबयरूटे तमिल' कहते हैं। फिर अरन्नतुलि क्रिया द्वारा जल छिड़काव कर रंगमंच का शुद्धिकरण किया जाता है। इसके पश्चात् नांग्यारों द्वारा नाटक के आरम्भिक पद्यों का गायन होता है जिसे 'पुरण्पडु' कहते हैं। दूसरे दिन 'निर्वहण' होता है। यह भी पूर्वरंग के ही अन्तर्गत आता है। यह पात्र परिचय से संबंधित क्रिया है। निर्वहण में ही विदूषक भी आता है। जो मलयालम में बोलता है वह पुरुषार्थों की व्यंग्यात्मक व्याख्या करते हुए आलोचनात्मक टिप्पणी करता है। निर्वहण क्रिया 11-14 दिनों तक चलती है मुख्य नाटक अन्त में 3-4 दिन में सम्पन्न होकर भरत वाक्य के साथ समाप्त होता है।

कुडियाट्टम् में अभिनय के चारों नाट्यशास्त्रोक्त प्रकारों (वाचिक, कायिक, आंगिक, आहार्य) का प्रयोग किया जाता है परन्तु सबसे महत्वपूर्ण आंगिक अभिनय होता है जिसमें नेत्र, मस्तक, कपोल, भौहों और होंठ तथा हाथों का प्रदर्शन अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में किया जाता है। 'कुडियाट्टम्' नाट्य विधा की जीवंतता को देखते हुए हाल ही में युनेस्को द्वारा इसे ''मानवता की मौखिक और अतिसूक्ष्म धरोहर की उत्कृष्ट कृति' घोषित किया है।

यक्षगान

'यक्षगान' कर्नाटक प्रदेश में प्रचलित लोकनाट्य विधा है। ज्ञानपीठ पुरस्कार से अलंकृत कन्नड़ के श्रेष्ठ साहित्यकार श्री शिवराम कारन्त जी अपने 'यक्षगान बयलाट' शोध-प्रबन्ध में कहते हैं- ''यक्षगान का सर्वप्रथम उल्लेख सार्णदेव के 'संगीत रत्नाकर' में लगभग 1210 ई0 में 'जक्क' नाम से हुआ।'' 1500 ई0 तक व्यवस्थित यक्षगान का रूप सामने उभर कर आ गया था। 'कुडियाट्टम्' में संस्कृत साहित्य एवं नाट्य परंपरा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है जो उसमें यथावत् रूप में विद्यमान है, किन्तु 'यक्षगान' में संस्कृत रंगमंच की अनेक विशिष्टताओं और परिपाटियों का परित्याग स्पष्टतः परिलक्षित है। कर्नाटक में यक्षगान के अतिरिक्त भी अन्य कई लोकशैलियाँ प्रचलित हैं यथा- ताल-मद्दले, बल्लारी जिले का कठपुतली का खेल, बीजापुर और उसके आस-पास प्रचलित दोड्डाता, मूडलपाया आदि। वैसे इन्हें भी यक्षगान की ही एक अलग लोकशैली के रूप में माना जाता है। 'यक्षगान' की असाधारणता को देखते हुए, इसमें नृत्य, संगीत और वेश-भूषा के विकसित रूप को देखते हुए इसे लोकशैली की कला मानना कठिन प्रतीत होता है। सही अर्थों में यह लोकशैली मात्र इसलिए है क्योंकि यह राजाओं के आश्रय में नहीं बल्कि जनसमुदाय के प्रोत्साहन और पोषण के सहारे जन्मी और बढ़ी है। इस कला के कलाकार, निर्देशक, पोषक और दर्शक ग्रामीण और छोटे कस्बे के लोग हैं।

यक्षगान मूलतः मंदिरों में प्रदर्शित किया जाने वाला 'क्रीड़नीयक' है। जनता के भक्ति भाव ने आज तक इस कला को जीवित रखा है। कई बार मनौतियों के कारण भी इसकी प्रसंग प्रस्तुतियाँ होती रही हैं। यक्षगान में प्रस्तुत किये जाने वाले खेल को 'आटा' कहते हैं। इस आटा की धुरी 'भागवत' होता है जो 'आटा' का निर्देशक होता है। इसमें विष्णु के दस अवतारों की कथाओं से सम्बद्ध कथानक होते हैं। इसलिए इसे दशावतार आटा या भागवतार आटा भी कहा जाता है। यक्षगान में रंगस्थल का आकार सभा-लक्षण के अनुसार अर्धचन्द्रकार या चौरस होता है। कारंत जी बताते हैं कि मंच समतल मैदान में या खुले आंगन में रचा जाता है। आंगन के बीचोंबीच करीब 20 × 30 फीट के विस्तार वाले स्थान को चार-पाँच बांस गाड़कर अलग अंकित किया जाता है। बांस के

खंभों पर आम की पत्तियों को लपेटकर ऊपर से पत्तियों के वंदनवार लटकाए जाते हैं। यही यक्षगान का मंच है।

वाद्ययंत्रों में चेंड़ा और मादल या मद्दल प्रमुख रूप से प्रयुक्त होता है। यक्षगान के सभी पात्र पुरुष ही होते हैं। स्त्री पात्रों का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं। पुरुष वेशधारी काला पायजामा पहनते हैं तो स्त्री वेशधारी लहंगा। कोडंगी और हनुमनायक आदि पात्र हास्य-व्यंग्य सृष्टि करते हैं। पूर्वरंग का प्रारम्भ 'सभालक्षण' से होता है। सभालक्षण की समाप्ति पहले दिन हो जाती है उसके पश्चात् दूसरे दिन प्रसंग का प्रारंभ 'वड्डोलगा' से होता है। वड्डोलगा सदैव प्रसंग के अनुरूप होता है। इसमें एक कपड़े की पटी के पीछे नृत्य करते हुए पात्र खड़े होते हैं। उनका मुँह ढँका होता है क्रमशः भागवत उनका परिचय देता है और वे नृत्य करते हुए दर्शकों के सम्मुख आते हैं धीरे-धीरे पटी हटा ली जाती है।

वड्डोलगा के साथ ही प्रसंग कथा प्रारंभ होती है ये प्रसंग गीतों में निबद्ध होते हैं। ये गीत तीन सौ से पाँच सौ छन्दों में होते हैं। कहीं-कहीं भागवत द्वारा गद्य का भी प्रयोग किया जाता है। यक्षगान के प्रत्येक प्रसंग प्रायः सुखान्त होते हैं। दशावतारों की वन्दना, त्रिदेवों की स्तुति तथा दर्शकों के अभिवादन के पश्चात् भागवत् द्वारा प्रसंग की समाप्ति की जाती है।

भागवतमेल

भागवतमेल नाट्य रूप का साहित्यिक आधार यक्षगान साहित्य ही है। तमिलनाडु, आन्ध्र और कर्नाटक का राजनीतिक, सांस्कृतिक इतिहास परस्पर सम्बद्ध होने के कारण, इन तीनों प्रदेशों की आदि साहित्यिक भाषा संस्कृत होने के कारण तथा शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि धर्मों तथा अल्वारों एवं नायन्मारों के गीत-संगीत इत्यादि का सम्मिलित प्रभाव इन प्रदेशों की नाट्य विधाओं पर पड़ने के फलस्वरूप अनेक नाट्य रूपों का जन्म हुआ। भागवतमेल और कुचिपुड़ी भी इन प्रभावों से अलग नहीं रहे। यक्षगान में शैवमताग्रही नृत्य नाटकों की अधिकता रही किन्तु 12वीं-17वीं शती के बीच भागवत धर्म का विस्तार तथा प्रचार-प्रसार होने के कारण भागवत यक्षगान अस्तित्व में आ गए होंगे। ऐसा विद्वानों का मानना है। यह भी माना जाता है कि 16वीं शताब्दी के अंत में अच्युतप्पा नायक नाम के तंजौर नरेश ने तमिलनाडु के मेलात्तूर नामक गाँव में 501 ब्राह्मण परिवारों को कुचिपुड़ि क्षेत्र से लाकर बसाया। ''इन भागवतालु ब्राह्मणों ने भागवत पद्धति से भाषा नाटकों को प्रस्तुत किया। इन्हीं नाटकों को भागवतमेल के नाम से जाना जाता है।''[4]

तंजौर के मेलात्तूर गाँव में वरदराजा स्वामी के मंदिर में अमूमन मई-जून के महीने में नरसिंह जयंती पर्व के अवसर पर भागवतमेल नाटकों की प्रस्तुति होती है।

मंदिर के ठीक सामने सौ-सवा सौ फुट लम्बे व्यास में फूस का अस्थाई रंगमंडप तैयार किया जाता है। इसी रंग मंडप में घास-फूस से नेपथ्य के लिए झोपड़ी तथा 20 फीट लंबा एक मंच नाट्य प्रस्तुति हेतु बनाया जाता है।

भागवतमेल में विदूषक को 'कोणांगी' कहते हैं और नेपथ्य पूजन के पश्चात् इसके नृत्य से ही पूर्व रंग प्रारम्भ होता है। पूर्वरंग में ही 'कोणांगी' के नृत्य एवं संबोधन के पश्चात् 'टोडाय मंगलम्' (आह्वान गीत) संगीतकारों की टोली द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिसमें प्रस्तुत की जाने वाली कथा के काव्यों के अंश होते हैं। गणेश वंदना एवं पात्र परिचय की क्रिया लगभग यक्षगान सदृश ही होती है। पूर्वरंग की समाप्ति पर मूल नाटक की प्रस्तुति प्रारंभ होती है जो पूरी रात चलती है। उल्लेखनीय है कि नाटक में अभिनेताओं को अपने संवाद स्वयं नृत्य एवं अभिनय के साथ गाने भी होते हैं। जबकि यक्षगान में कथा का गायन भागवत करता है। अभिनेताओं द्वारा गाये जाने वाले गीत 'दरबु' कहे जाते हैं। भागवतमेल में वाद्यों के अन्तर्गत मृदंग, बांसुरी और वायलीन का प्रयोग किया जाता है।

भागवतमेल की वेशभूषा में पुरुष पात्र चमकने वाले वस्त्र पहनते हैं, नारी पात्र साधारण साड़ी बांध कर मंच पर प्रस्तुत होते हैं, पौराणिक चरित्र मुखौटे पहनते हैं।

इस नाट्य रूप में शृंगार रस की प्रधानता होती है अतः युद्ध एवं मारकाट के प्रसंग मंच पर नहीं दिखाए जाते।

कुचिपुड़ी, भामकलापम और गोल्लकलापम्

'कृष्णलीला तरंगिणी' के प्रणेता 'श्री तीर्थनारायण योगी को भागवतमेल, भामकलापम और कुचिपुड़ी का जनक माना जाता है। इनके शिष्य सिद्धेन्द्र योगी ने अपनी गुरु की प्रेरणा से कुचिपुड़ी नृत्य नाट्य शैली को जन्म दिया। सिद्धेन्द्र योगी ने कुचिपुड़ी ग्राम के युवकों को संगठित कर, प्रतिभाओं की खोज कर तथा उन्हें प्रशिक्षित कर नाट्य प्रयोग करवाये। आरंभ में कुचिपुड़ी के विषय शिव लीलाओं से सम्बद्ध थे परंतु बाद में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के बाद उनका स्थान कृष्ण लीलाओं ने ले लिया और कृष्ण के जीवन के विविध घटनाओं पर कुचिपुड़ी प्रदर्शन होने लगे।

भामकलापम कुचिपुड़ी का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाट्य है। यह नाटक कृष्ण द्वारा सत्यभामा को छोड़कर रूक्मिणी के पास चले जाने से, सत्यभामा के मन में कृष्ण के प्रति वियोग का भाव, सत्यभामा और रूक्मिणी के बीच कलह, सत्यभामा द्वारा मान करना, कृष्ण द्वारा उन्हें तरह-तरह से मनाने और क्षमा प्रार्थना करने से संबंधित है। 'भामकलापम' में 'सत्यभामा' का अभिनय करने के लिए कुचिपुड़ी के प्रत्येक अभिनेता लालायित रहते हैं।

भामकलापम में गणेश वंदना के पश्चात् पूर्वरंग प्रारम्भ होता है जिसमें सत्यभामा दो व्यक्तियों द्वारा हाथ से पकड़े गये परदे पर अपनी बंधी हुई चोटी को फैलाकर खड़ी होती है। भागवतार द्वारा नाट्य से संबंधित पंक्तियों का गायन एवं नाट्य परिचय कराया जाता

है। पूर्वरंग के पश्चात् कृष्ण, रूक्मिणी और सत्यभामा की मूलकथा तेजी से आगे बढ़ती है।

कुचिपुड़ी का दूसरा प्रमुख नाट्य गोल्लकलापम है। यह कृष्ण और गोपिकाओं के मध्य दही विवाद के सुविख्यात छेड़छाड़ प्रसंग पर आधारित है।

इन नाट्य प्रदर्शनों की वेश-भूषा और रूप-सज्जा भागवतमेल की अपेक्षा समृद्ध किस्म की होती है तथा मंच अत्यन्त साधारण होता है।

दोड्डाता

यह कर्नाटक में धारवाड़ के निकट खेला जाने वाला नाटक है। इसमें किरात और अर्जुन के युद्ध प्रसंग की नाट्य प्रस्तुति होती है। 'कर्नाटक में लगभग 20 दोड्डाता-मण्डलियाँ हैं। मण्डली के प्रमुख को 'भागवतार' कहते हैं।''[5]

इस नाट्यविधा में मंच अत्यन्त साधारण होता है। मंच के नाम पर मात्र एक चौकी पर चन्दोबा फैला दिया जाता है। यही इस नाटक का मंच होता है। पूर्वरंग में भागवतार द्वारा गणपति पूजन और सरस्वती वन्दना की जाती है। प्रस्तावना के पश्चात् किरात और अर्जुन की मुख्य कथा का मंचन प्रारम्भ होता है। नाटक के बीच में एक लघु प्रहसन भी होता है। इसमें विदूषक जिसे 'ओडोसोगु' कहते हैं स्वयं गाता भी है और संवाद भी बोलता है।

दोड्डाता में गायन करने वाली मण्डली को 'हिम्मेल' कहा जाता है। इस नाट्य में स्त्री और पुरुष दोनों पात्रों का अभिनय पुरुष ही करते हें। यह नाट्य प्रदर्शन संघर्ष के बाद सामंजस्य और विनिमय का संदेश देते हैं।

कहना न होगा कि भारतीय लोकनाट्य आम जनमानस का अमरकोष है। आम जनों की चिन्तन एवं भावना की गहरी टोह लेने एवं उसकी सफल अभिव्यक्ति के साथ भारतीय लोकनाट्य एक विशाल शाश्वत चित्रपट के रूप में जन-जन का मनोरंजन करते रहे हैं। वास्तव में लोकनाट्य लोकरंजन का एक ऐसा आडम्बरहीन साधन है, जिसकी परम्परा हमारे अतीत से चली आ रही है, दक्षिण भारत में भी लोकनाट्यों की समृद्ध परम्परा रही है और आज की व्यावसायिकता की अंधी दौड़ में भी इन लोकनाट्यों ने अपनी परम्परा और जमीनी जुड़ाव को त्यागा नहीं है। इन लोकनाट्यों में दर्शकों को स्वयं से बाँधे रखने की वो क्षमता होती है कि दर्शक मात्र दर्शक नहीं रह जाता वह उस उत्सवपूर्ण वातावरण का अंग बन जाता है जो नट, गायक और वाद्यकार अपने कला-कौशल से उत्पन्न कर देते हैं। वह झूमता ही नहीं, कभी कभी बोल भी उठता है; विभोर ही नहीं होता, कभी-कभी स्वयं नट बन जाता है। एक तरह से दर्शक और नाट्य प्रदर्शन के बीच एकात्म हो जाता है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि इतनी विशिष्टताएँ लिये हुए ये लोकनाट्य परम्पराएँ किसी तरह का दिखावा प्रदर्शन या पब्लिसिटी के मोह में नहीं फँसती

''शमाँ जिस आग में जलती है नुमाइश की तरह,
हम उसी आग में गुमनाम से जल जाते हैं।''

की तर्ज पर बड़ी खामोशी से अपनी परम्परा को जीवित रखने वाली ये लोकनाट्य विधाएँ एवं इसके प्रदर्शक, निर्देशक एवं कलाकार हमारे देश की अमूल्य निधि है।

संदर्भ सूची

1. जावेद अख्तर खाँ- हिन्दी रंगमंच की लोकधारा, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2013, पृ0 84
2. वही, पृ0सं0 84
3. जगदीशचन्द्र माथुर- परम्पराशील नाट्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-4, सन् 1969, पृ0 14
4. डॉ0 वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी- भारतीय लोकनाट्य, वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2011, पृ0 88
5. जगदीशचन्द्र माथुर- परम्पराशील नाट्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-4, 1969, पृ0 73

●

समकालीन कविता में स्त्री

ऋचा एवं प्रो0 श्रीप्रकाश शुक्ल***

आधी दुनियाँ की बाशिंदा स्त्री अभी भी संघर्ष के रास्ते पर है, स्वयं के लिए मुनासिब जमीन तलाशती हुई। परन्तु अब वह थोड़ी सजग हो गई है और आत्मनिर्भर भी। स्त्री का आत्मनिर्भर, आत्मसजग होना उसका नया लोक है, उसका नया प्रस्थान भी। वह अपने लिए 'स्पेस' चाहती है, एक मुकम्मल स्थान भी। अपने संघर्ष, जिजीविषा, परिश्रम, साधना एवं संयम से पुरुष की बराबरी करते हुए निरंतर नये आयामों को, नये आकाश को छूना चाहती है।

स्त्री के बिना संसार की कोई भी चीज़, कोई भी रचना, कोई भी शास्त्र, कोई भी धर्म, कोई भी लोक, कोई आकाश, कोई भी पृथ्वी पूरी नहीं होती।

समकालीन कविता ने स्त्री की इस भूमिका को इस दौर में समझने की, विचार करने की और जानने-पहचानने की जहमत उठाई है। यहाँ स्त्री की जीवंत और संघर्ष कर रही छवियों की तलाश दिखाई पड़ती है, स्त्री के निर्विकार व निश्शब्द जीवन की शब्दशः अभिव्यक्ति मिलती है। समकालीन कवियों ने रसोई और बिस्तर के गणित से परे हटकर स्त्री संवेदना और भावना से जुड़कर अपने कविताओं को तराशा है।

समकालीन कविता ने नयी कविता और अकविता की जमीन को तोड़कर स्त्री सरोकारों की फसल लहलहाई है। छायावादी कविता में स्त्री केवल प्रेयसी थी, वह कवि कल्पना और मनोभावों से उपजी थी। नयी कविता का आग्रह हाड़-माँस की सजीव स्त्री को कविता में चित्रित करने का था, लेकिन कवियों की मनोरचना व्यक्तिनिष्ठ थी इसलिए यहाँ भी जो स्त्री चित्रित है वह पुरुष दृष्टि से देखी, जानी-पहचानी गई स्त्री है। तदन्तर अकविता में स्त्री का घोर सरलीकरण हुआ- वह महज एक शरीर होकर रह गई। 1975 के बाद जो जनवादी-काव्यधारा प्रवाहित हुई जिसे हम समकालीन कविता कहते हैं, वहाँ एक आम भारतीय स्त्री के दैनिक जीवन की यातना, त्रास, दुःख, संवेदनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। समकालीन कवियों ने स्त्री को उसकी वस्तुस्थिति में समझने का प्रयास किया, उसके संघर्षों, चुनौतियों की बेहतर पड़ताल की।

लिंग अनुपात में असमानता, लड़कियों की संख्या में कमी आज भारत की ही नहीं विश्व की भी बड़ी समस्या है, फिर भी कन्या भ्रूण हत्या का सिलसिला थम नहीं रहा है। धीरे-धीरे कुछ लोगों की मानसिकता में परिवर्तन तो आया है परन्तु आज भी बड़ी संख्या में ऐसे परिवार मौजूद हैं जहाँ कन्या के जन्म पर प्रत्यक्ष उदासी छा जाती है।

आँकड़े बताते हैं कि साल में 10 लाख बच्चियों की हत्या गर्भ में ही कर दी जाती है। वैश्वीकरण की इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी कि जो राज्य और शहर जितने अधिक विकसित हैं, मसलन पंजाब, गुजरात, हरियाणा, नई दिल्ली, कन्या भ्रूण हत्या की दर उतनी ही ज्यादा है। यह स्थिति तब है जब लिंग की जाँच को कानूनन अपराध की श्रेणी में रखा गया है। कन्या भ्रूणों की हत्या के आँकड़े समूचे वैधानिक प्रतिबंधों के बावजूद दिन-रात बढ़ रहे हैं। यह हमारी हिंसा की मनोवृत्ति भर नहीं है, बल्कि यह स्वार्थपरताओं का भयावह रूपक भी है।

कवि उदय प्रकाश 'औरत' शीर्षक कविता में इस स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण करते हुए कहते हैं- ''हजारों लाखों छुपती हैं गर्भ के अंधेरे में/ इस दुनिया में जन्म लेने से इंकार करती हुई/ वहाँ भी खोज लेती हैं उन्हें भेदिया ध्वनि तरंगें/ वहाँ भी भ्रूण में उतरती है हत्यारी कटार।''

यह आज के समय की एक सच्चाई है। समकालीन कविता हमें इस सच्चाई से रूबरू करवाती है तथा इसके भयंकर परिणाम सामने आने से पहले हमें चेत जाने के लिए आगाह भी करती हैं।

कुलीन परम्पराओं और पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के चलते स्त्री ने सदियों से एक चुप्पी ओढ़ ली। उसके मौन को उसकी कमजोरी मान कर उस पर अत्याचार किया जाने लगा। धीरे-धीरे यही मौन उसके व्यक्तित्व में रच-बस गया। वह सब कुछ चुपचाप सहन करने की आदी हो गयी।

समकालीन कवि अरूण कमल अपनी कविता 'एक बार भी बोलती' में ऐसी ही स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करते हैं जो चुपचाप सारी यातनाओं को सहती जाती है-

''मैंने उसे बुरी तरह डाँटा
फिर भी वह कुछ नहीं बोली रोयी भी नहीं
अभी भी मैं समझ नहीं पाया
कि वह कभी बोली क्यों नहीं।''[1]

यहाँ कवि को उसकी सहनशीलता पर आश्चर्य भी होता है साथ ही उसकी इस स्थिति पर क्षोभ भी। दरअसल सदियों से पितृसत्तात्मक समाज ने उसे मृदुभाषी, मितभाषी होने का पाठ पढ़ाया

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

और अपनी सुविधा हेतु उससे अभिव्यक्ति का अधिकार भी छीन लिया और स्त्री इस स्थिति को अपनी नियति मान बैठी।

अमृता प्रीतम के शब्दों में कहें तो-

''उगी हूँ, पिसी हूँ, बेलन से बिली हूँ
आज गर्म तवे पर जैसे चाहो उलट लो!
.....अन्नदाता!
मेरी जबान और इन्कार
यह कैसे हो सकता है।''[2]

अभिव्यक्ति का अधिकार न मिलने पर उसका आत्मविश्वास भी चूर-चूर हो गया। विवाह के कई वर्षों बाद भी वह पति की पिछलग्गू बनी रहती है। कवि लीलाधर जगूड़ी ने लिखा है-

''अकेली औरत पार करना चाहती है सूनी सड़क
आगे बढ़ चुके पति को पीछे बुलाती है
जो कि लौट आता है गुस्से और कोफ़्त से
अकेली औरत शादी के तीस वर्ष बाद भी
पूछती है सड़क पार कर लूँ।''[3]

इस तरह खुद को कमजोर, असहाय समझने लगी और अपने निर्विकार जीवन की आदी औरत अणुवत अकेली होती गयी। अपने गृहस्थ जीवन, पति के लिए अपने सुख, इच्छाओं का त्याग करती गयी।

कवि मंगलेश डबराल ने 'स्त्रियाँ' शीर्षक कविता में स्त्री के इसी त्याग, समर्पण एवं सहनशीलता का वर्णन करते हुए लिखा है-

''एक आँख से हँसती एक से रोती हुई
वह फिर से आ पहुँचती है पुरुष के सामने
जैसे उसका कुछ न छीना गया हो
जैसे वह उसी तरह करती आ रही हो प्रेम।''[4]

यह सत्य है कि त्याग, समर्पण, क्षमा, प्रेम, स्त्रियोचित गुण है परन्तु कब तक इन सबके नाम पर वह स्वयं ही अपने स्वप्नों का गला घोंटती जायेगी? समकालीन कवियों ने स्त्री के भीतर अपरिभाषित अपार जीवन को हिलोरें मारते देखा और महसूस किया।

स्त्री विमर्श और नारी जागरण के चौतरफा विमर्श की रोशनी में भी यातना और उत्पीड़न के अंधकार में जीती हुई कितनी ही स्त्रियाँ अभी भी हैं जो मुक्ति का स्वप्न देखती हुई जीवित हैं।

समकालीन कवयित्री कात्यायनी एक भूतपूर्व नगरवधू की 'दुर्गपति से प्रार्थना' शीर्षक कविता में स्त्री की ऐसी ही तड़पती इच्छाओं के बारे में बताते हुए कहती हैं-

''एक वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर
कम से कम एक बार
भले ही वह जिंदगी में आखिरी बार हो
अपने मन से एक गीत गाना है मुझे

जिसकी कभी किसी ने फरमाइश न की हो।
जलते रेगिस्तान में ही सही
कम से कम एक बार मैं
अपने लिए नृत्य करना चाहती हूँ।''[5]

एक बार अपने लिए जी लेने की इच्छा। कवि अष्टभुजा शुक्ल स्त्री की ऐसी ही इच्छाओं का जिक्र करते हैं कि सारा जीवन नरक में बिताने की कीमत चुकाकर भी वे- ''एक बार दिल खोलकर खिलखिलाना चाहती थीं/ और सारा जीवन बिलखने को भी तैयार थीं/ पर एक बार फफककर रोना चाहती थीं।''

चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'मेरा एक सपना यह भी' में रोजमर्रा के जीवन में घटती-रचती एक आम भारतीय स्त्री का वर्णन मिलता है, जहाँ स्वयं कवि का यह सपना है कि काश नींद में भी वह सुख से रह पाती, पर सोते वक्त भी अपने माथे की वो सलवटें नहीं मिटा पाती-

''सुख से पुलकने से नहीं
रचने-घटने थकने से, सोई है स्त्री
नींद में हँसते देखना उसे
मेरा एक सपना यह भी
पर वह तो माथे की सलवटें तक
नहीं मिटा पाती
सोकर भी।''[7]

विवाह के बाद स्त्री जीवन के संघर्षों, चुनौतियों की गहरी पड़ताल समकालीन कविता में मिलती है।

असद ज़ैदी 'बहनें' शीर्षक कविता में विवाह के बाद स्त्रियों की दशा का वर्णन मिलता है जहाँ ज़ैदी भाइयों के प्रति आत्मनिवेदन के माध्यम से बहनों के जीवन यथार्थ को सामने लाते हैं-

''कोयला हो चुकी हैं हम
बहनों ने कहा रेत में धंसते हुए
ढंक दो अब हमें चाहे
हम रूकती है यहाँ तुम जाओ
शाप की तरह आती थी हमारी थर्राती हुई
जिन्दगियों में बहने ट्रैफिक से भरी सड़कों पर
मुसीबत होकर सरों पर मँडराती थी
लड़कियाँ हैं हम लड़कियाँ।''[8]

इस कविता पर टिप्पणी करते हुए परमानन्द श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है- ''असद ज़ैदी की कविता स्त्री के प्रति करुणा को जिन दूसरे अनुभवों से जोड़कर मूर्त करती है, उनमें स्त्री के बहाने एक पूरा संसार खुलने लगता है।''[9]

''दुलारी धिया'' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता में बद्रीनारायण ने भारतीय लोक को उपस्थित करते हुये विवाह के उपरान्त स्त्री के संघर्षों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। आँगन में कूदती-खेलती माँ-बाबुल की दुलारी धिया विवाह के बाद किस दुःख, संत्रास, पीड़ा से गुजरती है, इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

''पी घर में राज करोगी दुलारी धिय।
दुलारी धिया दिन भर
धान उसीनने की हंडिया बन
चौमुंहे चूल्हे पर धीकेगी
अकेले में कहीं छुप के
मैके की याद में दो-चार धार फोड़ोगी।''

आजादी के इतने सालों बाद भी स्त्रियाँ सही मायने में स्वतंत्र नहीं हो पायी हैं। नरेन्द्र जैन अपनी एक कविता में आठ साल की सावित्री का जिक्र करते हैं जिसके लिए आजादी का अर्थ जूठों बर्तनों के सिवा और कुछ नहीं है। यहाँ कविता विकास के दौड़ में तेजी से आगे बढ़ते भारत की चमचमाती तस्वीर के पीछे की कहानी को व्यक्त करती है-

''वक्त के उस लम्बे दौर में
बदल गयी दुनिया
आठ बरस की सावित्रि
फिर भी तपती धूप और भीषण जाड़े में
बर्तन माँजती है
आजादी का अर्थ
फिर भी सावित्रि के लिए नहीं रहेगा
थालियों के जूठन से ज्यादा।''

स्त्रियों के प्रति घर और समाज में बढ़ती हिंसा अपने समय की एक बड़ी त्रासदी है जिसकी शिकार पढ़ी-लिखी, अनपढ़ सभी महिलायें हैं। ताज्जुब की बात यह है कि घरेलू हिंसा को कानूनन अपराध माना गया है बावजूद इसके यह अपराध अब भी थमने का नाम नहीं ले रहा है। स्त्रियों के प्रति अपराध, हिंसा, यौन उत्पीड़न निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। सदियों से स्त्री को वस्तु, पुरुष के हाथों की सम्पत्ति ही मानने वाले पुरुष सत्तात्मक समाज पर व्यंग्य करती हुई कवयित्रि रंजना जायसवाल कहती हैं-

''मैं पुरुष हूँ और जब मैं पुरुष हूँ
तो स्त्री सम्पत्ति है मेरी
खरीद दूँ, बेचूँ, बंधक रखूँ
मारूँ, जलाऊँ या नष्ट करूँ
यह मेरी मर्जी है वैसे भी इससे अधिक क्या
उपयोग है स्त्री का।''[10]

स्त्री है जो पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलना चाहती है, एक पुरुष है कंधे तक आयी स्त्री के आगे न बढ़ जाने के डर से उसे दबाने डराने की भरसक कोशिश में लगा रहता है। परिवार और समाज द्वारा की जाने वाली हिंसा इसी का एक रूप है।

समकालीन कविता इस व्यंग्य के जरिये अपने तेजाबी प्रश्नों की बौछार करती है। इसका विरोध करती है, अस्वीकृति दर्ज करती है।

घरेलू हिंसा की शिकार पढ़ी-लिखी, कामकाजी स्त्रियाँ भी हो रही हैं। सदियों की चुप्पी और खोखली मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए वह पुरुष का अमानवीय व्यवहार सहने को विवश हैं। कात्यायनी के कविता के सहारे कहें तो-

''वे/हमें/हमारे वजूद की/याद दिलाते हैं/अहसास कराते हैं/एक वजूदवाली औरत को/प्यार करने का/उस पर काबू करने का/मजा ही कुछ और है।''[11]

कुमार अम्बुज की कविता 'किवाड़' भी समाज के वहशी वासनाओं से भरे उन पुरुषों का पर्दाफाश करती है जिनके लिए स्त्री मात्र एक खिलौना है चाहे उनकी उम्र भले ही गुड्डे-गुड़ियों के खेलने वाली क्यों न हो।

आज के संवेदनहीन समय का समाज स्त्रियों के लिए और भयावह एवं क्रूर होता जा रहा है। तेजी से पाँव पसारते बाजारवाद ने स्त्रियों की स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया है। बाजार और मीडिया ने स्त्री के लिए एक नया रीतिशास्त्र रच दिया है, वहाँ विक्रेता भी बढ़ी है, और वस्तु भी बढ़ी। कात्यायनी के शब्दों में कहें तो- ''आज बदले पूँजी चरित्र में भारतीय सामाजिकी-सांस्कृतिकी को इस उत्तर समाज में रुग्ण और बीमार बना दिया है जिसकी सर्वाधिक शिकार स्त्रियाँ है।''

निम्न वर्ग की कामकाजी, आदिवासी महिलाओं की स्थिति तो और अधिक दयनीय है। उन्हें भी पूँजीवाद विकृति के शिकार पुरुषों की हिंसा झेलनी पड़ती है-

''डाक बंगले में आदिवासी भील कन्या
होनी चाहिए यहाँ
आयें हम तो लगे कि
हम यहाँ के जनजीवन के अंग हैं
पर्यटकों के लिए
नौकरानी ऐसी हो
कि हर बात में हँसे खिलखिलाकर
जंगली फूल चिटक गये हों।''

समकालीन कविता में पुरुष मानसिकता का चित्रण भी मिलता है और समाज के लिए सीख भी मिलती है कि स्त्रियों के प्रति अपना दृष्टिकोण, अपना नजरिया बदलें। नारी कोई चीज, कोई वस्तु नहीं है, वह भी इंसान है।

अनामिका की कविता 'कहती हैं औरतें' कुछ यही बयान करती है-

''भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के दुःख की तरह
एक दिन हमने कहा
हम भी इंसान हैं
हमें भी कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी0ए0 के बाद नौकरी
का पहला विज्ञापन।''

समकालीन कवि ने स्त्री जीवन के तमाम संघर्षों को परखते हुए, उसकी भावनाओं से गहरे जुड़ते हुए, उसके को आत्मसात करते हुए अपनी लेखनी चलाता है। कहीं तो वह स्त्री दुःखों के बरअक्स अपनी कविता को अपर्याप्त मानता है।

इब्बार रब्बी अपनी कविता 'रोती हुई औरतें' में लिखते हैं-

''मैं भींग रहा था
वह रो रही थी
ढीला हुआ तनाव
चाहकर भी पोंछ नहीं सका आँसू
यही, बिल्कुल यही
कविता लिखता रह गया.....''

स्त्री देवी है, गौरवशाली है, पूज्य है ये सारे शब्द तब तक बेमानी होंगे जब तक स्त्री को उसके सम्मान के साथ स्वीकार नहीं किया जायेगा। इस तरह के ''आप्त वाक्यों' से स्त्री का भविष्य नहीं सँवर सकता।

स्त्री सदियों से महत्वपूर्ण होते हुए भी हाशिये पर डाल दी जाती रही है, उसे हमेशा से अपमान, उत्पीड़न, हिंसा का शिकार होना पड़ा है। मीरा के रूप में हमारे सामने ऐतिहासिक सच्चाई मौजूद है। स्त्री को उपदेश और नसीहतें तो असंख्य मिलीं लेकिन प्रेरणा और आश्वासन बहुत कम मिला। समकालीन कविता ने न सिर्फ स्त्री के संघर्षों, चुनौतियों को व्यक्त किया है बल्कि उसकी संवेदनाओं से गहरे जुड़ते हुए स्त्री मन को विश्वास की रोशनी से सराबोर करने का प्रयास भी किया। इस कठिन समय में समकालीन कविता स्त्री को मनुष्य रूप में स्थापित करने की जद्दोजहद के साथ उपस्थित होती है।

संदर्भ सूची

1. सबूत (काव्य संग्रह)- अरूण कमल, 'एक बार भी बोलती' (कविता), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1989, नवीनतम संस्करण 2004, पृ0सं0 19
2. आज की कविता- विनय विश्वास, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2009, नई दिल्ली, पृ0सं0 124
3. भय भी शक्ति देता है- लीलाधर जगूड़ी, राजकमल प्रकाशन, वर्तमान संस्करण 2007, पृ0सं0 92
4. आवाज भी एक जगह है- मंगलेश डबराल, स्त्रियाँ (कविता), प्रथम संस्करण 2000, वाणी प्रकाशन, पृ0सं0 16
5. इस पौरुपूर्ण समय में- कात्यायनी, परिकल्पना प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1999, दूसरा संस्करण 2008, पृ0सं0 65
6. दुःस्वप्न भी आते हैं- अष्टभुजा शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ0सं0 113
7. लकड़बग्घा हँस रहा है- चन्द्रकान्त देवताले, संभावना प्रकाशन, रेवतीकुंज, हापुड़, प्रथम संस्करण 1980, पृ0सं0 17
8. बहनें और अन्य कविताएँ- असद ज़ैदी, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980, पृ0सं0 24
9. समकालीन कविता का यथार्थ- परमानन्द श्रीवास्तव, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण, पृ0सं0 236
10. युद्धरत आम आदमी- सम्पादक- रमणिका गुप्ता, अंक-90, जनवरी-मार्च- 2008, नई दिल्ली, पृ0सं0 43
11. जादू नहीं कविता- कात्यायनी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ0सं0 94

●

'अंधेरे में' की मूल संवेदना

*डॉ0 सत्यपाल शर्मा**

मुक्तिबोध के काव्य में उनकी संवेदना का फलक इतना व्यापक है कि उनकी मूल संवेदना तक पहुँचने में कठिनाई होती है। इसका प्रमाण मुक्तिबोध की एक लम्बी कविता 'अंधेरे में' है, जो हिन्दी की सर्वाधिक चर्चित कविताओं में एक है। इसको लेकर हिन्दी आलोचना में काफी विवाद रहा है। इसका कारण जहाँ एक तरफ आलोचकों का अपना बुद्धि-कौशल और वर्चस्व की लड़ाई है वहीं दूसरी तरफ इसका कारण 'कविता' के कथ्य और संवेदना का व्यापक होना भी है।

मुक्तिबोध की काव्य संवेदना पर चर्चा करने से पूर्व 'अंधेरे में' कविता के मूल कथ्य और मूल संवेदना पर प्रमुख आलोचकों के मतों का उल्लेख कर देना उचित होगा, क्योंकि एक तो वे काफी रोचक हैं और दूसरे इनसे मुक्तिबोध की संवेदना को समझने में सहायता मिल सकती है। नामवर सिंह ने लिखा है- ''निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है- अस्मिता की खोज।''[1] रामविलास शर्मा ने लिखा है- '' 'अंधेरे में' कविता की मूल समस्या यही है- मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी सर्वहारा वर्ग से तादात्मय कैसे स्थापित करे।''[2] विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसे 'संघर्ष पुरुष की स्वप्नकथा' कहा तो श्रीकान्त वर्मा ने 'कविता का हिन्दुस्तान'- ''यह काव्यनायक बेचैन, खंडित, जर्जर, व्यग्र हिन्दुस्तान है। यह स्वाधीनता के बाद का भारतवर्ष है, जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है।''[3] शमशेर बहादुर सिंह ने कहा कि ''यह कविता देश के आधुनिक जन इतिहास का, स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है।''[4]

निर्मला जैन ने इसे 'अंतस्तल का पूरा विप्लव' कहा। नन्द किशोर नवल ने लिखा कि ''अंधेरे में की मूल वस्तु है देश में कायम फासिस्ट हुकूमत और उससे लगा हुआ है, उस परिस्थिति में एक सचेत और प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष।''[5] बच्चन सिंह 'अंधेरे में' की मूल समस्या वर्गान्तरण मानते हैं'- ''वास्तविक समस्या वर्गान्तरण की है- अपने मध्यवर्गीय व्यक्तित्व को सर्वहारा वर्ग में अन्तरित करने की समस्या ।''[6] चंचल चौहान ने नामवर सिंह की बात को सिरे से खारिज करते हुए कहा- ''मुक्तिबोध की किसी भी कविता का मूल कथ्य 'अस्मिता की खोज' नहीं है बल्कि उनके काव्य का संवेदनात्मक उद्देश्य है-अस्मिता का विलय, 'व्यक्तित्वांतर',सर्वहारा वर्ग में अपनी मध्यवर्गीय अस्मिता का विलय।''[7]

'अंधेरे में' के मूल कथ्य और मूल संवेदना के बारे में उपर्युक्त विद्वान आलोचकों की मत-भिन्नता इस बात का घोतक है कि मुक्तिबोध की संवेदना बहुत व्यापक है जिसे आलोचकों ने अपनी बुद्धि व समझ से अनुभव किया। अर्थ संभावनाओं के द्वार अभी बन्द न हीं हुए हैं तभी तो परमानन्द श्रीवास्तव कहते हैं- '' 'अंधेरे में' कविता नई अर्थ संभावनाओं के द्वार बन्द नहीं करती ।''[8] यह इस कविता की संवेदनात्मक गहराई को सूचित करता है। कविता अर्थ और अनुभूति का जितना विस्तार करती है, वह उतनी ही बड़ी कविता होती है। निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि 'अंधेरे में' कविता मुक्तिबोध की संवेदना को व्यापक फलक पर प्रस्तुत करती है।

मेरे विचार से मुक्तिबोध के काव्य की संवेदना को समझने के लिए आलाचकों के आपसी विवादों से गुजरने की अपेक्षा मुक्तिबोध की कविता से गुजरना ज्यादा बेहतर है। मुक्तिबोध की कविता तनाव, बेचैनी, छटपटाहट, द्वन्द्व और संघर्ष से उपजी है। 'अंधेरे में' कविता का केन्द्र बिन्दु है संघर्ष, जिसे आत्मसंघर्ष भी कह सकते हैं। यह आत्मसंघर्ष सिर्फ कवि या काव्यनायक का नहीं है बल्कि उस मध्यवर्ग का है जो अपने समाज और जन के प्रति जागरूक है, जिसके अन्दर यथार्थ की समझ और संवेदना है, जो अपने दायित्व से परिचित है लेकिन अपनी परिस्थितियों और संस्कारों की घेराबन्दी को तोड़कर संघर्ष के मार्ग पर कदम बढ़ाने में अपने असमर्थ पाता है क्योंकि उसे अपनी कमजोरियों से लगाव है-

''यह भी तो सही है कि
कमजोरियों से ही मोह है मुझको ।''[9]

काव्यनायक को 'रक्तालोक स्नातपुरुष 'दिखाई पड़ता है। यह पुरुष सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, जो संघर्षरत है क्योंकि उसकी पीठ पर नहीं बल्कि वक्ष पर घाव है-

''किन्तु, वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने है?
उसका स्वर्ण-वर्ण मुख मैला क्यों?
वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया?

* * * * * * *

रोटी उसे कौन पहुँचाता है?
कौन पानी देता है? ''[10]

मुक्तिबोध की संवेदना इसी वर्ग के साथ है। 'रक्तालोक स्नात पुरुष' काव्यनायक को प्रिय है, वह उससे मिलकर एकमेक हो जाना

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चाहता है। यह 'पुरुष' काव्यनायक के अन्दर का पुरुष है, उसकी अभिव्यक्ति है-

''वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है।''[11]

''संघर्षरत पुरुष' और वाचक (काव्यनायक) एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं जिनमें द्वन्द्व चलता है। मुक्तिबोध की कविता इसी द्वन्द्व व तनाव की उपज है-

''हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिमा ।''[12]

काव्यनायक इस तनाव से उबरकर आत्मनिश्चय करता है-
''नहीं, नहीं, उसको मैं छोड़ नहीं सकूँगा
सहना पड़े मुझे चाहे जो भले ही ।''[13]

यह कवि के अंतर्द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष का अनूठा उदाहरण है और इससे गुजरते हुए लिया गया संकल्प उतना ही महत्वपूर्ण है । लेकिन विडम्बना यह है कि सारी कथा स्वप्न में चलती है और वह 'रक्तालोक स्नातपुरुष' गायब हो जाता है फिर भी काव्यनायक का उपयुक्त निश्चय कम महत्वपूर्ण नहीं है, जो मुक्तिबोध के संकल्प और संवेदना को प्रदर्शित करता है । मुक्तिबोध के काव्य की फैंटेसी कहने को स्वप्न है, पर उसका संबंध जीवन की ठोस और कठोर सच्चाई से है। वस्तुतः मुक्तिबोध की संवेदना इतनी व्यापक और गहरी है कि उसे व्यक्त करने के लिए फैंटेसी जैसा माध्यम ही उपयुक्त हो सकता था । 'अंधेरे में' कविता में काव्यनायक को तालस्ताय का दिखना अनायास नहीं है । काव्यनायक की संवेदना तालस्ताय की मानवीय संवेदना जैसी ही है-

''अनलिखे मेरे उपन्यास का
केन्द्रीय संवेदन''[14]

जीवन के सत्य और समाज के यथार्थ की पकड़ 'संवेदनात्मक ज्ञान' के बिना संभव नहीं है । काव्यनायक को संवदेनात्मक ज्ञान या ज्ञानात्मक संवदेन प्राप्त है-

''सब सोये हुए हैं
लेकिन मैं जागकर देख रहा
रोमांचकारी वह जादुई करामात'' [15]

मुक्तिबोध जिस व्यवस्था में रहे हैं, उसमें उन्होंने सत्ता की तानाशाही, उसका आतंक, बुद्धिजीवी वर्ग की स्वार्थपरकता, मध्यवर्ग की किंकर्तव्यविमूढ़ता, निष्क्रियता और निम्न-शोषित वर्ग की दयनीय स्थिति देखी है। स्वाभाविक रूप से मुक्तिबोध की संवेदना शोषित वर्ग के साथ है। 'अंतःकरण का आयतन' में मुक्तिबोध ने साफ कहा है कि- ''क्या उत्पीड़कों के वर्ग से होगी न मेरी मुक्ति।''[16] 'अंधेरे में', कविता में काव्यनायक अपने संवेदनात्मक ज्ञान के सहारे पूरे शोषक वर्ग को नंगा देख रहा है। 'जुलूस' में साहित्यकार, कवि, मंत्री, उद्योगपति, पत्रकार सभी शामिल हैं। ये पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक हैं । ये शोषित जनता के उत्पीड़न के लिए जिम्मेदार हैं। इनका राक्षसी स्वार्थ उभर आया है-

''यहाँ ये दीखते हैं भूत-पिशाच-काय
भीतर का राक्षसी स्वार्थ अब
साफ उभर आया है
*** * * * * * ***
यह शोभा यात्रा है किसी मृत्यु दल की ।''[17]

मुक्तिबोध अपने संवेदानात्मक ज्ञान या ज्ञानात्मक संवेदन से इनके द्वारा किये जाने वाले षड्यंत्रों को जानते हैं-

''परंतु दिन में
बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यंत्र
विभिन्न दफ्तरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों में ।''[18]

जुलूस 'एक स्वप्न कथा' में भी प्रकट होता है और 'चकमक की चिनगारियां' से पता चलता है कि यह सत्ता पर्चे जब्त करती है, किताबों को गैरकानूनी घोषित कर पाबंदी लगाती है । उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध की पुस्तक 'भारत इतिहास और संस्कृति' पर शासन ने प्रतिबंध लगाया था । अपनी सारी शालीनता के बावजूद यह संस्कृति अपने नग्न बर्बर रूप को छिपाने में असमर्थ रहती है । ऊपर से देखने पर यह व्यवस्था चाहे जितनी भयानक हो, पर वस्तुतः है 'लकड़ी का रावण' ही । इस व्यवस्था के आंतरिक खोखलेपन का मुक्तिबोध ने प्रायः संकेत किया है ।

'अंधेरे में' कविता के नायक ने उपर्युक्त षड्यंत्रकारियों को देख लिया है । सत्ता के समर्थक ये षडयंत्रकारी अपनी करतूतों को उजागर होते कैसे देख सकते हैं । इसलिए उन्होंने काव्यनायक को जान से मारने की कोशिश की-

''मारी गोली, दागो स्साले को एकदम
दुनिया की नज़रों से हटकर

छुपे तरीके से
हम जा रहे थे कि

आधी रात अंधेरे में उसने
देख लिया हमको

व जान गया वह सब
मार डालो, उसको ख़तम करो एकदम ।''[19]

तानाशाही सत्ता का यही नग्न चित्र है जिसे मुक्तिबोध ने अपनी संवेदना से जाना है । वह जन क्रान्ति को कुचलने के लिए, जन सामान्य के दमन के लिए मार्शल लॉ भी लगाती है-

''किसी जन क्रांति के दमन-निमित्त यह
मार्शल ला है!''[20]

वह हर उस आदमी का पीछा करती है जो व्यवस्था के विरुद्ध जनक्रांति या विद्रोह में कहीं न कहीं शामिल है । मुक्तिबोध की संवेदना में एक आम व्यक्ति का भय व्यक्त हुआ है । मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी प्राण रक्षा के लिए भागता रहता है क्योंकि उसने सत्ता या उससे जुड़े लोगों की सच्चाई जान ली है-

''भागता मैं दम छोड़
घूम गया कई मोड़ ।''[21]

कविता में यहाँ आकर लगने लगता है कि यह व्यक्ति भी सर्वहारा की तरह ही उत्पीड़ित है । अतः पाठक की संवेदना उससे जुड़ती है और सत्ता के प्रति घृणा उपजती है । दमनकारी सत्ता का आतंक सच्चे, ईमानदार, जागरूक मध्यवर्ग पर और सर्वहारा वर्ग पर छाया रहता है । मुक्तिबोध की संवेदना ने इस यथार्थ को उजागर किया है । मुक्तिबोध की कविताओं में 'बरगद' के पेड़ का उल्लेख कई जगह है । मुक्तिबोध को उन चीजों से लगाव है जो शोषित उपेक्षित की सहायता करती हैं । 'बरगद' सभी उपेक्षितों को आश्रय देता है-

''भयंकर बरगद
सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों,
गरीबों का वही घर, वही छत ।''[22]

दुनिया के महान् साहित्यकारों ने भयानक युगीन संकट के विरुद्ध सत्य का निर्भीक पक्ष ले सकने वाले चरित्र के रूप में 'पागल' का सृजन किया है । सामान्य मनुष्य में सत्य की त्वरा के प्रतिकूल पड़ने वाले तमाम दबाव होते हैं । मुक्तिबोध का सिरफिरा पागल भी पूरी निर्ममता के साथ मध्यवर्ग के स्वार्थ पर चोट करता है-

''अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया !!

*** * * * * * ***

बहुत –बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम;
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम !!''[23]

आत्मभर्त्सना का ऐसा प्रखर स्वर निराला के अतिरिक्त दूसरे कवि की रचनाओं में दिखाई नहीं देता । यह आत्मभर्त्सना वस्तुतः मध्यवर्ग की आत्मभर्त्सना है । मुक्तिबोध की कविता में 'आत्म संघर्ष' प्रमुख है । ''अंधेरे में' कविता में आत्मसंघर्ष की यह चरम चरम परिणति है-

''मैं खड़ा हो गया खुद ही के सामने
निज की ही घन-छाया-मूर्ति-सा गहरा
होने लगी बहस और
लगने लगे परस्पर तमाचे ।''[24]

'अंधेरे में' कविता में तिलक और गांधी का जिक्र अनायास नहीं है । वस्तुतः ये कवि अथवा काव्यनायक की संवेदनात्मक स्थिति के अनुकूल हैं । जहाँ तिलक की नासिका से खून बहता देखकर काव्यनायक संघर्षरत होने की प्रेरणा लेता है वहीं गांधीजी का यह संदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है-

''हम हैं गुजर गए जमाने के चेहरे
आगे तू बढ़ जा ।

*** * * * * * ***

जनता के गुणों से ही संभव
भावी का उद्भव ।''[25]

यह मुक्तिबोध की संवेदना है जिसके केन्द्र में 'जन' है। मुक्तिबोध इसी 'जन' का उत्थान और कल्याण चाहते हैं । यहीं संकेत मिल जाता है कि कविता आगे किस तरफ अग्रसर होगी । काव्यनायक को उस बालक से भी प्रेरणा मिलती हैं जिसे गाँधीजी ने सौंपा था । वह चुप कराने के बावजूद चुप नहीं होता जबकि काव्यनायक अपनी वर्गीय कमजोरियों, स्वार्थ, भय आदि के कारण वह न कर सका जो वह चाहता था-

''जिसको न मैं इस जीवन में कर पाया
वह कर रहा है ।''[26]

आत्मसंघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरते हुए काव्यनायक सर्वहारा के साथ संघर्ष में कूदने को तैयार हो जाता है । इसलिए उसे नये क्रान्तिकारी साथियों की तलाश है-

''एकदम जरूरी दोस्तों को खोजूँ
पाऊँ मैं नये-नये सहचर
सकर्मक सत्-चित्-वेदना भास्कर !''[27]

संघर्ष में कूदते ही वह आततायी सत्ता के द्वारा पकड़ा जाता है । उसकी स्क्रीनिंग होती है । 'अंधेरे में' कविता में मुक्तिबोध की संवेदना परंपरागत भारतीय आदर्श 'सत-चित-आनंद' का अनुभव नहीं करती है । यह विचारणीय है कि कवि को सत् और चित् मिलकर आनंद उपलब्ध नहीं कराते बल्कि वेदना उत्पन्न करते हैं । वस्तुतः यह मुक्तिबोध की संवेदना की गहराई है जो युग सत्य को जानती है । समाज की वास्तविक स्थिति देखकर, शोषित-सर्वहारा का उत्पीड़न देखकर चेतनायुक्त व्यक्ति को वेदना ही मिलेगी । यह वेदना नागार्जुन जैसे कवियों के यहाँ भी है । 'अंधेरे में' एक बार नहीं बल्कि कम से कम तीन बार 'सत्–चित्–वेदना' का प्रयोग है, यथा-

''आत्मा में भीषण
सत्–चित्–वेदना जल उठी, दहकी ।''[28]

मुक्तिबोध वेदना से दुःखी ही नहीं होते बल्कि उस वेदना को समाप्त करने के लिए रास्ता भी बताते हैं । इसके लिए अभिव्यक्ति

के खतरे उठाने होंगे। गढ़ों और मठों को तोड़ना होगा तभी हमें हमारा प्राप्य मिलेगा। ये गढ़ और मठ सिर्फ साहित्यिक ही नहीं हैं बल्कि सामाजिक और राजनीतिक भी हैं। शब्द और कर्म दोनों स्तर पर अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात कही गई है। मुक्तिबोध का यह निष्कर्ष जो काव्यनायक के माध्यम से कहा गया है, दूरगामी संकेत करते हुए संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। यहाँ मुक्तिबोध की संवेदना का चरम विकास परिलक्षित होता है-

''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार''[29]

ध्यातव्य है कि कविता के आरंभ में जहाँ काव्यनायक कहता है कि 'मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा' अब वह अभिव्यक्ति के सारे खतरों को उठाकर भी दुर्गम पहाड़ों की यात्रा करना चाहता है। 'अंधेरे में' कविता के केन्द्र में यही द्वन्द्व और उससे बाहर निकलना है। कवितानायक के विचार मजदूरों के आंदोलन को प्रेरित कर रहे हैं क्योंकि कोई उसे पर्चा दे जाता है, उसमें काव्यनायक के ही गुप्त विचार, दबी हुई संवेदनायें हैं-

''उसमें तो मेरे ही गुप्त विचार व
दबी हुई संवेदनायें व अनुभव
पीड़ाएँ जगमगा रही हैं ।''[30]

पूँजीवाद के बारे में मुक्तिबोध की निम्नलिखित पंक्तियों उनके गहरे संवेदनात्मक ज्ञान का परिचय देती हैं-

''वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता।''[31]

आत्मसंघर्ष का गहरा संबंध बाह्य संघर्ष से होता है। नामवर सिंह के शब्दों में ''सामाजिक संघर्ष में भाग लेकर ही आत्मसंघर्ष को निर्णायक दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है।''[32] हम देखते हैं कि मुक्तिबोध की कई कविताओं का अन्त हड़ताल या जन आंदोलन के आरंभ से होता है और काव्यनायक कभी द्रष्टा होता है और कभी प्रेरक । 'अंधेरे में' कविता के अन्त में भी जनक्रान्ति होती है- 'कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई' – जनक्रांति होगी तो ऐसा होगा ही। इस क्रान्ति में दादा का सोंटा, कक्का की लाठी भी है। क्रान्ति की सकर्मकता में संदेह न हो इसलिए आश्वस्त करना जरूरी है कि-

''यह कथा नहीं है, यह सब सच है, हाँ भई ''[33]

जब क्रान्ति कथा न रहकर वास्तविकता हो जाय तो यह आत्मविश्वास स्वाभाविक है कि 'अब युग बदला है वाकई'। इस बदले युग की पहचान है 'मेरे युवकों में होता व्यक्तित्वांतर'। मध्यवर्ग का जागरूक, संवेदनशील व्यक्ति सर्वहारा के साथ आ रहा है- यह कवि या काव्यनायक का विश्वास है। 'हर चीज जब अपनी' कविता में भी मुठभेड़ की बात कही गई है-

''बराबरी का हक, बराबरी का दावा
नहीं तो मुठभेड़ और धावा ।''[34]

'अंधेरे में' कविता में क्रान्ति के समय बुद्धिजीवी वर्ग चुप है कवि को इस वर्ग से घृणा है क्योंकि यह वर्ग क्रीतदास है । यह वर्ग सत्ता का दास है। कवि को इस वर्ग की यह स्थिति देखकर गहरी पीड़ा होती है क्योंकि वे अपने सुख-भोग में लगे हुए हैं-

''सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं

*** * * * * * ***
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग
नपुंसक भोग-सिरा-जालों में उलझे ।''[35]

निराला के 'बादल राग' में भी वे क्रान्ति की बेला में 'अंगना अंग से लिपटे, आतंक अंक पर काँप रहे हैं, त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।' मुक्तिबोध की संवेदना में इस बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति जितनी घृणा है उतनी ही सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति। यह सहानुभूति जनक्रान्ति का रूप धारण करती है। 'आत्म' का 'जन' में विलय करती है। 'अंधेरे में' की सारी कथा स्वप्न में है लेकिन इससे मुक्तिबोध की समझ, चेतना और संवेदना स्वप्निल नहीं हो जाती। वह युगीन यथार्थ से उपजी है। स्वप्न तो सिर्फ माध्यम है- अपनी संवेदना को व्यक्त करने के लिए। कविता का अंत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें वह पुरुष, जो काव्यनायक की परम अभिव्यक्ति है, किसी जन-यूथ में शामिल होकर खो जाता है-

''वह फिर खो गया किसी जन यूथ में''[36]

काव्यनायक के अंदर का नायक 'वह व्यक्ति' ही काव्यनायक का आदर्श है जो उसे पहले 'रक्तालोक स्नात पुरुष' के रूप में पहले भी मिला था। उसका जन-यूथ में खो जाना मुक्तिबोध की संवेदना को समझने में सहायक है। मुक्तिबोध जिस अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की बात करते हैं उसके लिए नायक को सर्वहारा जन के साथ होना पड़ेगा। इसीलिए काव्यनायक अपनी अभिव्यक्ति को खोज रहा है-

''खोजता हूँ पठार-पहाड़ समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई । परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा ।''[37]

निर्मला जैन ने लिखा है- ''खोज और उपलब्धि के बीच का अन्तराल दुर्लंघ्य है और खोजने की प्रक्रिया अन्तहीन। यही इस कविता का द्वन्द्व है।''[38] नामवर सिंह ने लिखा है- ''अंधेरे में का आधार अपने युग में विकासमान उत्थानशील शक्तियों का बोध है।

कविता के अन्तिम भाग में यही उत्थानशील शक्तियाँ क्रान्ति के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ती हैं ।''[39]

मुक्तिबोध की कविता में मध्यवर्ग का तनाव, द्वन्द्व, संघर्ष प्रायः व्यक्त हुआ है और 'मध्यवर्ग का आत्मसंघर्ष' ही मेरे विचार से मुक्तिबोध के काव्य की मूल संवेदना है। 'ब्रह्मराक्षस' में भी यही मध्यवर्ग है। 'भूल-गलती' में जो व्यक्ति कैद करके सत्ता के सामने लाया गया है वह 'अंधेरे में' के 'रक्तालोक स्नात पुरुष' की ही भाँति संघर्षरत है। मुक्तिबोध मध्यवर्ग के आत्मसंघर्ष को तीव्रतर बनाकर अन्ततः उसे सर्वहारा वर्ग के साथ लाना चाहते हैं। 'अंधेरे में' कविता में भी यह वर्गान्तरण (डिक्लास) लक्षित होता है। कुछ लोग आरोप लगाते हैं कि मुक्तिबोध की कविता निष्कर्ष नहीं देती लेकिन हम विचार करें तो पायेंगे कि यह कविता उसी दिन निष्कर्ष दे देगी जिस दिन मध्यवर्ग अपनी वर्गीय चेतना, स्वार्थलिप्सा, कमजोरियों को छोड़कर शोषित वर्ग के साथ आ जायेगा। पूँजीवाद के विनाश के लिए मध्यवर्ग शोषित वर्ग के साथ हो जाय-संभवतः मुक्तिबोध यही चाहते थे। उनकी कविता 'अंधेरे में' का काव्यनायक सदा आत्मसंघर्ष करते हुए सर्वहारा जन के साथ मिलना चाहता है। वह रहस्यमय व्यक्तियों उसके अवचेतन में है, उसे पाने का सतत् प्रयास, और उस रहस्यमय व्यक्ति के जन यूथ में शामिल हो जाने से मुक्तिबोध की संवेदना को समझने में भ्रम नहीं होना चाहिए। विश्वनाथ त्रिपाठी ने ठीक लिखा है कि ''उस रहस्यमय व्यक्ति को अवचेतन के अंधेरे से निकालकर जगत की गलियों में, सड़कों पर लोगों की भीड़ में ले आना ही इस कविता की सिद्धि है।''[40]

मुक्तिबोध की संवेदना युगीन सत्य, सामाजिक यथार्थ से संपृक्त है। 'अंधेरे में' कविता उनकी संवेदना को व्यापक फलक पर प्रस्तुत करती है। उसमें सिर्फ तनाव, द्वन्द्व, संघर्ष ही नहीं है बल्कि थोड़ी सी प्रणयानुभूति की भी झलक मिलती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है- ''मुक्तिबोध का ठाट किसी से मिलता है तो सिर्फ कबीर से। वैसी ही बेचैनी और कभी-कभी वैसी ही कोमलता।''[41] कबीर में सामाजिक विद्रोह का तीखापन और प्रणयानुभूति की कोमलता साथ-साथ मिल जाती है, ऐसा ही 'अंधेरे में' मुक्तिबोध का भी रचाव है जिसमें काव्यनायक अंधेरे के संपूर्ण अनुभवों, संघर्षों को याद करते हुए क्रान्तिकारी चेतना को प्रणयानुभूति के संदर्भ में स्मरण करता है-

''मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा
प्रेम कर लिया हो मनोहर मुख से
जीवन भर के लिए।''[42]

संदर्भ-सूची

1. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ0 221
2. अंतस्तल का पूरा विप्लव- अंधेरे में, सं0 निर्मला जैन, पृ0 78
3. वही, पृ0 106
4. वही, पृ0 109
5. अंधेरे में : इतिहास संरचना और संवेदना, सं0 बच्चन सिंह, पृ0 78
6. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, बच्चन सिंह, पृ0 279
7. अंधेरे में : इतिहास संरचना और संवेदना, सं0 बच्चन सिंह, पृ0 24
8. वही, पृ0 137
9. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कवितायें, सं0 अशोक वाजपेयी, पृ0 131
10. वही, पृ0 129
11. वही, पृ0 128
12. वही, पृ0 129
13. वही, पृ0 132
14. वही, पृ0 135
15. वही, पृ0 136
16. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ0 232
17. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कवितायें, सं0 अशोक वाजपेयी, पृ0 138
18. वही, पृ0 139
19. वही, पृ0 138
20. वही, पृ0 140
21. वही, पृ0 140
22. वही, पृ0 140
23. वही, पृ0 142
24. वही, पृ0 143
25. वही, पृ0 151-152
26. वही, पृ0 153
27. वही, पृ0 156
28. वही, पृ0 132
29. वही, पृ0 161
30. वही, पृ0 163
31. वही, पृ0 131
32. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ0 237
33. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कवितायें, सं0 अशोक वाजपेयी, पृ0 167
34. वही, पृ0 165
35. वही, पृ0 170
36. अंधेरे में : इतिहास संरचना और संवेदना, सं0 बच्चन सिंह, पृ0 100
37. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कवितायें, सं0 अशोक वाजपेयी, पृ0 171

38. अंतस्तल का पूरा विप्लव- अंधेरे में, सं0 निर्मला जैन, पृ0 97
39. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ0 252
40. अंतस्तल का पूरा विप्लव- अंधेरे में, सं0 निर्मला जैन, पृ0 38
41. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 237
42. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रतिनिधि कवितायें, सं0 अशोक वाजपेयी, पृ0 169

●

दक्षिण की भक्त कवयित्री आंडाल : स्त्री चेतना का क्रान्तिकारी स्वर

डॉ0 उर्वशी गहलौत[*]

मोहिनी मूरत की 'बाँकी सूरति' पर तन मन धन समर्पित करके, जिस भाँति कवयित्री मीरा ने प्रीत के पीर से पगे गीतों का सृजन किया था, उसी भाँति तमिलनाडु की तरूण कवयित्री आण्डाल ने भी मनमोहन को अपना अराध्यदेव मानकर पति स्वरूप में ग्रहण किया। यों ही नहीं आण्डाल को 'दक्षिण की मीरा' कहलाने का गौरव प्राप्त है। मीरा की भाँति ही आण्डाल ने भी किसी अन्य पुरुष को अपना पति मानने से स्पष्ट इंकार कर दिया और मात्र 16 वर्ष की अल्पायु में ही सशरीर भगवान रंगनाथ को प्राप्त कर लिया। मीरा और आण्डाल की कृष्ण भक्ति इतनी मिलती-जुलती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन अधिक प्रेम-दिवानी थी।

आण्डाल का समय 767 शती (लगभग 7वीं सदी) ठहरता है। आण्डाल की जीवन कथा भी कम रोचक नहीं है। एक लोककथा के अनुसार संत पेरियालवार अपनी वाटिका में जब पुष्प तोड़ रहे थे तभी उन्हें पुष्पों के एक हार में लिपटे हुए नवजात शिशु के दर्शन हुए। वे इस नवजात शिशु कन्या को प्रभु का वरदान समझकर उठा ले आये और बड़े यत्नपूर्वक उसका पालन-पोषण किया। बाद में यही शिशु 'कोदै' या 'आण्डाल' के रूप में प्रज्ज्वलित हुई। पेरियालवार की कुटी के सरस भक्तिमय वातावरण में पलने के कारण बालिका आण्डाल के मन पर भगवान् कृष्ण का सर्वांग सुन्दर और मनमोहक रूप ऐसा अंकित हुआ कि उसने बचपन से ही कृष्ण को अपना पति मान लिया। आंडाल का समर्पण भाव गोपियों से भी बढ़कर है। उसमें न योग है, न प्राणायाम, न आसन, न पूजा, न पाठ। उसमें सिर्फ और सिर्फ गहन समर्पण ही प्रधान है। श्रीकृष्ण रूपी ईश्वर में जिस प्रकार गोपियाँ डूब जाती हैं, अपना अस्तित्व भूल जाती हैं, उनका अहं भाव कबीर की तरह ही तिरोहित हो जाता है। प्रेम के अतिरेक में दो का अस्तित्व नहीं रहता, दोनों एकाकार हो जाते हैं। एक रूप, एक रंग हो जाते हैं। यही रासलीला है। आत्मा परमात्मा की चरम क्रीड़ा है। ''प्रेम गली अति सांकरी ता में दो न समाही''। आण्डाल ने कबीर के इस दोहे को चरितार्थ कर दिखाया। प्रेम भाव मनुष्य को असंभवकार्य करने को भी प्रेरित करता है। भक्ति प्रेम का रसात्मक रूप है। भजन भक्त का गीत-संगीतमय उपहार है। गीत-संगीत के सोपान चढ़ते-चढ़ते भक्त उस दिव्य अनुभूति के लोक में पहुँच जाता है, जहाँ उसे आत्मसाक्षात्कार होता है। रस का ब्रह्मानंद सहोदरत्व यही है। गीत-संगीत वह सूक्ष्म मार्ग है जिस पर धीरे-धीरे आरोहण कर मनुष्य की चेतना आत्म-साक्षात्कार की उदात्त भूमि पर पहुँच जाती है। संगीत वस्तुतः आत्मा की ही आवाज बन प्रस्फुटित होता है। भक्ति सामान्यतः व्यक्तिनिष्ठ होती है, पर जब वह समष्टिगत हो जाती है तो वह समाज श्रेयस का मार्ग बन जाती है। भक्त अपनी चेतना का विस्तार कर संसार से जुड़ जाता है। पेरियालवार की पोषित पुत्री कौदे अपने बाल-किशोर सुलभ क्रिड़ाओं में कृष्ण को समर्पित पुष्प मालाओं को पहले स्वयं पहनती है फिर कृष्ण को पहनाती है, जब यह बात उनके पिता को पता चलता है तो वे क्रोधित होते हैं। भला किसमें इतना साहस था कि अपनी जूठित मालाओं को ईश्वर को समर्पित करता? अस्वीकार का साहस, यह दृढ़ता सिर्फ और सिर्फ आण्डाल में हो सकती थी। तमिल भाषा में आंडाल का अर्थ ही है शासिका। आंडाल कोई मामूली शासिका नहीं है। अपने वचनों, आचरणों से, अपने पालनकर्ता पिता का, सुहृदय परिसरवासियों का, यहाँ तक कि अपने क्षेत्र में देवालयों में स्थित वटपत्रसायी विष्णु का भी हृदय उसने जीत लिया और उनपर आजीवन और जीवनोपरांत भी शासन किया, राज किया। आंडाल का प्रेम ही मन के उद्‌गार स्वरुप कविता बनकर प्रस्फुटित हुए। परिणामतः आण्डाल की कविताओं में निहित प्रेम को, पीर की तड़पन को देखकर बरबस ही मीरा की याद आ जाती है-

''घायल की गति घायल जाणै और न जाणे कोय
हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरौ दरद न जाणे कोय

किन्तु प्रेम के दर्द को पहिचानने वाली एक और भी थी जिसका हृदय सिद्दत से विरह में दग्ध था, जिसका वाणी में भाव विह्वलता पगी हुई थी-

नीले कालीन की भाँति
आकाश में घिरे हुए बादलों!
मोती बरसाने वाले
हे महादानी बादलो!
तुम्ही बोलो न!
कुछ तो बताओ साँवरे की बात
मेरे उर में भड़की रही है-
आग,
मलय-पवन बरसा रही है-
आग,
और मैं इस आधी रात्रि में

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इस दुधारी आग से झुलसती हूँ
तरस खाओ,
मेरी इस दशा पर।

हिन्दी साहित्य में विरह की इतनी तीव्रता और वेदना घनानंद की कविता में दिखाई पड़ती है। ध्यातव्य है कि सहस्त्रों कोस की दूरी पर तमिल प्रदेश में बैठी हुई तरुण सुन्दरी आण्डाल कल्पना के रथ पर सवार हो देशकाल और स्थान की सीमाएँ लाँघ डालती हैं और घनानंद तथा मीरा की भाँति वृन्दावन की गोपिका बन जाती है। अपने कृष्ण कन्हैया के साथ रास रचाती है, क्रीड़ा करती हैं। कभी स्वयं कृष्ण अपनी नटखट लीलाओं का दिग्दर्शन कराते हैं तो कभी वे समस्त गोपिकाओं के जिनमें आण्डाल भी सम्मिलित है, के वस्त्र हरकर वृक्ष पर जा चढ़ते हैं, नाना प्रकार से उन्हें खिझाते हैं। कल्पना लोक से जब लौटकर आण्डाल यथार्थ की भावभूमि पर आती है तो स्वयं को पाती है विरहणी के रूप में। उस विरह में वह दीवानी हो जाती है और कभी-कभी कृत्रिम क्रोध भी अपने कृष्ण के ऊपर उतारती है-

उस प्रियतम ने,
मेरी यह क्या दशा कर दी है?

सखि,
मैं अब किससे करूँ फरियाद।

तमिल भक्त कवयित्री आंडाल ने पुष्पमालाओं और काव्यमालाओं से, परिपूर्ण समर्पण भाव से ईश्वर-भक्ति का एक श्रेष्ठतम प्रतिमान प्रस्तुत किया। उनके 30 पदों के मुक्तक-संग्रह 'तिरुप्पावै' को विशेषकर श्रीवैष्णव संप्रदाय में वही सम्मान प्राप्त है जो श्रीमद् भागवत को। आंडाल की रचनाएँ तमिल भाषा और साहित्य की अनुपम निधि है। आंडाल की भक्ति का स्वरूप वैष्णव भक्ति-परंपरा में अद्‌भुत है। वह बारह वैष्णव संत आलवार संतों में एकमात्र स्त्री संत है। यह क्या किसी स्त्री के लिए कम साहस की बात होगी कि वह अपनी भक्ति के दमपर भक्त पुरुष समाज में अपनी पहचान बनाने का सामर्थ्य रखती है। तमिल प्रदेश में देवालयों में भक्तों की प्रतिमाओं की भी पूजा की परम्परा है सो 'आंडाल' को आलवार संत-समुदाय के साथ-साथ और स्वयं अकेले भी देवालयों में प्रतिष्ठापित हो देवी की तरह पूजनीया होने का सम्मान प्राप्त है। भारत ही नहीं विश्व की किसी भी भाषा की संत कवयित्री को वह श्रद्धा स्थान प्राप्त नहीं है जो तमिल प्रदेश की 'आंडाल' को है। आण्डाल के अलावा महाराष्ट्र की बहिणाबाई का नाम भी महिला कृष्ण भक्त परम्परा में अग्रणी है। संत तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने भी 'गौत्रण' शीर्षक के अंतर्गत कृष्ण सम्बन्धी गीत रचे थे किन्तु भक्ति की भाव भूमि पर आण्डाल उनसे कहीं आगे निकल गई है।

हमारे सभी प्राचीन महापुरुषों और महीसयी नारियों की तरह उसका आविर्भाव और अवसान तथा उन दोनों बिन्दुओं के बीच की जीवन-यात्रा क्विंदतियों, जनश्रुतियों से आच्छादित है। जो व्यक्ति जीते जी ही लिजेंड बन जाए उसका क्या कहना? आण्डाल का चरित्र भी ऐसा ही है। तमिल कवयित्री आंडाल को भक्त, साहित्यकार के रूप में जो सम्मान और श्रद्धा प्राप्त है, वह कोई अपूर्व, अप्रत्याशित, चमत्कारिक घटना नहीं है वरन् उस सामाजिक परिवेश की सहज स्वाभाविक उपज है जो स्त्री को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष ही देखता है। चाहे वह घर परिवार में हो राजनीति में हो, अध्यात्म में हो या साहित्य में। तमिल साहित्य के नौंवी सदी तक के साहित्य में हमें ऐसी सभ्यता-संस्कृति का दिग्दर्शन होता है जहाँ राजपुरुष, श्रेष्ठी, किसान मजदूर जैसा श्रेणी भेद तो है किंतु वर्ण-भेद, जाति भेद और लिंग भेद का कट्टर स्वरूप नहीं मिलता। कन्या शिशु का स्वागत किया जाता था और सामान्य गृहस्थ परिवारों में नृत्य, संगीत, चित्रकला, पुष्प सज्जा, रंगोली जैसी कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता था। वयःसंधि पर पहुँचे नवयुवक तथा नवयुवती ऐसे सामाजिक प्रसंग पा जाते थे जहाँ प्रथम दर्शन, आकर्षण और प्रेम-संवर्धन की संभावनाएँ निहित होती थी। मनोनुकूल जीवन साथी इसी प्रकार से प्राप्त हो जाए तो माता-पिता के आशीर्वाद से विवाह हो जाया करते थे। आंडाल के संदर्भ को ध्यान में रखे तो ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ अपनी इच्छा से अपने वर का निर्णय ले सकती थी और उन्हें स्वच्छंदता प्राप्त थी। बालिका आंडाल को अपने पिता से ही पुष्प ग्रंथन और काव्य रचना की अमृत कला प्राप्त हुई। आंडाल के मानस में रंगनाथ स्वामी सखा, प्रियतम और भावी पति के रूप में विकसित होते चले गये। वह रंगनाथ स्वामी की वधू बनने के लिए अपने को सज्जित करने लगी। प्रियतम के अधरों का पान करने की तीव्र पिपासा लिए वह विष्णु के शंख से भी संवाद करती है क्योंकि भगवान के अधरामृत का पान अविरल शंख निरन्तर करता रहता है। अतः वह शंख के अनुनय करती है-

सखे! शंख बताओ तो,
लालसावश पूछती हूँ बात,

मेघवर्ण श्याम के
अधर का रस कैसा है।

यहाँ अण्डाल की कौतूहल भरी जिज्ञासा व्यक्त हुई है किन्तु सूर की गोपियों की भाँति कृष्ण रसामृत पान करने वाले बाँसुरी के प्रति ईर्ष्या नहीं व्यक्त हुई है। बाँसुरी के दोषों की चर्चा नहीं करती। वरन् शंख के अनुभव को सुनना चाहती है, उस अलौकिक अनुभूति का भान करना चाहती है।

निस्संदेह आण्डाल ने भी भगवान के चरणों में ही स्वयं को अर्पित किया था। तमिल देश की प्रचलित प्रथानुसार आण्डाल कामदेव से भी अनुनय करती हुई कहती हैं-

जैसे देवताओं के लिए समर्पित सामग्री को,
जंगली गीदड़ सूँधने लगे-
वैसे ही,
भगवान को लक्ष्य करके
उभरे हुए मेरे उरोजों को,
यदि मानवों के उपभोग्य बनाने की
चर्चा चली.....
तो
हे! कामदेव
मैं जीवित नहीं रहूँगी।

आंडाल के विचारों की परिपक्वता, उसकी संकल्प-शक्ति, उसके चरम समर्पण-भाव की समता करनेवाली विश्व पटल पर कम ही स्त्रियाँ होंगी। आंडाल को स्वप्न में साईं मिलते थे और साईं भी कैसा जो भक्त को हर स्वरूप में अपनाने को तत्पर, आंडाल द्वारा उतारी गई मालाओं का ही नहीं बल्कि आंडाल को भी वधू स्वरूप में वरण करने वाला। सौभाग्यकांक्षिणी वधू के रूप में सुसज्जित, अलौकिक सौंदर्यमयी आंडाल का श्रीरंगनाथ जी के शेषशैया पर विराजमान होने और श्रीरंगनाथ में विलीन हो जाने की कथा आज भी प्रचलित है।

आंडाल अप्रत्याशित रूप से एक दिन प्रकट हुई ठीक वैसे ही जैसे सीता जनक को मिली थी और फिर वैसे ही अप्रत्याशित रूप से परमपुरुष परमात्मा में, अलौकिक ज्योतिपुंज में ज्योति की तरह समाहित भी हो गई थी। मीरा की भाँति भगवान को ही पति मानने पर भी, आण्डाल 'प्रियतम की जोगिन' बनकर नहीं निकल पड़ी वरन स्वयं परमात्मा ने आण्डाल को सशरीर पत्नी रूप में ग्रहण किया। आंडाल ने जितनी सहजता से पुष्प चुनना और गूँथना सीखा होगा उतनी ही सहजता से काव्य-मालाओं की निर्मिति की होगी। आण्डाल द्वारा रचित दो रचनाएँ हैं 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार तिरमोलि'। नाच्चियार तिरमोलि अर्थात 'नायिका की श्रीवाणी' भक्ति रस प्रधान 143 गीतों का संग्रह है, जिनका विभाजन 14 अध्यायों में हुआ है। ये गेय पद हैं और विविध राग-रागिनियों में गाये जाते हैं। इनमें आण्डाल ने स्वयं विरहिणी नायिका की भावभूमि पर काव्य रचा है। नायिका द्वारा कोयल, मेघ आदि को दूत बनाकर भेजने का, श्रृंगार के देवता कामदेव से अनुनय विनय आदि गहरी वेदना के साथ अभिव्यक्त है। इस संग्रह का सबसे प्रभावशाली दशक है आंडाल द्वारा अपने उस स्वप्न का वर्णन जिसमें साक्षात् भगवान आकर बड़े धूम-धाम से, विधि-विधानों के साथ आंडाल का पाणिग्रहण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आंडाल ने अपने जीवन के चरम परिपाक को बहुत पहले ही जान लिया। यहाँ कविता सीधे हृदय की आर्त्त पुकार बनकर सामने आई है। अपनी अनुभूति में अत्यन्त गहरी प्रामाणिक, पारदर्शी और अनूठी कविता है आण्डाल की। प्रणय-निवेदन और उससे उजपा दरद, यही प्रधान विषय है आण्डाल की कविता का। आण्डाल के प्रेम का मूलवर्ती सूत्र कहीं न कहीं लोक से ही सम्बन्धित है। अभिव्यक्ति में उतना ही उदात्त और उतना ही निष्कलुष। इस प्रेम में दरद की जो तीव्रता है उससे ही प्रीत की प्रगाढ़ता का अनुमान किया जा सकता है। आण्डाल का श्रीरंगनाथ से विवाह आध्यात्मिक था, वह अपने अंतर्मन से जिसे पति मानती थीं, जिसके साथ में आत्मा के स्तर पर सदा-सदा के लिए बँधी थीं, वह तो अविनाशी और अक्षय था। आण्डाल में उत्कटता और गति है, वही दीवानगी और जोश है जो मीरा में था। आण्डाल के दुनियाबी सरोकार बहुत व्यापक और बहुआयामी नहीं थे किन्तु प्रेम का पीर ही तन्मयता लिए बेधने वाला सिद्ध हुआ है। अपने सीमित दायरे में ही अनुभूति की गहराई और प्रभाव सघनता में वह अद्वितीय सिद्ध होती हैं। वह प्रेम की, समर्पण की, आत्मदान की कवयित्री हैं। उस समर्पण में जिस मिठास तथा उसके काल्पनिक संयोग में जिस कंपन और सिहरन की अनुभूति हैं, उसके रूप के प्रति गहरा आकर्षण है तथा जन्म-जन्मान्तर तक उससे जुड़ी रहने की जो आकांक्षा आण्डाल में व्याप्त है वही मीरा के यहाँ भी मिलती है। आण्डाल अपने भगवान के साथ अपने प्रणय सम्बन्ध को स्पष्टतम शब्दों में व्यक्त करती है। वही कृष्ण आण्डाल का प्रियतम पुरुष है, जिससे मिलनोत्कंठा मीरा के अंतस्तल में भी तीव्रता से व्याप्त है। आण्डाल का अपने भगवान के साथ जो प्रणय सम्बन्ध है वह साधारण नहीं है अपितु वह जीवनव्यापी, निरन्तर विरह का रूप ग्रहण करने वाला है। निश्चय ही यह प्रणय साधना मिलन के अभाव में परिपूर्ण और दारूण व्यथा में ही अतिमधुर है। आण्डाल का प्रेम प्रथम दर्शनजन्य हीं हैं, वह साहचर्य द्वारा विकसित होकर प्रौढ़ ही नहीं होता, वह प्रेम विरह से उद्बुद्ध होकर उसी में चरम परिणति पाता है।

आण्डाल की उपासना में माधुर्य भाव प्रधान होने के कारण मिलनोत्कंठा और विरह की स्थिति अधिक है। आण्डाल के काव्य की आत्मा प्रेममूला भक्ति है। उनमें कृष्ण-सौन्दर्य के निधि हैं और वह युगों-युगों से अपने प्राणों की संवेदना को उनपर बिखेर देने के लिए आकुल साधिका। आण्डाल की भक्ति आकर्षण से प्रादूर्भूति प्रेमासक्ति बनकर दो रूप धारण करती है-विरहानुभूति और मिलनसुख। विरह ही उनकी साधना है और मिलन ध्येय। दोनों ही पक्षों के चित्रण बड़े ही सजीव तथा श्रेष्ठ हैं। कान्ता कभी दासी भी

बन जाती है, कभी सहचरी भी और कभी वात्सल्य सदृश्य प्रेम देने वाली अभिभाविका भी। सभी दृष्टियों से देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि आण्डाल की प्रणय साधना सर्वथापूर्ण थी।

सन्दर्भ सूची

1. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य-शिवकुमार मिश्र
2. स्रवंति-द्विभाषा मासिक पत्रिका (दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, आंध्र)
3. हिन्दी संतकाव्य में मधुर भावना-प्रवेश विरमानी
4. संत साहित्य का दार्शनिक अध्ययन-रेणुका सिंह
5. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (पंचम भाग)-भक्तिकाल (सगुण भक्ति)-डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा, डॉ0 विजयेंद्र स्नातक
6. नारी तेरे रूप अनेक-क्षेमचन्द्र सुमन
7. संतकाव्य की सामाजिक प्रासंगिकता-रवीन्द्र कुमार सिंह
8. हिन्दी संत साहित्य-त्रिलोकी नारायण दीक्षित
9. भक्तिकाव्य की भूमिका-प्रेमशंकर
10. भक्तिकाव्य का समाजदर्शन-डॉ0 प्रेमशंकर

●

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और हिंदी : प्रेमचन्द की दृष्टि में

परिमल प्रधान एवं प्रो0 बलिराज पाण्डेय***

स्वाधीनता संग्राम के दौर में राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से एक राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी एक विचारणीय विषय था। केशव चन्द्र सेन और महर्षि दयानन्द से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक महापुरुषों ने स्वीकार किया था कि हिन्दी समूचे देश में सबसे अधिक बोली और समझी जाती है इसलिए उसे राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए। प्रेमचन्द ने भी इसकी आवश्यकता पर बल देते हुए बताया कि पुराने जमाने में धर्म की एकता ही मनुष्यों के एकीकरण का मुख्य साधन थी। लेकिन नए युग की आवश्यकताओं ने धर्म के स्थान पर जिन अनेक तत्वों द्वारा एकता की शक्ति अधिक प्रमाणित की है उनमें भाषा एक मुख्य तत्व है। हिन्दी की सार्वभौमिकता के बारे में उन्होंने लिखा, ''आज बिहार, संयुक्त प्रदेश, पंजाब, अल्मोडा, सी0पी0, राजपूताना आदि प्रान्तों की बोलियों में काफी अन्तर होते हुए भी हिन्दी अपनी सार्वभौमिकता के कारण इन प्रान्तों की माध्यम बनी हुई है। हम अपने खास इलाके के बाहर वालों से बातचीत या पत्र व्यवहार करने में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं।''[1]

बोलचाल के स्तर पर उर्दू और हिन्दी में कोई भेद नहीं है इसलिए उर्दू को भी हिन्दी में मिला लिया जाए तो उसे बोलने वालों की संख्या भारत में सबसे अधिक होगी। इसके बावजूद हिन्दी राष्ट्रभाषा नहीं बन पाई इस पर प्रेमचन्द ने आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखा है, ''आश्चर्य है कि वह अभी तक क्यों कौमी जबान नहीं बन गई। कुछ दिन पहले तक तो अन्य प्रान्तीय भाषाएँ अपने उन्नत साहित्य के बल पर यह स्थान लेने का दावा करती थीं लेकिन अनुभव ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी ही में यह क्षमता है कि वह कौमी जुबान बन सके।''[2] प्रेमचन्द का विचार था कि विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार किया जाए, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रसाहित्य की परिषदें स्थापित की जाएँ, जिससे देश के साहित्यकारों में हिन्दी भाषा और साहित्य निर्माण का उत्साह पैदा हो, प्रान्तीय भावनाएँ क्रमशः कमजोर पड़ती जाएँ और राष्ट्रीय भावना जोर पकड़ती जाए। राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने लिखा, ''शायद संसार में भारत ही एक ऐसा देश है कि जिसकी अपनी कौमी जुबान नहीं है। आज एक बलवान केन्द्रीय शासन के सिवा हमें एकता में बाँधने वाली क्या चीज है? धर्म में शक्ति नहीं, वह चीज राष्ट्रभाषा ही हो सकती है।''[3]

प्रेमचन्द यह अच्छी तरह जानते थे कि साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से भारत की अनेक भाषाएँ हिन्दी से बहुत आगे हैं। लेकिन वे अपने प्रान्त से बाहर व्यापक रूप से उतनी बोली और समझी नहीं जातीं जितनी हिन्दी। इसीलिए प्रेमचन्द ने 23 अप्रैल 1934 की अपनी टिप्पणी में अपनी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा, ''जब तक एक भाषा और एक साहित्य न हो एक राष्ट्र की कल्पना नहीं हो सकती। जब तक कौम में अपने विचारों के फैलाने की कोई एक भाषा न हो, वह कौम नहीं कहला सकती। भारत में कई सम्पन्न प्रान्तीय भाषाओं के होते हुए हम जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान देना चाहते हैं, वह इसलिए कि वह भारत में अधिकतर समझी जाती है और किसी प्रान्त में उसको आसानी से सिखाया जा सकता है। बंगला बहुत सम्पन्न भाषा है लेकिन बंगाल के बाहर उसे कोई समझ नहीं सकता। यही हाल मराठी, गुजराती और अन्य भाषाओं का है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो सारे भारत में फैली हुई है।''[4]

प्रेमचन्द चार-चार आठ-आठ कोस पर बदलने वाली बोलियों और विभिन्न जनपदों के बीच कौमी जुबान का काम करने वाली, मुख्य भाषा का अन्तर अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने लिखा था, ''कभी-कभी दस-दस पाँच-पाँच कोस में बोली बदल जाती है लेकिन थोड़ा बहुत अन्तर होते हुए भी इन बोलियों में कुछ समानता रहती है और वही समानता एक ऐसी भाषा के रूप में संगठित हो जाती है जिसमें साहित्य की रचना होने लगती है। और वही समय पाकर उस प्रान्त या देश की कौमी जुबान बन जाती है।''[5]

प्रेमचन्द के समय ही हिन्दी की अनेक बोलियों जैसे अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी और भोजपुरी आदि को साहित्यिक दर्जा दिलाने का प्रयास चल रहा था। प्रेमचन्द इसके पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा है, ''बोलियों में जो कुछ साहित्य है वह ग्रामगीतों में स्वरक्षित है और ग्रामगीत एकत्र करने से अगर उन बोलियों की रक्षा हो सकती है तो हम इस आन्दोलन के साथ हैं। लेकिन यह खयाल फैलाना कि भोजपुरी, तिर्हुती और प्रान्त की 101 बोलियों में साहित्य की रचना की जाए और उसके पत्र निकलें, शक्ति के अपव्यय के सिवा, कुछ नहीं है।''[6]

प्रेमचन्द राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की राह में बोलियों के आन्दोलन को बाधा की तरह महसूस करते थे। तो फिर अंग्रेजी के बारे में उनके विचारों का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कोई अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित करे तो उनका विरोध करना लाज़मी था। इसीलिए जब 'अंग्रेजी बोलो' संघ में भाषण देते हुए भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड रीडिंग ने यह कहा कि, ''अंग्रेजी भारत की राष्ट्रभाषा है, अंग्रेजी भाषा शान्ति और

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्यवस्था की भाषा है'' तो प्रेमचन्द ने 5 दिसम्बर 1932 की अपनी टिप्पणी में इसका तुरन्त खण्डन किया। प्रेमचन्द ने लिखा ''बहुत बड़े अंग्रेज़ीदाँ भी कभी अंग्रेजी को यहाँ की राष्ट्रभाषा नहीं मानते। हमारी समझ में लॉर्ड महोदय ने बड़ी जल्दी यहाँ की राष्ट्रभाषा तय कर ली।''[7] लार्ड महोदय ने गोलमेज में आए हुए प्रतिनिधियों के अच्छी अंग्रेजी बोलने पर बड़ा हर्ष, सन्तोष तथा गर्व प्रकट किया था। प्रेमचन्द ने इसका कारण बताया, ''वह तो हर एक गुलाम देश अपने स्वामी की भाषा केा अपनी भाषा बना ही लेता है... अंग्रेजी बड़ी धनी भाषा है पर जितना तथा जिस दृष्टि से हम इसे आदर देते हैं वह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है।''[8] लार्ड महोदय ने जिस अंग्रेजी को शांति और व्यवस्था की भाषा कहा था, प्रेमचन्द ने विलायती समाचार पत्र डेली टैलीग्राफ, डेली मिरर और डेली न्यूज़ का हवाला देते हुए उसी अंग्रेजी भाषा के बारे में लिखा था, ''इनकी भाषा प्रायः सबसे अधिक कटु, दुष्ट, जहरीली और निन्द्य होती है।''[9]

अंग्रेजों की नकल में अंग्रेजी बोलने का रोग केवल अधिकारियों और नवशिक्षितों के वर्ग में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में भी प्रवेश कर चुका था। प्रेमचन्द ने लिखा था, ''इसमें सन्देह नहीं कि वे खद्दर पहनने लगे हैं, पर उनके मनोभावों में लेश मात्र भी संस्कृति नहीं आई। किसी कमेटी की बैठक में चले जाइए आप खद्दर धारी महाशयों को फर्राटे से अंग्रेजी झाड़ते हुए पाएंगे। वह शब्द और वाक्य जो उन्होंने दैनिक पत्रों या अंग्रेजी पत्रों में पढ़े हैं, बाहर निकलने के लिए अकुलाते रहते हैं और अवसर पाते ही फूट निकलते हैं। हंसी तो तब आती है जब यह हज़रत अंग्रेजी न जानने वाली महिलाओं के सामने अपने वाग्विलास से बाज़ नहीं आते। अंग्रेजी भाषा का यह जादू कब तक हमारे सिरों पर रहेगा? कब तक हम अंग्रेजी के गुलाम बने रहेंगे? इससे तो यही टपकता है कि राष्ट्रीयता अभी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँचने पाई।''[10]

प्रेमचन्द राष्ट्रभाषा के प्रश्न को राष्ट्र निर्माण के प्रश्न से जोड़कर देखते थे। जापानी, चीनी और ईरानी-सभी अपनी-अपनी भाषा में बात करते हैं, लेकिन हिन्दुस्तानी अंग्रेजी बोलने में गर्व अनुभव करते हैं। इसे मानसिक दासता की संज्ञा देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा, ''यह विदित रहे कि जब तक हमारी राष्ट्रभाषा का निर्माण न होगा, भारतीय राष्ट्र का निर्माण ख्वाब और खयाल है। जापानी, जापानी में अपने भावों को प्रकट करता है, चीनी, चीनी भाषा में। ईरानी, फारसी में। लेकिन भारत की शिक्षित जनता अंग्रेजी पढ़ने और बोलने में अपना गौरव समझती है। कितने ही सज्जन तो यह कहने में संकोच नहीं करते कि हिन्दी लिखने या बोलने में उन्हें असुविधा होती है। यह सीधी-सीधी मानसिक दासता है।''[11]

प्रेमचन्द पक्के राष्ट्रवादी थे और स्वाधीनता संग्राम तथा गांधीजी के नेतृत्व के प्रति पूरी तरह निष्ठावान भी थे इसीलिए उन्हें यह देखकर हार्दिक कष्ट होता था कि स्वयं हिन्दी भाषी प्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ता हिन्दी के बजाय अंग्रेजी का व्यवहार करते थे जबकि कांग्रेस के सर्वोच्च नेता गांधीजी हिन्दी के प्रयोग पर हमेशा बल देते थे। अप्रैल 1931 की एक टिप्पणी में प्रेमचन्द लिखते हैं, ''हमें यह देखकर महान दुख होता है कि हमारे राष्ट्रीय कार्यों में अब भी अंग्रेजी का वही प्राधान्य है और महात्मा जी ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को हिन्दी के विषय में जो उपदेश दिया था उस पर कान नहीं दिया गया। अन्य प्रान्त वाले अगर हमारे प्रान्त में अंग्रेजी का आश्रय लें तो किसी हद तक क्षमा के पात्र हैं, मगर तुर्रा तो यह है कि इसी प्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ता अंग्रेजी में पत्र व्यवहार करना, अंग्रेजी में रिपोर्ट लिखना, अंग्रेजी में नोटिस प्रकाशित करना अपने लिए शान समझते हैं। जब राष्ट्रीय नेताओं के हाथों राष्ट्रभाषा का यह अनादर हो तो किससे शिकायत की जाए।''[12] राष्ट्रीय कार्यों में राजनैतिक कार्यकर्ताओं द्वारा हिन्दी भाषा के प्रयोग पर बल देना इसलिए जरूरी है ताकि स्वाधीनता संग्राम के संदेश को व्यापक जनता तक पहुँचाया जा सके और उसे राष्ट्रीय जागरण की धारा में जोड़ा जा सके। यह कार्य हिन्दी द्वारा ही संभव है क्योंकि व्यापक जनता हिन्दी बोलती और समझती है। इसके विपरीत जो कांग्रेसी नेता अंग्रेजी बोलकर जनता के ऊपर रोब डालना चाहते हैं उनकी आलोचना करते हुए प्रेमचन्द उसी टिप्पणी में आगे लिखते हैं, ''वह अपनी अंग्रेजी योग्यता का प्रदर्शन करके जनता को शायद प्रभावित करना चाहते हैं। अगर उनकी यह मनोवृत्ति है, और इसके सिवा हो ही क्या सकती है, तो ऐसे सज्जन दया के पात्र हैं। क्योंकि वह खुद अपनी मानसिक पराधीनता की डौंड़ी पीट रहे हैं।.... उनके लिए अंग्रेजी के दामन में मुँह छिपाना लज्जास्पद और राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है।''[13]

राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार

स्वाधीनता संग्राम के दौर में राष्ट्रभाषा हिंदी को राष्ट्रनिर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता था। महात्मा गांधी ने इस पर सबसे अधिक बल दिया था और उन्हीं की प्रेरणा से दक्षिण भारत के सुदूर प्रान्तों में भी हिंदी प्रचार के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। स्वयं हिंदी भाषी प्रान्त में हिंदी को स्थापित करना और उसकी जड़ों को मजबूत करना एक महत्वपूर्ण कार्य था जिसमें पण्डित मदन मोहन मालवीय ने अग्रणी भूमिका निभाई। मालवीय जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दीक्षान्त समारोह के अवसर पर हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा का समर्थन किया और कहा कि यहाँ शीघ्र ही इन्टरमीडिएट कक्षा तक हिंदी द्वारा शिक्षा दी जाएगी। प्रेमचन्द ने 26 दिसम्बर 1932 की अपनी टिप्पणी में इसकी सराहना करते हुए लिखा कि, ''अंग्रेजी द्वारा शिक्षा लेकर हमारे विद्यालयों में छात्रों का कितना समय नष्ट होता है इसका थोड़ा बहुत अनुभव हम सभी को है। छात्रों को मजबूर होकर इतिहास और भूगोल रटना पड़ता है और उनकी सारी शक्ति भाषा तक ही रह जाती है, विषय की ओर ध्यान देने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। हिंदी माध्यम से यह दोष मिट जाएगा।''[14] प्रेमचन्द ने लिखा कि इस सुधार से हो सकता है कि

छात्रों का अंग्रेजी पर उतना अच्छा अधिकार न रह जाए, लेकिन साथ ही उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, जापान आदि का उदाहरण देते हुए सवाल उठाया कि उन देशों में वहाँ की राष्ट्रभाषा में शिक्षा दी जाती है तो क्या वहाँ अंग्रेजी बोलने समझने वाले नहीं निकलते।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक वाद विवाद प्रतियोगिता हुई जिसका विषय था 'हिंदी भाषा ही राष्ट्रनिर्माण का एकमात्र साधन है'। इस पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में प्रेमचन्द ने राष्ट्र से राष्ट्रभाषा का अनिवार्य सम्बन्ध बताते हुए लिखा था, ''राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का बोध हो ही नहीं सकता। जहाँ राष्ट्र है, वहाँ राष्ट्रभाषा का होना लाजमी है। अगर सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना है तो उसे एक भाषा का आधार लेना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा का प्रचार आपद्धर्म है। इसे हम राष्ट्रभाषा का पद नहीं दे सकते। भाषा ही राष्ट्र, साहित्य और संस्कृति का निर्माण करती है, आदर्शों की सृष्टि करती है। नदियों और पहाड़ों से राष्ट्रीयता के विकास में जो बाधा पड़ती थी उसे रेल और हवाई जहाजों ने मिटाना शुरू कर दिया है। अगर एक संस्कृति रहते हुए भी एक राष्ट्रभाषा का आधार न रहे तो ऐसा राष्ट्र स्थायी नहीं हो सकता।''[15]

प्रेमचन्द का ध्यान हमेशा इस बात पर लगा रहता था कि हिन्दी को किस किस राज्य में कहाँ-कहाँ प्रोत्साहन, बढ़ावा और उचित स्थान मिल रहा है। जब बड़ौदा राज्य ने हिन्दी को राज्यभाषा स्वीकार किया तो प्रेमचन्द ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बताया कि बड़ौदा राज्य ने हमेशा सामाजिक सुधारों में अग्रणी भूमिका निभाई है। वहाँ शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क कर दी गई। बाल विवाह पर पाबंदी लगा दी गई और राज्य भर के मंदिरों में अछूतों का प्रवेश अनिवार्य कर दिया गया। हिन्दी को राज्यभाषा का दर्जा देना इन्हीं सुधारों की कड़ी में एक सराहनीय कदम है। प्रेमचन्द ने लिखा कि ब्रिटिश प्रान्तों में सबसे पहले मध्य प्रान्त में ही हिन्दी को अदालती भाषा स्वीकार किया गया था, ''इसके बाद शायद बड़ौदा ही पहला इतना बड़ा स्थान है जहाँ हिन्दी का अब साम्राज्य होगा। बड़ौदा एक मराठा राज्य है जिसके अधिकांश निवासी गुजराती हैं। इसलिए इस राज्य के उस सुधार का और भी महत्व है। क्या हम आशा करें कि अलवर, बीकानेर, उदयपुर ऐसी गैर मराठी रियासतें भी उर्दू के स्थान पर हिन्दी को सर्वोच्च आसन देंगी।''[16]

दक्षिण भारत (मद्रास और आन्ध्र प्रान्त) में हिन्दी प्रचार की प्रशंसा करते हुए प्रेमचन्द ने दिसम्बर 1932 की अपनी टिप्पणी में नोट किया कि वहाँ लगभग 300 हिन्दी प्रचारक भिन्न-भिन्न केन्द्रों में स्थायी रूप से काम कर रहे हैं। प्रचारक मंडल से 'हिन्दी प्रचारक' नाम का एक मासिक पत्र निकलता है प्रति वर्ष प्रचारक सम्मेलन होता है और सम्मेलन द्वारा प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा ये तीन परीक्षाएँ होती हैं। 1932 में प्राथमिक में 2159 परीक्षार्थी परीक्षा में बैठे और 1816 पास हुए। मध्यमा में 1149 बैठे और 741 पास हुए। राष्ट्रभाषा परीक्षा में 579 बैठे और 342 पास हुए। 'हिन्दी प्रेमी मण्डल' ने जो निम्नलिखित कार्यक्रमों की योजना बनाई थी, ''उसे देखने से मालूम होता है कि उसके उद्देश्य कितने ऊँचे और क्षेत्र कितना विस्तृत है- 1. सभाएँ और जलसों का आयोजन 2. हिन्दी कक्षाओं की शिक्षा 3. प्रचार सभा की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थी तैयार करना 4. स्थानीय स्कूलों और कालेजों में हिन्दी का प्रचार करना 5. हिन्दी ड्रामे खेलकर जनता में हिन्दी के प्रति प्रेम बढ़ाना।''[17]

दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार का एक उपाय है दक्षिण के हिन्दी प्रेमियों को उत्तर भारत का दौरा करने के लिए और उत्तर भारत के हिन्दी सेवियों को दक्षिण भारत में जाने के लिए प्रोत्साहित करना। हिन्दी प्रचार सभा के तीसरे सम्मेलन के अध्यक्ष श्री देवदास गांधी ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। प्रेमचन्द ने अपनी टिप्पणी में देवदास गांधी के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए लिखा, ''देवदास जी का यह प्रस्ताव सर्वथा समर्थनीय है कि दक्षिण भारत के हिन्दी प्रेमी स्त्री पुरुष उत्तर भारत का दौरा किया करें। इस प्रान्त में दो तीन मास रह जाने से केवल आपस में प्रेम और घनिष्ठता ही नहीं बढ़ेगी बल्कि हिन्दी भाषा का वह अभ्यास हो जाएगा जो बरसों हिन्दी पुस्तकें पढ़ने से नहीं प्राप्त हो सकता।.....हम तो चाहते हैं कि दक्षिण की हिन्दी प्रचार सभा के इस काम में प्रयाग का साहित्य सम्मेलन या नागरी प्रचारिणी सभा भी हाथ बँटाएँ और हर साल अपने खर्च से दस बीस हिन्दी सेवियों को दक्षिण भेजें।''[18]

दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार आन्दोलन की सफलता के पीछे महात्मा गांधी का विशाल व्यक्तित्व था। 1931 में 'हिन्दी ज्ञान यात्री मण्डल' नाम की एक संस्था स्थापित हुई। हिन्दी प्रचारक विद्यालय, मद्रास के प्रिंसिपल पण्डित हृषीकेश शर्मा इसके अध्यक्ष चुने गए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग), नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) तथा प्रयाग महिला विद्यापीठ ने इस दिशा में कुछ कदम उठाए। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने अधीन कुछ दक्षिण भारतीय विद्यार्थियों को विशेष रूप से पढाने का विचार किया। प्रयाग महिला विद्यापीठ में दक्षिण भारत की कन्याओं के लिए कुछ विशेष छात्रवृत्तियाँ प्राप्त हुईं। प्रेमचन्द ने हिन्दी ज्ञानयात्री मण्डल की ओर से एक अपील प्रकाशित की जिसके अन्त में उन्होंने अनुरोध किया, ''हमें प्रतिवर्ष कम से कम दो मद्रासी युवकों को निःशुल्क शिक्षण, भोजन तथा निवास के रूप में आश्रय देने वाले हिन्दी भक्तों तथा हिन्दी संस्थाओं की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि इस समय यहाँ सैकड़ों होनहार किन्तु निर्धन हिन्दी प्रेमी हैं जो बहुत दिनों से उत्तर भारत में ही रहकर हिन्दी की ही उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। हिन्दी प्रचार आन्दोलन का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। और उसकी सफलता के लिए दिलोजान से काम करने वालो की संख्या भी काफी है परन्तु इन सच्चे राष्ट्र सेवकों को ज्ञान दान देने वालों की संख्या अभी संतोषजनक नहीं है। अतः शिक्षित हिन्दी भाषियों से हमारा अनुरोध है कि आप लोग दक्षिण में हिन्दी भाषा के साहित्यिक प्रचार को आगे बढ़ाने वाले इस आन्दोलन की सहायता करें।''[19]

प्रेमचन्द दक्षिण भारत में केवल राष्ट्रभाषा के प्रचार मात्र से सन्तुष्ट न रहकर साहित्य ज्ञान का स्तर बढ़ाने की भी चिन्ता कर रहे थे। उन्होंने लिखा, ''जबसे मद्रास प्रान्त में हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा है, वहाँ से सैकड़ों, युवक हिन्दी साहित्य का ज्ञान बढ़ाने के लिए इलाहाबाद और काशी में आने लगे हैं। लेकिन यहाँ ऐसी कोई संस्था नहीं है जो उन्हें आश्रय दे सके।''[20] प्रेमचन्द ने 'दीन साहित्य विद्यालय' का उल्लेख किया लेकिन उसे किसी तरफ से सहायता न मिलने के कारण उसकी दशा ठीक नहीं थी। इलाहाबाद और बनारस के विश्वविद्यालयों में साहित्य शिक्षा का प्रबन्ध तो था लेकिन उससे केवल विश्वविद्यालय के छात्र ही लाभ उठा सकते थे। प्रेमचन्द को दक्षिण भारत के हिन्दी प्रेमी युवकों की चिन्ता थी। इसीलिए उन्होंने बड़ी निराशा से लिखा, ''अन्य प्रान्तों में हिन्दी से जो रुचि पैदा हो गई है, यदि हमारी अकर्मण्यता से वह ठण्डी पड़ गई तो फिर राष्ट्रभाषा का स्वप्न बहुत दिनों के लिए भंग हो जाएगा।''[21]

कलकत्ता में महिला सम्मेलन के अवसर पर लेडी अब्दुल क़ादिर ने भारत में राष्ट्रभाषा के प्रचार का समर्थन किया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि हर एक प्रान्त में राष्ट्रभाषा अर्थात हिन्दुस्तानी भी पाठ्यक्रम में आवश्यक बना दी जाए। उन्होंने भाषण उर्दू में लिखा था लेकिन वहाँ सम्मेलन में उर्दू समझने वाली महिलाएँ बहुत कम थीं इसलिए उन्होंने उसका बोलचाल की भाषा में अनुवाद किया। प्रेमचन्द ने लेडी अब्दुल कादिर के राष्ट्रभाषा प्रेम की प्रशंसा में पूरी एक टिप्पणी लिखी।[22]

प्रेमचन्द ने 1934 के दिसम्बर में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में दीक्षान्त भाषण के लिए लम्बी यात्रा की और उसका लम्बा विवरण प्रकाशित किया। मद्रास में दीक्षान्त समारोह का जलसा देखकर उन्होंने अनुभव किया, ''इस आन्दोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं, उससे कहीं अधिक राजनैतिक है जो सम्पूर्ण देश को एक राष्ट्रभाषा के सूत्र में बँधा देखना चाहती है।''[23] प्रेमचन्द ने लक्ष्य किया कि यहाँ परीक्षार्थियों की संख्या 1930 में 1700 थी, 1933 में 9060 हो गई, लेकिन 1934 में यह संख्या घटकर 4641 हो गई, ''इससे शंका होती है, कहीं हिन्दी की बात होगी। हमारा कतर्व्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।''[24]

प्रेमचन्द ने एक बात और लक्ष्य की कि ''हिन्दी या हिन्दुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। अध्यापक भी प्रायः दक्षिण के लोग हैं। छात्रों को पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिन्दी को व्यवहार में लाने के शायद बहुत कम मौके मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उनका भाषा ज्ञान केवल किताबी ज्ञान होकर रह जाए।''[25] इस समस्या के समाधान के लिए प्रेमचन्द ने कुछ उपयोगी सुझाव दिए, जैसे- 1.अध्यापकगण कक्षाओं में छात्रों से हिन्दुस्तानी में ही बोलें और छात्र भी आपस में कम से कम कक्षा में हिन्दुस्तानी का व्यवहार करें। 2. हिन्दी के प्रचारकगण हिन्दी के पत्रों पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें जिससे उनका भाषा ज्ञान बढ़ता रहे। 3. जिन्हें साहित्य रचना का कुछ शौक है वे कभी कभी इन पत्रों में लिखा करें। वे दक्षिण के साहित्य की कुछ चीजें हिन्दी में लाकर उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ कर सकते हैं।[26]

इस यात्रा में प्रेमचन्द ने मद्रास, के अलावे मैसूर और बंगलौर में भी जाकर हिन्दी का प्रचार अपनी आँखों से देखा। बंगलौर में उन्हें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ महिलाओं की कई संचालित संस्थाएँ हैं और प्रायः उन सभी में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इसके अलावा सिलाई, बुनाई, कताई, बेंत का काम, कसीदे काढ़ना, संगीत और लड़कियों के लिए व्यायाम शालाओं की व्यवस्था देखकर उन्होंने लिखा, ''स्त्रियों की यह जाग्रति राष्ट्र के आशाप्रद भविष्यत् की सूचक है।''[27] मैसूर में प्रेमचन्द का सम्पर्क अनेक कन्नड़ भाषा के साहित्यकारों से भी हुआ। उनसे बातचीत करते हुए प्रेमचन्द ने अनुभव किया कि ये लोग हिन्दी के प्रचार को कन्नड़ भाषा की प्रगति में बाधक मानते हैं। प्रेमचन्द ने अपने यात्रा वृत्तान्त में कन्नड़ साहित्यकारों की इस आशंका के बारे में लिखा, ''कई अन्य प्रान्तीय भाषाओं की तरह कनाड़ी को भी यह शंका होने लगी है कि हिन्दी प्रचार से कनाड़ी की प्रगति में कुछ बाधा न पहुँचे। इसका कारण यही मालूम होता है कि हिन्दी प्रचार के उद्देश्य के विषय में कुछ भ्रम अभी तक बाकी है। हिन्दुस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हरगिज़ नहीं है कि वह प्रान्तीय भाषाओं का स्थान छीन ले। वह तो अंग्रेजी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है जो उसने भारतवर्ष में प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओं में कुछ वही सम्बन्ध रहेगा जो प्रान्तीय कौंसिलों और भारतीय असेम्बली में है। असेम्बली प्रान्तीय कौंसिलों के किसी काम में बाधा नहीं डालती। हाँ, कुछ ऐसे विषय हैं जिनका सम्बन्ध पूर्ण भारत से है और असेम्बली उन्हीं के विषय में व्यवस्था करती है।''[28]

इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द को राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ किसी भारतीय भाषा का अन्तर्विरोध स्वीकार नहीं था। वे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच के सम्बन्ध को वैसा ही समझते थे जैसा केन्द्र और अन्य प्रान्तों के बीच का सम्बन्ध है। वे चाहते थे कि प्रान्तीय भाषाएँ अपने अपने प्रान्तों में फलती फूलती रहें और अखिल भारतीय जनसम्पर्क की भाषा के रूप में हिन्दी अपनी राष्ट्रीय भूमिका का निर्वाह करे।

संदर्भ

1. विविध प्रसंग, भाग-3, पृ0- 289.
2. वही। पृ0-289.
3. वही। पृ0-290.
4. वही। पृ0-291.
5. वही। पृ0-288-289.
6. वही। पृ0-292.

7. वही। पृ0-273.
8. वही। पृ0-273.
9. वही। पृ0-274.
10. वही। पृ0-194-195.
11. वही। पृ0-195.
12. वही। पृ0-194.
13. वही। पृ0-194.
14. वही। पृ0-275-276.
15. वही। पृ0-275.
16. वही। पृ0-274.
17. वही। पृ0-278.
18. वही। पृ0-279.
19. वही। पृ0-281-282.
20. वही। पृ0-283.
21. वही। पृ0-284.
22. वही। पृ0-284.
23. वही। पृ0-297.
24. वही। पृ0-297.
25. वही। पृ0-298.
26. वही। पृ0-299.
27. वही। पृ0-307.
28. वही। पृ0-304.

●

मध्यकालीन सन्त परम्परा

डॉ0 सुमन तिवारी[*]

भौगिलिक दृष्टि से भारत वर्ष की पश्चिमी सीमा असुरक्षित थी। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात विभिन जातियो ने भारवर्ष की पश्चिमी सीमा पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। इन आक्रमणकारियों के द्वारा पादाक्रान्त भारतीय जनता बर्बर अत्याचारियों की पीडन से कराह उठी थी। किन्तु कालान्तर में आक्रमणकारियों ने स्थानीय जनता से सामंजस्य बनाना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि उत्पीडन का साम्राज्य स्थायी नहीं होता, उसके तीन मार्ग होते हैं-

1. आक्रमणकारियों द्वारा स्थानीय लोगों के साथ मेल-मिलाप सामाजिक एकता तथा परस्पर रहन-सहन का स्वरुप।
2. आक्रमणकारियों के साथ मिलजुल कर रहने की परम्परा या नरमी का बर्ताव।
3. पीड़ितों द्वारा अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु बर्ताव।
4. पीड़ितों द्वारा अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु परमेश्वर में अज्ञात शक्ति के प्रति उत्कट भक्ति भावना या शरणागति।

मध्यकाल तक आते-आते आततायियों का आक्रोश कम होने लगा, उन्हें विजित देश अपना निवास स्थान लगने लगा, और इसी हेतु उन लोगों ने स्थानीय लोगों के साथ मेल-मिलाप प्रारम्भ कर दिया। अनेक सामाजिक क्रियाओं में भी परस्पर गतिविधायां बढने लगी, ऐसी स्थिति में भवन निर्माण, धार्मिक स्थलों का निर्माण, संगीत, उत्सव, जुलूस आदि कार्य परस्पर होने लगा। भावनात्मक एकता के संयोजन में अनेक कवियों, लेखकों, संगीतकारों आदि ने अपना महत्पपूर्ण योगदान दिया।

नारद ने भक्ति को 'प्रेमरुपा' कहा है। इस प्रेमरुपा भक्ति का आधार इस काल में व्यापक होने लगा। वह किसी सम्प्रदाय में केन्द्रित न होकर एक सामान्य धारा बन गयी। इस धारा में सम्प्रदाय ने अपनी भावना मोडकर भक्ति की परिपाटी के रुप में अपना स्वतंत्र रुप ले लिया। जिसमें हिन्दू मुस्लिम सभी का समान योगदान था। जिसके परिणामस्वरुप दक्षिण भारत में भक्ति का जो प्रभाव अस्तित्व में आया था। आचार्य शंकर के उत्कर्ष काल में ही अलवार भक्तों का आश्रय लेकर जीवित रहा। अलवरों की इसी तरह परम्परा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य 'रामानुज' उत्पन्न हुए। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय 'श्री सम्प्रदाय' कहलाता है। रामानुजाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में जातिगत भेदभाव को बाधक मानकर भी सामाजिक व्यवहारों में किसी तरह का परिवर्तन उचित नहीं समझा। इनके द्वारा भक्ति के दो भेद निरुपित किये गये (1) वेदानुकूल भक्ति, (2) तान्त्रिक या पौराणिक भक्ति। इन्होने भक्ति के मार्ग में उपस्थित भेदभाव की दीवार को ढहा दिया और भक्ति को स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-अब्राह्मण सबके लिए सुगम बनाया। आप दास्य भक्ति के पोषक थे।

स्वामी रामानन्द आचार्य रामानुज की शिष्य-परम्परा में उत्पन्न महात्मा राघवचार्या के शिष्य थे। राघवचार्य दक्षिण से उत्तर में आकर काशी में स्थायी रुप से निवास करने लगे। उन्हें राममन्त्र का प्रचारक कहा जाता है। इनकी साधना मे योग और भक्ति दोनों का समन्वय है। स्वामी रामानन्द सिद्धान्तः आचार्य रामानुज के मत के ही अनुयायी माने जाते है और उनके ग्रन्थ 'वैष्णवमताब्जभास्कर' विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्त ही स्वीकृत हुए है, फिर भी द्वादशाक्षर मन्त्र के स्थान पर षड्क्षर मन्त्र के प्रचार द्वारा इन्होने एक नवीन सम्प्रदाय की नींव डाली, जिसे 'वैरागी' अथवा 'रामानन्दी' सम्प्रदाय कहा जाता है। भक्ति के क्षेत्र में इस सम्बन्ध ने सब वर्णो को एक धरातल पर खड़ा कर दिया। 'जाति पाति पूछे नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि कौ होई' यह अर्द्धाली इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। स्वामी रामानन्द के मतानुसार राम ईश्वर हैं, लक्ष्मण जीव है, और सीता प्रकृति हैं। इस तत्वत्रय की तीन मूर्तियाँ रामानन्दी मन्दिरों में स्थापित होती हैं।

सातैल धारसमानित्य संस्मृतिः सन्तारुपेशि परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङ्गा।।[1]

अर्थात् तेल की अविछिन्न धारा के समान राम का नित्य अनुराग सहित स्मरण ही 'भक्ति' है। इनकी शिष्य परमपरा सम्पूर्ण देश में व्याप्त हुयी और उसने बिना भेदभाव के सभी को भक्ति-रसामृत का पान कराया। इनके शिष्यों ने भक्ति सम्बन्धी पदों की रचनाये कीं और हिन्दी में भक्ति साहित्य का उद्भव कराया।

हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य का उदय जिन परिस्थितियो में हुआ, उनका आकलन इसी से किया जा सकता है कि उस समय विजित तथा पद-दलित हिन्दू जाति निस्सम्बल हो उस सर्वशक्तिमान के चरण-शरण में पहुँची, जो निराश्रितों का आश्रय, निर्बलों का बल और अशरण की शरण है। भगवत्कृपा से उसे आचार्य भी इस युग में ऐसे प्राप्त हुए जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि तथा रक्षक कहा जा सकता है, जो स्वयं उस रसरुप प्रभु के उपासक थे और

* प्रवक्ता, आर्य महिला पी.पी. कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उनकी वाणी भक्ति-रस की अमन्द रसवर्षा करती थी ।

इन आचार्यो में लोक संग्रह की अपूर्व शक्ति थी। इन्होंने अनेक भक्तों, साधकों और कवियों को अपने साथ लिया। इनके पूर्व जो आचार्य हुए थे वे संस्कृत-प्रेमी थे, पर इन आचार्यो ने संस्कृत-भाषा के दुरुह दुर्ग से निकलकर जनता की वाणी को अपनाया, जो सरल एवं सर्व-ग्राह्य थी। हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य, विशेषरुप से, ब्रजभाषा में लिखा गया है, परन्तु प्रेमाख्यान काव्यों मे तथा तुलसी के कतिपय ग्रन्थों मे अवधी भाषा का भी प्रयोग है। इस युग में भक्तिकाव्य दो शाखाओं में प्रस्फुटित हुआ। एक शाखा निर्गुण तथा दूसरी शाखा सगुण कहलायी। निर्गुण शाखा पुनः दो भागों में विभक्त हो गयी। एक भाग ज्ञानाश्रयी कवियों का तथा दूसरा प्रेमाश्रयी का। सगुण शाखा में भी कृष्णभक्ति तथा रामभक्ति के दो रुप प्रस्फुटित हुए।

निगुर्ण तथा सगुण शाखाओं में भक्तिकाव्य का विभाजन ईश्वर के स्वरुप को सीमित करने जैसा प्रतीत होता है। वस्तुतः दार्शनिक दृष्टि से उसमें यथार्थता नहीं है। प्रभु निर्गुण तथा सगुण दोनों ही हैं। प्राकृत गुणों से विहीन होने के कारण वह निर्गुण और स्वीय गुणों से युक्त होने के कारण वह सगुण हैं।

कबीर, नानक, दादू सन्तों को निर्गुण उपासक कहा जाता है, किन्तु निराकर का अर्थ निर्गुण कभी नहीं होता। अनेक भाव वाचक संज्ञाएँ निराकार हैं, पर वे सगुण भी है। प्रबल पिपासा, भीषण बुभुक्षा, विषय विकृतियाँ, दीर्घ-निदान आदि का प्रयोग और अनुभव साहित्य तथा मानव-मन किया ही करता है। निर्गुण-निराकार तक भी मानव का प्रतिभ ज्ञान पहुँचा है, परन्तु वह वर्णन का विषय नहीं बन सका। वाणी उसके सम्बन्ध में मूक हैं। वह परा अवस्था है, जो साधारणतः पकड़ में नहीं आती। महत्व के उदय में अव्यक्त और निराकार जब सगुण रुप से प्रतिभासित होने लगते हैं, तभी वे अभिव्यक्ति का विषय बनते हैं और मानव मनोभूमि तक आते-आते वे मानवग्राह्य हो जाते हैं।

सन्त-परम्परा के कवियों में कबीर दास जी अत्यन्त विख्यात् कवि हुए हैं। ये सैद्धान्तिक रुप से सच्चे साधक तथा व्यवहारतः सच्चे सुधारक का व्यतित्त्व लेकर सामने आये। सिद्धान्त की दृष्टि से उनकी विश्वास-भूमि आन्तरिक-साधना पर प्रतिष्ठित थी। गुरु के उपदेश द्वारा अपनाये जाने वाले कुण्डलिनी योग की साधना के सहारे ब्रह्मानन्द को वे अपना साध्य घोषित करते थे। इन्होंने मन की चपलता को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा मानी है।

कबीर के मानसिक विकास पर अपने समय के वैष्णव तथा सूफी दोनों सम्प्रदायों का प्रभाव पडा है। वे इनकी साधना-पद्धति से भी प्रभावित हुए, परन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक जिन निश्चित मन्तव्यों की घोषणा की है, उनमें भगवद् भक्ति, आडम्बर-विहीन, सदाचार पूर्ण जीवन तथा कथनी और करनी की एकरुपता प्रमुख है। कबीर को मुसलमानों में धर्मान्धता, गर्व, स्वार्थ-परायणता, मूर्खता और क्रूरता अधिक दिखाई दी।

तुरकी धरम बहुत हम खोजा। बहु बजगार करै ऐ बोधा।
गाफिल गरव कर अधिकाई। स्वारथ अरथि बधै ए गाई।।

जाकौ दूध धाई कर पीजै। ता माता कौ वध क्यूँ कीजै।।
लहुरैं थकै दुहि पीया खीरौ। ताका अहमक भखै सरीरौ।।

बेअकली अकली न जो नहीं भूलै फिरे ऐ लोई।
दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थै होई।।[2]

हिन्दुओं में भी उन्होंने मिथ्या, अभिमान, आश्रम-संस्था के सन्ध्या-तर्पणादि षट्कर्मो का जगडवाल तथा कथनी-करनी के अपार वैषम्य का अनुभव किया। कबीर के राम सर्व शक्तिमान हैं। उनकी लीला का प्रसार तीनों लोकों में है। जीवों के विविध योनियों में आवागमन करने का चक्र भी उन्हीं की लीला का एक भाग है।[3]

कबीर की रहस्यवदी भाव ने उन्हें हिन्दी-साहित्य में बहुत बडा गौरव प्रदान किया। भारतीय अद्वैतवाद, मुस्लिम एकेश्वरवाद तथा सूफियों के प्रेम को अपनाकर इन्होंने अपनी अभिव्यक्तियों का रुप सबसे विलक्षण तथा प्रभावपूर्ण बना दिया था। इन्होंने अद्वैतवादी चिन्तनमूलक उपलब्धियों तथा हठयोग की साधनामूलक प्रवृत्तियों का एकीकरण करते हुए अपने रहस्यवाद का ढांचा खडा किया है, जिसमें सूफियो के प्रेम जैसा प्रेम, प्राण के समान प्रतिष्ठित है। वस्तुतः कबीर के 'पीव' या 'भरतार' वह अव्यक्त तथा अशरीरी प्रियतम ही हैं, जिन्हें निर्गुण कहा जाता है। इसी अनिर्वचनीय ब्रह्म के प्रति व्यक्त की गयी दाम्पत्य भाव-परक भावना कबीर की काव्यात्मक रहस्यमयता का मूल आधार है। निर्गुणियाँ सन्तों में अधिकांश निम्न वर्णो में पैदा होने वाले व्यक्ति थे। सर्वसाधारण की भाषा में इन्होंनें भक्ति का सन्देश उन लोगों के पास तक पहुँचाया, जिनके लिए धर्म का द्वार सदा के लिए बन्द था। कबीर, दादू, नानक, रैदास, कमाल, सुन्दरदास, मूलकदास आदि कुछ नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से नानक ने तो एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय का प्रवर्तन भी किया। सुन्दरदास का साहित्य-सौष्ठव काव्यशास्त्रीय ज्ञान का सन्त कवियों में विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

प्रेम-गाथा काव्य भी भक्ति काव्य की निर्गुणधारा के अन्तर्गत ही आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी के नाम से सन्त-काव्य को तथा प्रेमाश्रयी शाखा के नाम से प्रेमाख्यानाक काव्य-धारा को अभिहित किया है1[4] प्रेमाख्यानक परम्परा के कवियों में जायसी का नाम सबसे पहले लिया जाता है। कुतबन, मंझन, उसमान आदि इस परम्परा के अन्य कवि हैं।

प्रेमाख्यान परम्परा के कवियों की सैद्धान्तिक मान्यताओं तथा दार्शनिक आस्थाओं का मूल-स्त्रोत इस्लाम का सूफी मतवाद है, जो हिन्दुओं के अद्वैतवादी तत्वों से बहुत हद तक प्रभावित है। इन्होनें अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों में योग की शब्दालियों का आश्रय

लिया है। यह विशेषता नाथ-पन्थियों तथा निर्गुणियां सन्तों की भावभिव्यक्तियों के प्रभाव से ही प्रेमाख्यान परम्परा के कवियों में आयी।

सूफियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिक प्रेम अर्थात् स्थूल जगत् के माध्यम से सूक्ष्म ब्रह्म की अनुभूति की। इन कवियों ने प्रेम का जो रुप उपस्थित किया वह भौतिक न होकर आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित है। सांसारिक माया में लिप्त आत्मा-परमात्मा विषयक प्रकाश को प्राप्त करने के लिए तब प्रयत्नशील होती है जब गुरु के मुख से उस पर ज्योति का बोध उसे प्राप्त हो जाता है। उस बोध को प्राप्त करते ही एक असीम व्याकुलता, अलौकिक छटपटाहट की अनुभूति होती है जो अचेतना की स्थिति में पहुँचा देती है। पद्मावत में रत्नसेन की दशा इसी स्थिति में अभिव्यक्त की गयी है।

प्रेमाख्यान परम्परा के कवियों ने प्रेम के माध्यम द्वारा दृश्यमान जगत् से अदृश्य, परमशक्ति अथवा स्थूल त्रिगुण सम्पन्न जगत् से गुणातीत ब्रह्म की साधना का रहस्य खोला। स्वरों में द्वयर्थकता तथा पात्रों और चरित्रों में व्यक्तित्व की द्विविधता का सन्निवेश करते हुए इन्होंने अपने काव्य में स्थूल का अंकल कर सूक्ष्म की व्यंजना कर दी है। इन कवियों ने अनेक प्रतीकों का सहारा लेकर अपने पक्ष का सम्पादन किया। नागमती विरह-वर्णन में पद्मावती को बुद्धि तथा गुरु को 'सुआ' (तोता) माना गया है। यह भी बलपूर्वक कहा गया कि बिना गुरु के इस संसार मे किसी को निर्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] इस प्रकार प्रेम-मार्गी कवियों ने भी भारतीय तथा इस्लामी दोनों ही पद्धतियों में सामंजस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया जिसके फलस्वरुप अनेक हिन्दू भी इस मत के अनुगामी हुए।

विष्णुस्वामी ने 'रुद्र सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध बल्लभचार्य के पुष्टिमार्ग से माना जाता है। आचार्य बल्लभ ने 'शुद्धाद्वैत' की मान्यता को लेकर 'पुष्टि मार्ग' चलाया था। शंकराचार्य के मायावाद का स्पष्ट विरोध इनके पुष्टिमार्ग में देखने को मिलता है। इस सम्प्रदाय में अष्ट-छाप के कवियों के नाम चिर स्मरणीय हैं। अष्ट-छाप के कवियों मे सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णादास, नन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी तथा चतुर्भुजदास आदि प्रमुख कवि हैं। इनमें 'सूरदास' का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के बालरुप का इतना सांङ्गोपाङ्ग तथा ललित भास से वर्णन किया है कि इस कोटि का वर्णन साहित्य में दूसरा दुर्लभ है। शृंगार और वात्सल्य की सृष्टि में अन्धे सूर को जो सूझी वह किसी भी चक्षुष्मान् कवि को नही सूझी। बालकाव्य की रचना या वर्णन बल्लभमतानुयायी कवियों का निजी क्षेत्र है, जहाँ उनकी प्रतिभा अपनी कमनीय जौहर दिखाया करती है। इस विषय में सूरदास सबसे अग्रणी हैं। बालचेष्टा के स्वाभाविक तथा मनोहर चित्रों का विपुल भण्डार सूरदास के काव्य में दिखाई पडता है। इसी प्रकार गोपियों के प्रेम तथा विरह के चित्रण में भी सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। ये मानव हृदय के भीतर प्रवेश कर इतनी स्वाभाविकता से उनकी वृत्तियों का चारु-चित्र प्रस्तुत करते हैं, कि देखने वाला दंग रह जाता है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियाँ उनके वियोग में व्यथित होकर वृन्दावन के हरे-भरे पेडों को कोंसती हैं।[6] जब उद्धव वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर उनसे निर्गुण ब्रह्म के बारे मे पूछती है।[7] इस प्रकार सूर बाल-लीला तथा गोपी-प्रेम के गीत गायक हो जाते हैं।

भक्ति आन्दोलन उत्तर भारत में 15 वीं शती के आरम्भ में होता है। यह एकांत जनान्दोलन के रुप में पूर्ण रुप से अपनी अभिव्यक्ति करता है। इस युग की दो शाखाएँ मुख्य हैं- रामभक्ति शाखा तथा कृष्ण-भक्ति शाखा।

रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। जो उच्चकोटि के स्मार्त वैष्णव भक्त थे। इनका 'रामचरितमानस' वैष्णव भावना से प्रेरित उच्च कोटि का प्रबंध काव्य है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के शील, सौन्दर्य तथा शक्ति का चित्रण कर गोस्वामी जी ने राम का जो लोक रंजक तथा लोक संग्रही रुप प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः श्लाघनीय है। भक्ति का निर्मल रुप जानने के लिए रामायण एक अतुलनीय निधि है।

बंगाल में वैष्णव धर्म का शंखनाद श्री चैतन्यमहाप्रभु ने 16 वीं शती में बजाया, परन्तु उनके उदय से पहले भी वहाँ एक वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित था, जो आज भी नाना उपभेदों के द्वारा अपनी सत्ता जमाये हुए हैं। इस सम्प्रदाय का नाम सहजिया 'वैष्णव सम्प्रदाय' है। बंगाल तान्त्रिक सम्प्रदाय बुद्ध धर्म के जन्म तथा विलास का क्रीडा स्थल हैं। यहाँ महायान धर्म ने कालान्तर में 'वज्रयान' के नाम से पहले महनीय तान्त्रिक धर्म के रुप में अपना अडडा जमाया और यहीं से यह नेपाल, तिब्बत आदि देशों में फैल कर आज भी अपना महत्व तथा गौरव बनाये हुए हैं। मन्त्र-तन्त्र बहुल वज्रयान ही सहजयान के नाम से विख्यात है। इस धर्म के अपने माननीय सिद्धान्त हैं, जिनका 'सहजिया-वैष्णव धर्म' के ऊपर भी प्रभाव पड़ा। सहजिया सम्प्रदाय के योगियों के मतानुसार 'सहजावस्था' को प्राप्त करना सिद्ध की पूर्णता है। इसी अवस्था के नामाकरण निर्वाण, महासुख,[8] महामुद्रा-साक्षात्कार आदि है। इसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान-ग्रहक, गाह्य तथा ग्रहण इस लोक प्रसिद्ध त्रिपुटी का उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (800 ई के आसपास) ने किया है।[9]

सहजावस्था में मन तथा प्राण का संचार नहीं होता। सूर्य ओर चन्द्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चन्द्र और सूर्य इड़ा-पिंगलामय आवर्तशील काल-चक्र का ही नामान्तर है। निर्वाण पद काल से अतीत होता है, इसीलिए वहाँ चन्द्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है- 'उन्मानी भाव। इस अवस्था में लय का

स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध सम्पन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज स्वभाव है। इस समय जो आनन्द होता है, उसे महासुख कहते हैं। यह कारण-हीन परमार्थ है। इस महासुख को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय गुरु का उपदेश तथा तन्त्र-मन्त्र और साधन-मार्ग है। 'सहजिया' लोगों के गुरु-युगनद्धरुप है। वह शून्यता और करुणा की युगल मूर्ति हैं, उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह हैं। शून्यता सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिए महती दया दिखलाना है। गुरु को शून्यता तथा करुणा का मिश्रित मूर्ति बतलाने का अभिप्राय यह है कि वह परम ज्ञानी होता है, परन्तु साथ ही जगत् के नाना प्रपंचो से आर्त्त प्राणियों के लिए उसके ह्दय में महती दया विद्यमान रहती है। वज्रयान में प्रज्ञा और उपाय के एकीकरण के ऊपर जोर दिया गया हैं क्योंकि प्रज्ञा उपाय का परस्पर मिलन ही निर्वाण है।[10]

सहजिया वैष्णव लोग रागानुमा प्रेमभक्ति के अनुयायी हैं, इसीलिए वे लोग वैधी भक्ति को विशेष महत्व नहीं देते। इसमें मनुष्य परमात्मा का ही रुप है और प्रेम ही परमात्मा का सहज धर्म है जिसे मनुष्य भगवान की विभूति होने के कारण स्वतः धारण करता है। इसी प्रेम के कारण वह अपने व्यक्तित्व का इतना प्रसार कर लेता है कि वह प्रत्येक जीव के साथ भी अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है और तद्द्वारा भगवान् के साथ भी अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है। तब वह सिद्ध बन जाता है और परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है।[11]

सहजिया लोग इसीलिए मनुष्य के रुप-विश्लेषण को ज्यादा महत्व देते हैं। प्रत्येक मनुष्य की भीतर 'स्वरुप' और 'रुप' नामक दो भिन्न-भिन्न कोटियों के स्वभाव विद्यमान रहते हैं। इन लोंगो का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्व वर्तमान रहता है, जिसको स्वरुप कह सकते है और इसके साथ ही उसमे एक निम्न स्तर का भौतिक तत्व भी वर्तमान रहता है, जिसे रुप कह सकते हैं। इस साधकों के अनुसार प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को अपने रुप से ऊपर स्वरुप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को उपार्थिव रुप में परिणत कर देना चाहिए। मनुष्य जब तक उसका प्रेम विशुद्ध न होकर केवल मलिन बना रहता है, परन्तु जब साधक रुप के ऊपर स्वरुप का आरोप कर अपने विशुद्ध रुप मे आ जाता है, तब उसका प्रेम भी अपनी मलिनता को छोड़कर विशुद्ध रुप में प्रकाशित हो उठता है। इसीलिए ये लोग अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए किसी प्रक्रिया के साथ प्रेम की साधना भी नितांत आवश्यक मानते हैं।[12]

समस्त बंगाल तथा उड़ीसा को भक्तिरस से आप्लवित करने वाले महाप्रभु चैतन्य के धार्मिक सिद्धान्तों का तथा आध्यात्मिक तथ्यों को शास्त्रीय विवेचन वृन्दावन की पवित्र तीर्थ स्थली में सम्पन्न हुआ था। चैतन्यमत, माध्वमत की ही गौड़ीय शाखा है, परन्तु दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। माध्वमत द्वैताद्वैत का पक्षपाती है, चैतन्यमत अचिंत्यभेदाभेदभाव सिद्धान्त का अनुयायी है। चैतन्य महाप्रभु भक्ति रस की जीवन्त मूर्ति, तथा उदात्त, मधुर भाव के जाज्वल्यमान प्रतीक थे।[13] इनका जन्म नादिया के एक प्रसिद्ध ब्राह्मणकुल में हुआ था। भगवान के नाम का संकीर्तन चैतन्य का अत्यन्त लोकप्रिय आध्यात्मिक साधन था, जिसके द्वारा जन साधारण को अपने आन्दोलन के प्रति आकृष्ट करने मे सर्वथा कृतकार्य हुए। इनके जीवन काल में ही बहुत से लोगों को उनके अवतार होने में विश्वास हो गया था।[14]

वंशी-शिक्षा के अनुसार वंशीदास ने चैतन्य की मूर्ति का प्रचार किया। चैतन्य के अनन्तर तीन व्यक्तियों को इस प्रचार मे विशेष योगदान रहा है- (1) श्रीनिवास आचार्य, (2) श्रीनरोत्तमदास, (3) श्यामानन्द दास। इन व्यक्तियों ने चैतन्यमत का प्रचार 17 वें शतक में विशेष रुप से किया। श्यामानन्द का कार्य उड़ीसा में चैतन्यमत का प्रचार करना था, परन्तु अन्य दोनों आचार्यो ने बंगाल में इस मत का प्रचुर प्रसार किया।[15]

चैतन्यमत का शास्त्रीय रुप, विधि-विधानों की व्यवस्था, भक्ति-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्णय बंगाल में न होकर सुदूर वृन्दावन में विद्वान षड्गोस्वामियों के द्वारा किया गया। ये ही लोग चैतन्यमत के प्रतिष्ठ तथा सिद्धान्तों की व्यवस्था में नितान्त प्रयन्तशील तथा कृतकार्य थे। चैतन्य मत के प्रधान स्वयं चैतन्यमहाप्रभु नित्यानन्द और अद्वैताचार्य थे। इनके अनन्तर छः गोस्वामी क्रमशः रुप, सनातन, रघुनाथ दास, रघुनाथभटट और जीवगोस्वामी थे। ये गोस्वामी लोग वृन्दावन में ही रहते थे और भगवत् भजन के अनन्तर ग्रन्थ रचना में निरत रहते थे। इनके लिखित ग्रन्थ बंगाल में भेजे जाते थे जहाँ उनकी अनेक प्रतियाँ लिखकर भिन्न-भिन्न स्थानों में जनता के कल्याण के लिए रखी जाती थीं। इन आचार्यो की सम्मति ही किसी वैष्णव ग्रन्थ की प्रामाणिकता की अन्तिम मुहर थी। इन आचार्यो के कारण ही वृन्दावन को इतना अधिक गौरव वैष्णव समाज में प्राप्त हुआ।[16]

श्री रुपगोस्वामी भक्ति तथा विद्वता के जाज्वल्यमान प्रतीक थे। एक धनाढय ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था ये बंगाल के नवाब हुसैन के प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे। चैतन्य की विपुल ख्याति तथा भगवन्निष्ठा की कथा इनके कानों में पड़ी। फलतः ये अपने ऊँचे पद को त्यागकर सन्यास ले लिये। चैतन्य से उनकी भेंट त्रिवेणी के पवित्र संगम पर हुयी। उन्हीं के उपदेशों से इन्होंने वृन्दावन को अपना निवास स्थल बनया। वहीं रहकर ये वैष्णव भक्तमण्डली के सामने आदर्श वैष्णव का जीवन व्यतीत करते थे। ये कवि और विद्वान दोनों थे। इन्होंने रुचिर नाटकों की रचना कर भगवान श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का बड़ा ही भव्य तथा मधुर प्रस्तुत किया है। भक्ति-शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन इनके जीवन का प्रधान कार्य रहा है। उज्ज्वल नीलमणि तथा

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में इन्होंने भक्ति के रसरुप से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके 'हंसदूत' तथा 'उदभवदूत' काव्य की दृष्टि से अत्यन्त मधुर काव्य है, जिनमें जीव गोस्वामी की भक्तिमय ह्दय सर्वत्र झलकता है। कहा जाता है कि मीराबाई ने इन्हीं से दीक्षा ली थी।[17]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भक्ति की जो धारा सन्त-कवियों ने प्रवाहित की उसके प्रारम्भ में निर्गुणोपासना का स्वरुप था, जो बाद में सगुणपासना में परिवर्तित हो गया। इनमें प्रारम्भ में वैदिक-व्यवस्था की उपेक्षा या विरोध का रुप देखने को मिलता है, किन्तु परवर्ती सन्त-कवियों में यह विरोध भी शिथिल होता गया। बहुदेव-पूजा, मूर्ति-पूजा तथा अल्प कर्मकाण्ड उपेक्षा की दृष्टि से देखे गये। इसके मूल में सामाजिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जा सकती है, किन्तु दार्शनिक आस्था तथा आस्तिकता का अभाव कभी नहीं हुआ। गोस्वामीजी ने इन सभी विवादों तथा उपेक्षा का मानो तिरस्कार कर पुनः पुरातन धर्म-व्यवस्था को मान्यता दी तथा उनका प्रतिपादन और प्रतिस्थापन किया। इतना होते हुए भी उन्होंने समाज में प्रचलित तथा प्रतिष्ठित सभी देवताओं की स्वतंत्र सत्ता न मानकर उनको राम का अनुगामी बनाया तथा उनकी पूजा एवं आराधना के विषय में कुछ भी नहीं कहा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उदधृत-भक्ति का विकास-मुन्शी राम शर्मा, पृ. 335
2. कबीर ग्रन्थावली में अष्टपदी रमैनी अन्तर्गत, पृ. 231
3. कबीर ग्रन्थावली पृ. 200, पद- 332
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आर्चाय राम चन्द्र शुक्ल
5. पद्मावत् नागमति खण्ड
6. सूरदास- सूरसागर
7. सूरदास- सूरसागर
8. सरहपाद का वचन, सेकोद्देशटीका, पृ. 63
9. सरहपाद का वचन, सेकोद्देशटीका, पृ. 63
10. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 47
11. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 480
12. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 481
13. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 500
14. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 503
15. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 504
16. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 506
17. उदधृत- भागवत सम्प्रदाय- पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 507

●

हिन्दी साहित्य में किसानों की स्थिति का समीपावलोकन

डॉ0 संगीता यादव *

''ब्राह्मण का मान। ठाकुर की शान
सेठ की तिजोरी। खेत-खलिहान

मिल-कारखाने, कोठी और हवेली
मेरे श्रम और शोषण से फले-फूले है।''[1]

भारत जैसे कृषि प्रधान देश जहाँ की अर्थ-व्यवस्था का तीन चौथाई भाग कृषि पर आधारित है उन भारतीय किसानों की वास्तविक स्थिति की पड़ताल करने के लिए हम सरकारी आँकड़ों का सहारा ले तो सकते हैं परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव उनकी मनःस्थिति एवं उनके संवेदनात्मक पक्षों से रूबरू होने के लिए हमें साहित्य का सहारा लेना ज़रूरी हो जाता है। साहित्य ही वह एक माध्यम है जिसके द्वारा हम उनकी दशा एवं संघर्ष से अवगत हो सकते हैं। साहित्य के ज़रिये समाज के विभिन्न वर्ग के संघर्ष एवं उनकी बेचैनी को लेखक बिना किसी राजनैतिक या सामाजिक दबाव के तथा बिना किसी रोक-टोक के अपनी बात कहता है। किसानों की समस्या नई नहीं है और इनका संघर्ष भी लोगों से अनभिज्ञ नहीं है। अतः साहित्य ने इनकी समस्या एवं संघर्ष को सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिससे शहरी जीवन जी रहे लोगों को भी इन किसानों के बुनियादी जरूरतों के लिए रत जीवन के दुख-दर्द का एहसास हो सके। साहित्य में किसान श्रमजीवी वर्ग के रूप में वर्णित रहा है प्रगतिवादी कवियों ने मार्क्सवादी विचारधाराओं से प्रभावित रचनाओं को लिखते समय कारखानों में काम करते मजदूरों के साथ खेतों में खून-पसीना बहाते किसानों की व्यथा का भी वर्णन किया है। किसानों की स्थिति की पड़ताल करते समय रचनाकारों की दृष्टि व्यापक हो जाती है और वह उन पहलुओं को भी शामिल करने लगता है जहाँ-जहाँ ये दमित और शोषित हुए है।

''नगरों के ऐसे पाखण्डों से दूर
साधना-निरत, सात्विक जीवन के महासत्य

तू-नन्दनीय जग का, चाहे रह छिपा नित्य
इतिहास कहेगा तेरे श्रम में रहा सत्य''[2]

भारतीय किसान जो अभाव एवं तंगहाली में जीने को विवश हैं परन्तु उसी के साथ निरन्तर अपने खेतों से जुड़े रहने के लिए सुविधाहीन कृषि के माध्यम से खेती करते रहे हैं। किसानों की स्थिति के बारे में अक्सर यह सुनने या पढ़ने को मिल जाता है कि अमूक प्रदेश के किसान ने फसल के नुकसान के कारण आत्महत्या कर ली या किसानों का घर बाढ़ बह गया या ऋण न चुका पाने के वजह से उन्हें अपने खेतों से हाथ धोना पड़ा आदि।किसानों में आत्महत्या करने की प्रविति 1990 के बाद से पैदा हुई जिसमें हर वर्ष तकरीबन 10,000 से ज्यादा किसानों द्वारा आत्महत्या करने की रिपोर्ट दर्ज की गई है। भारत जैसे उदारवादी देश में जहाँ किसी की मौत पर किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता है, सरकार की अतिसंवेदना शून्य हो चुके होने का प्रमाण यह रहा है कि सरकारें फसल खराब हो जाने पर किसानों को मुआवजे की राशि के रूप में 6रु0 से लेकर 100 रु0 तक दे रही है। सरकार की नीतियों की वज़ह से अमीर और अमीर तथा गरीब और ज्यादा गरीब होता जा रहा है। किसानों के सामने एक दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है निजी औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र द्वारा किसानों की उपजाऊ जमीन को उनकी मर्जी के खिलाफ अनुचित मूल्य में उनसे हथिया लेना, जिससे आहत हो इन किसानों ने एकजुट हो कर अनेक आन्दोलन किये हैं। लोगों को भ्रमित किया गया कि किसान उचित मूल्य न मिलने से नाराज हैं परन्तु किसानों के आन्दोलनों के पीछे का मुख्य कारण कृषि योग्य भूमि का लगातार कम होना रहा है, जिसे नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता है। इन सब के बावजूद किसान दलितों एवं श्रमजीवियों के समान ही संघर्ष करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन अपनी धरती को समर्पित कर देते हैं परन्तु इसके बदले इन्हें अभाव, गरीबी और संघर्ष का ही सामना करना पड़ता है। किसानों में परोपकार की भावना महसूस की जा सकती है। संस्कृत में कहा गया है 'परोपकाराय सता विभूतयः' सज्जनों का जीवन दूसरों की भलाई के लिए होता है। परोपकार की भावना से भरा किसान दुःख-दर्द सहते हुए अपने खेतों में संघर्ष करता रहता है। अगर हम उसके संघर्ष के पीछे के कारणों की खोज करें तो यह ज्ञात होगा किर इनकी आर्थिक स्थिति इतनी बदतर होती है कि वह अपने खेत में स्थायी सुधार के लिए रुपये लगाना तो दूर रहा प्रतिदिन के कृषि कार्यों से सम्बन्धित वस्तु पर भी पैसा लगा पाने में असमर्थ रहते हैं। किसानों की दशा का वर्णन करते हुए अच्युदानन्द मिश्र अपनी कविता में लिखते हैं-''उसके हाथ में अब कुदाल नहीं रही/ उसके बीज सड़ चुके हैं/खेत उसके पिता ने ही बेच डाले थे/ उसके माथे पर पगड़ी भी नहीं रही/हाँ कुछ दिन पहले तक/उसके घर में हल का फल और मूठ/ हुआ करता था/उसके घर में जो/नमक की आखरी डली बची है/वह इसी हल की बदौलत है/उसके सफेद कुर्त्ते को/ उतना ही सफेद कह सकते हैं/जितना कि उसके घर को घर/ उसके पेशे को किसानी/उसके देश को किसानों का देश/नींद में अक्सर उसके पिता/दादा के बखार की बात करते/बखार माने/पूछता

* रिसर्च असोसिएट, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है उसका बेटा/जो दस रुपये रोज पर खटता है/नंदू चाचा की साइकिल की दुकान पर/दरकती हुई ज़मीन के/सूखे पपड़ों के भीतर से अन्न/के दाने निकालने का हुनर/नहीं सीख पायेगा वह/यह उन दिनों की बात है/जब भाषा इतनी बंजर नहीं थी।''[3]

किसानों की मुख्य समस्या कर्ज की है उन्हें अपने खेत के हर काम के लिए जैसे कभी खाद के लिए, कभी बीज के लिए, कभी बैल के लिए, तो कभी लगान चुकाने के लिए या परिवारिक जरूरतों को पूरा करने हेतु जैसे-कभी शादी-ब्याह के लिए, तो कभी सामाजिक दण्ड की भरपाई के रूप में अक्सर महाजनों एवं साहूकारों से ऋण लेना पड़ता है जिसके कारण कई बार तो किसानों की तो ज़मीन भी उनसे हाथों से निकल जाती है और वे जीवन भर कर्जदार बन कर रह जाते है। कर्ज देने वाले पेशेवर महाजन किसानों की अशिक्षा, अज्ञानता, असहाय अवस्था और कष्ट का पूरा फायदा उठाते हुए उन्हें अपने जाल में फँसा लेते हैं। किसानों की अपनी धरती अपने खेत-खलिहान के प्रति लगाव व प्रेम को व्यक्त करते हुए नागार्जुन लिखते हैं-

''खेत हमारा भूमि हमारी सारा देश हमारा है।
इसलिए तो हमको इसका चप्पा-चप्पा प्यारा है।''[4]

भारतीय किसानों की स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक और सोचनीय है क्योंकि साधनों के अभाव में किसानों को खेत में अन्न उपजाने के लिए न जाने कितनी कठिनाईयों से गुज़रना पड़ता है वह प्रकृति पर निर्भर होकर कृषि करने को बाध्य है, क्योंकि अर्थ के अभाव में वह नवीन तकनीकों एवं सुविधाओं को एकत्र नहीं कर सकता है और यदि वह किसान दलित वर्ग का हो तो उसकी मजबूरी और बढ़ जाती है। अगर उसे किसी की जमीन अधिया जोतने के लिए मिल जाती है तो उस पर अनाज उगाने के लिए पूरी शक्ति लगा देता है। इतनी मेहनत करने के बाद उसे मजदूरी के रूप में थोड़ा सा अनाज मिल जाता है जिससे वह अपने परिवार का सिर्फ पेट ही भर सकता है। इस प्रकार के किसानों का जीवन हमेशा संशय में ही रहता है कि कब उनसे वह जमीन छीन ली जाय और वह असहाय हो जाय। यदि दलित किसानों की स्थिति पर नज़र डालें तो ज्ञात होगा कि उसके जीवन में कुछ भी स्थायी संपत्ति के रूप में नहीं रहता है जिसे वह अपनी आने वाली पीढ़ी को दे सकें। वे अनिश्चितता से भरी जिन्दगी जीने के लिए बाध्य होने के साथ अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाते हैं तथा समाज द्वारा अलग किए गए अंश की भाँति रह जाते हैं। सोहन लाल सुमनाक्षर ''पुर्वजन्म का ढकोसला'' कविता में ऐसे किसानों की व्यथा कहते हैं-

'मेरे परदादा मर गये जूठन खाते। उतरे चिथड़े पहनते
खेत बोते-जोतते

इसे पूर्व-जन्मों का फल मानते-मानते
और जमींदार/फूलता गया/ फलता गया.....''[5]

प्राचीन काल में किसानों की स्थिति का पता करें तो ज्ञात होता है कि कबीर और तुलसी किसानों की गणना वर्ण या धर्मगत नहीं करते बल्कि वे किसानों को एक विशाल उत्पादक समुदाय के रूप में देखते हैं। ''किसबी किसान कुल'', ''खेती न किसान को'', ''कृषि निरावहिं चतुर किसाना'' आदि लिखकर तुलसीदास ने किसी एक वर्ण की ओर नहीं बल्कि अनेक वर्णों वाले विशाल मानव समुदाय की ओर संकेत किया है। कबीर के विचार भी किसानों को लेकर संवेदनशील है वे शायद किसानी के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जानते लेकिन किसानों की स्थिति से अवगत नज़र आते हैं। उनके दोहों में किसानों की दशा वर्णन महसूस किया जा सकता है। रामविलास शर्मा लिखते हैं कि, 'कबीर के किसान अपने मेंड़ खुद बाँधेंगे। वे अपनी जमीन के मालिक हैं। तुलसीदास के किसान अपने खेत निराते हैं। कामकाजी किसान है। 'चतुर किसाना और कुशल किसानी' एक ही वचन की शब्दावली है।'' कबीर कहते हैं कि-

''आपन आप मेंड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी।
सूरत निरत का बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुसल किसानी।''[6]

हिन्दी साहित्य में किसानों की स्थिति पर कई साहित्यकारों ने अपनी लेखनी चलाई है और किसानों की समस्याओं को केन्द्र में रख कर कहानी, कविता एवं उपन्यासों की रचना की है। प्रेमचन्द, फणीश्वर नाथ रेणु, शेखर जोशी, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र आदिने किसानों के जीवन को अपने गद्य का विषय बनाया वहीं केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, सुमित्रानन्दन पंत, रामधारी सिंह दिनकर, आदि ने अपनी कविताओं में किसानों की स्थिति का ब्यौरा प्रस्तुत किया। हिन्दी साहित्यकारों द्वारा किसानों की विपरीत स्थिति पर लिखी गई रचनाओं में उसके कष्ट संघर्ष एवं निरन्तर होने वाल सामन्ती शोषण की झलक दिखाई देती है जो उनके जीवन की यथास्थितिवादिता एवं संवेदनात्मक अनुभूति से हमारा परिचय कराती है। ग्रामीण परिवेश के सुखद वर्णन के साथ कृषकों के अनेक दुःख-दर्द को साँझा करते हुए रचनाकारों ने अव्यवस्थित एवं सुविधाहीन खेती-बाड़ी के तरीकों पर प्रकाश डाला है।

केदारनाथ अग्रवाल किसानों एवं श्रमिकों पर अत्याचार और शोषण करने वाले पूंजीपतियों की निन्दा करते हुए उनकी विपरीत स्थिति के कारणों की वजहों को तलाशने का प्रयास करते हैं। वे इन पूंजीपतियों, मिल मालिकों, सूदखोर बनियों, साहूकारों एवं राजनेताओं को कृषकों के अभावग्रस्त जीवन व उनकी दुर्दशा का मुख्य कारण मानते हैं। वे अपनी कविताओं में इन संघर्षरत किसानों की बातों को पूरी समग्रता एवं एकाग्रता के साथ कहने का प्रयास करते हैं और यह मानते हैं कि इनकी विवशता एवं बेचैनी को बताने के लिए जिस व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है वह कवि या लेखक के पास ही हो सकती है, इसलिए वे अपनी कविताओं में

किसानी जीवन की हर एक छोटी-बड़ी घटना को पूरे ठहराव के साथ कहते हैं-

''जब बाप मरा तब क्या पाया।
भूखे किसान के बेटे ने?

घर का मलबा, टूटी खटिया।
कुछ हाथ भूमि वह भी परती।

चमरौधे जूते का तल्ला।
छूटी टूटी बुढ़िया औंगी।

दरकी गोरसी बहता हुक्का।
लोहे की पत्ती का चिमटा।''[7]

जगदीशचन्द्र अपने उपन्यास 'धरती धन न अपना' में जहाँ दलित किसानों के अपनी धरती को छोड़ कर शहर की ओर पलायन करते किसान तथा मिल-कारखानों में मजदूर बनने के संघर्ष का वर्णन करते हैं। प्रेमचन्द के अधिकांशतः उपन्यास एवं कहानियाँ किसान जीवन की त्रासदी एवं उनकी बेचैनी को व्यक्त करने के साथ दमनकारी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के स्वर भी सुने जा सकते हैं। प्रेमचन्द के द्वारा किसान के शोषण की जो कथा प्रस्तुत की गई है, वह कहीं भी अतिश्योक्ति से भरी हुई न होकर सहज और वास्तविक सी प्रतीत होती है। प्रेमचन्द की कहानियाँ जैसे पूस की रात, कफन, दो बैलों की कथा, मुक्तिमार्ग आदि किसानों को हल और बैलों के साथ खेत-खलिहानों की जमीनी हकीकत बयाँ करती नज़र आती हैं। ''किसान-किसानी-ग्रामीण पृष्ठभूमि की रचनाओं के प्रेमचन्द माहिर थे, और इन समीकरणों के निर्वाह में उन्होंने रचनाकार की रौ निभाने में अपनी यथार्थवादी छवि को भी लांघने से परहेज़ नहीं किया! किसान को सामाजिक ज़मीनों को तोड़ते एवं राजनैतिक चेतना को निभाने में अगुवाई करते उनकी कितनी ही कहानियों में देखा जा सकता है।''[8]तो प्रेमचंद गोदान में होरी के सामंतवाद तथा पूरोहितवाद से प्रभावित किसान के अपने खेत को छोड़ने की मजबूरी बताते है। किसान कितना बेबस और लाचार है इसे इन रचनाओं द्वारा समझा जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास गोदान का होरी जहाँ स्थिति से समझौता नजर आता है वहीं धनिया के भीतर विरोध का स्वर मिलता है प्रेमचन्द ने बड़ी सहजता से इन पात्रों की रचना की है जो किसानों के जीवन की उन घटनाओं से हमारा परिचय कराते हैं जिससे शहर में रहने वाला व्यक्ति अब तक अनजान रहा है। प्रेमचन्द ने गोदान की रचना कृषक जीवन से जुड़ी समस्याओं का चित्रण करने के साथ उनकी बदहाली और अभावग्रस्त जीवन को व्यक्त करने हेतु की जिसका वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है, 'बैसाख तो किसी तरह कटा, मगर जेठ लगते-लगते घर में अनाज का एक दाना न रहा। पांच पेट खाने वाले और घर में अनाज नदारद। दोनों जून न मिले, एक जून तो मिलना ही चाहिए। भर पेट न मिले, आधा पेट तो मिले। निराहार कोई कै दिन रह सकता है। उधार ले तो किससे? गाँव के सभी छोटे-बड़े महाजनों से तो मुँह चुराना पड़ता था।''[9]

प्राचीन काल से हमारे देश का किसान समाज की महत्त्वपूर्ण और मूल आवश्यकता को पूरा करने में लगा हुआ है। देश की अर्थ व्यवस्था को सुधारने में किसानों का योगदान हमेशा से रहा है लेकिन इन किसानों की दशा में कोई खास परिवर्तन नजर नहीं आता है। वह बहुकोणीय समस्याओं से जूझता हुआ मज़दूर का जीवन जीने के लिए बाध्य अपनी जड़ों से दूर होता जाता है। उसके बच्चे अनपढ़ रह जाते हैं। उनकी बेटियाँ अधेड़ों से ब्याह दी जाती हैं। किसानों का अर्थिक रूप से ताउम्र कमजोर होने का मुख्य कारण उनकी भूमिहीनता भी रही है। कृषि श्रम जाँच के अनुसार गाँव में सबसे ज्यादा प्रतिशत परिवार भूमिहीन किसान हैं और इन किसानों को दूसरों के खेतों में मजदूरी करने के बदले बहुत कम रूपये मिलते हैं जिससे वह बड़ी कठिनाई से अपना भरण-पोषण कर पाते हैं। साल में इनको 197 दिन ही काम मिल पाता है बाकी समय से बेकार रहते हैं। इन किसानों पर निरन्तर दबाव बनाये रखने वाले पूँजीपतियों पर कभी-कभी इनका आक्रोश फूट पड़ता है और ये विद्रोह करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। ओम प्रकाश वाल्मीकि 'रोटी का समीकरण' कविता में लिखते हैं कि-

''ठाकुर के खेत से
सेठ की तिजोरी तक मेरा ही लहू बहता है
वही सबसे सस्ता है।''[10]

किसानों की स्त्रियों का जीवन और भी ज्यादा दर्द और कष्ट से भरा है जिसे वर्णन करना असंभव है क्योंकि वह घर और बाहर दोनों जगह खटती हैं लेकिन आर्थिक तंगी का शिकार भी वह सबसे ज्यादा रहती है। परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता भी स्त्री के हिस्से ही रहती है। दूसरों के खेतों पर काम करने वाली स्त्रियों को भूमि-मालिकों के शोषण की भी शिकार होता पड़ता है। अपने साथ होते अमानुषिक कृत्यों को सहती इन स्त्रियों का स्वर हिन्दी साहित्य में उभरता तो दिखाई देता है जो उन्हें शक्ति देने के साथ-साथ अभिव्यक्ति का भी माध्यम प्रदान करता है। बेबी कांबले अपनी आत्मकथा 'जीवन हमारा' में लिखती हैं, 'नाक बहती ननद, अधनंगे देवर इसकी उसकी सभी की गाली खाते-खाते वह काम करती। पानी लाते-लाते उसे दोपहर एक-डेढ़ बज जाते।''[11] यदि कोई विद्रोही स्त्री जो उच्च वर्ग के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाती है, तो उसे पूरे गाँव में बाल काटकर निर्वस्त्र घुमाया जाता है।

शोषण और अत्याचार सहने-सहते एवं दमित जीवन जीते-जीते इन किसानों के सब्र का बाँध कब टूट जाय और उनके हाथ कब हल की जगह हथियार पकड़ लें? धीरे-धीरे बदलते इनके स्वरूप एवं क्रांतिकारी स्वर का आभास साहित्य में मिलता नजर आता है। इसलिए समाज को किसानों की स्थिति को समझना होगा और जल्द-से-जल्द उन्हें उस संघर्ष भरे जीवन के बाहर निकालना

होगा। इन किसानों की स्थिति में सुधार लाने के लिए सरकारी नियमों के निर्माण के साथ उनके हित के बारे में सरकार को नये सिरे से सोचना होगा जो इनके सामान्य मनुष्य बनाने में सहायक सिद्ध हों और उनके आक्रोश और दुःख को भी कम कर सकें। ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि-

'कभी नही माँगी बालिश्त भर जगह।
नहीं माँगा आधा राज भी

माँगा है सिर्फ न्याय
जीने का हक

थोड़ा सा पीने का पानी।''[12]

किसानों की स्थिति एवं समस्याओं पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि किसानों, श्रमिकों एवं दलितों का संघर्ष एवं उनकी संवेदना का स्तर समान रहा है, क्योंकि इन्हें दबाने कुचलने एवं शोषित की कोशिश ऊपर के शोषण वर्गों जैसे सामन्तवादियों, पूँजीपतियों एवं सत्ताधारियों ने की, जिसके कारण इस वर्ग केस लोगों को अनेक अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।

सन्दर्भ सूची

1. नेट से साभार, 2013।
2. नेट से साभार, 2011।
3. अच्युतानंद मिश्र की कविता, नेट से साभार, 2016।
4. नागार्जुन की कविता, नेट से साभार, 2005।
5. पूर्वजन्म का ढ़कोसला, सोहनपाल सुमनाक्षर, पृ0 80, 2012।
6. कबीर के पद, श्याम सुन्दरदास, पृ0 109, 1996।
7. केदारनाथ अग्रवाल की कविता, नेट से साभार, 2005।
8. विकास नारायण राय, कहीं ज्यादा मूल्य है प्रेमचंद, उद्भावना, पृ0सं0 99, 2002।
9. प्रेमचन्द, गोदान, पृ0 168, 2012।
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, रोटी का समीकरण, पृ0 59, 1998।
11. बेबी काम्बले, जीवन हमारा, पृ0 78, 2012।
12. ओमप्रकाश वाल्मीकि, नेट से साभार, 1998।

●

भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण प्रबंधन एवं मानवाधिकार-एक अध्ययन

डॉ0 मुकेश कुमार मालवीय[*]

सामाजिक विकास का उद्विकासीय सिद्धांत दर्शाता है कि आदिकालीन अवस्था में मनुष्य अन्य जीवधारियों की तरह मूलतः भौतिक मानव के रूप में प्रकृतस्थ था। इस अवस्था में वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भर था तथा पर्यावरण एवं मानव सम्बन्ध सहसम्बन्धित थे। मानव क्रमशः बौद्धिक क्षमता द्वारा अपनी अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्यावरण पर नियंत्रण एवं परिवर्तन करता रहा। इस प्रकार प्राकृतिक पर्यावरण में मानवीय हस्तक्षेप द्वारा विभिन्न संस्कृतियाँ देश, कला, परिस्थिति के अनुरूप अभ्युदित हुईं। सामाजिक विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को समाज-वैज्ञानिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से समझा है। डार्विन (1859) ने 'ओरजिन ऑफ स्पेसीज' की व्याख्या करते हुए मानव एवं पर्यावरण संबंध को अपने विचार का केन्द्र बिन्दु बनाया तथा अपने अध्ययन द्वारा व्यक्त किया कि मनुष्य प्रकृति के अधीन है। अतः प्रत्येक मानवीय गतिविधियाँ पर्यावरण से प्रभावित होती रही हैं।

प्रस्तुत शोध चार खण्ड में विभाजित है। प्रथम खण्ड में पर्यावरण एवं मानव सम्बन्धों से संबंधित सामान्य सैद्धांतिक विचारों को रखा गया है। द्वितीय खण्ड में पर्यावरण संबंधी नीतियों एवं अवधारणाओं की समसामयिक व्याख्या की गई है। तृतीय खण्ड में भारतीय सनातन विचारों को पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में विस्तृत रूप में समझाया गया है तथा चतुर्थ खण्ड में पर्यावरण संबंधी मानवाधिकार पर चर्चा की गई है।

समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना, धार्मिक मान्यताएँ तथा सृजनात्मक अवस्थाएँ इसकी प्रतीक हैं। दूसरा सिद्धांत उपयोगिता से संबंधित है जो पर्यावरण को उपभोग की वस्तु समझता है। यह पश्चिमी देशों का सभ्यतावादी दृष्टिकोण है जिसने मानवीय विकास के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग औद्योगिक उत्पादनों और ऊर्जा-श्रोत के भंडारों द्वारा महाद्विपीय विकास एवं ब्रह्माण्ड के अन्य उपग्रहों पर अधिकार करने की बात करता है। इस प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों का तीव्र गति से क्षरण हुआ है तथा प्राकृतिक पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। विकास की इस प्रक्रिया ने महाद्वीपीय पर्यावरण को अत्यधिक क्षति पहुँचाया है। भारतीय विचारक इसके विरोधी रहे हैं। महात्मा गांधी जी सदैव जीवन की आवश्यकताओं को सीमित करने का संदेश देते रहे हैं तथा कहते थे कि प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए दुनिया में पयाप्त संसाधन हैं परन्तु मनुष्य के लालच के लिए नहीं।

उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के लिए पर्यावरण प्रबंधन की आवश्यकता है और यह प्रबंधन मानव का प्रकृति के साथ यथोचित समायोजन से संबंधित है। इसमें परिस्थितिकीय स्थिरता को अव्यवस्थित किए बिना प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाना सम्मिलित है। पर्यावरण प्रबंधन से सम्बन्धित आधुनिक समाज-वैज्ञानिकों ने कुछ मूलभूत आधारों का प्रतिपादन किया है। इस संदर्भ में तीन तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। प्रथम-मानव समाज के विकास के लिए विभिन्न विकल्पों को खोजना एवं जीवन की गुणवत्ता हेतु अनुकूलतम कार्य-विधि को अपनाना। द्वितीय-मानव पर्यावरण में संतुलन स्थापित करना। तृतीय-उत्पादन एवं पर्यावरण में धनात्मक सह-सम्बन्ध के लिए वांछित नीति अपनाना। वस्तुतः आर्थिक विकास और सामाजिक प्रगति एक सतत् प्रक्रिया है। देश एवं काल के अनुसार इस प्रकिया की गति में परिवर्तन आता रहता है। सामाजिक संस्थाएँ, व्यवस्थाएँ और व्यक्तियों की आदतें समाज में आये तकनीकीय बदलाव से परिवर्तित होती रहती हैं। अतः सामाजिक परिवेश की इस परिवर्तनशीलता को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण प्रबंधन की दीर्घ-कालिक एवं अल्प-कालिक नीति निर्धारित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार पर्यावरण का प्रत्यय पर्यावरण प्रतिरूप से सम्बन्धित है जो पदार्थ की आपूर्ति में वृद्धि के साथ उत्पन्न सीमितताओं और चुनौतीपूर्ण समस्याओं का निष्पादन करने हेतु नीतियों को समाहित करता है।

पर्यावरण प्रबंधन एक प्रकार की कार्य योजना है जिसके द्वारा पर्यावरण प्रदूषण के कारणों की पहचान, उसका नियमन और भविष्य की संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में अल्प एवं दीर्घकालिक उपायों का निर्धारण होता है जिससे पर्यावरण की गुणवत्ता और विकास सामानान्तर चलता रहे। इस प्रकार गुणवत्ता और विकास पर्यावरण के दो मुख्य तत्त्व हैं। गुणवत्ता व्यक्तिनिष्ठ होती है इसलिए पर्यावरण प्रबंधन में इसे सामान्यतया प्राप्त करना कठिन होती है। वस्तुतः पर्यावरण प्रबंधन एक प्रक्रिया है जो पर्यावरण सम्बर्द्धन पर केन्द्रित है। इसके लिए अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक नीतियों का नियमन किया जाता है जिससे स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण गुणवत्ता को संरक्षित रखते हुए समाज का आर्थिक विकास करने पर सहमत जताया गया है। अतः पर्यावरण प्रबंधन की सर्वमान्य ग्राह्यता में मानव समाज के सभी वर्गों के लोगों की न्यूनतम सुख-सुविधा का प्रबंधन प्राकृतिक पर्यावरण को संतुलित रखते हुए समाज का विकास करना सम्मिलित है। वर्तमान

* सहायक प्राध्यापक, विधि-संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समयावधि में विकसित एवं विकासशील देशों के मध्य इस पर वैचारिक मनान्तर है जिससे महाद्वीपीय पर्यावरण असंतुलित हुआ है। परिस्थिति तंत्र की सम्पूर्णता एवं समग्रता पर आधारित विकास 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना को समन्वित विकास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पर्यावरण प्रबंधन की अवधारणा इसी तथ्य पर बल देती है।

भारतीय सामाजिक चिन्तन में मानव एवं पर्यावरण के बीच समन्वय स्थापित करने पर जोर दिया गया है। इसका उल्लेख वेद, उपनिषद्, स्मृति तथा धर्मशास्त्रों में मिलता है। भारतीय प्राचीन ज्ञान में प्रकृति यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के साथ ही पौधों की पूजा चेतनता के आधार पर स्थापित है। यह चेतन प्रक्रिया पर्यावरण प्रबंधन के महत्व एवं उद्देश्य को परिलक्षित करती है। साथ ही प्राकृतिक पर्यावरण एवं संसाधनों के साथ मानव का सामाजिक आत्मीकरण प्राचीनकाल से मनुष्य के अस्तित्त्व की सम्पूर्णता को प्रदर्शित करता है। भारतीय जीवन दर्शन दैनिक जीवन में प्राकृतिक संसाधनों (वृक्ष, पशु, पक्षी, जलज प्राणी) के प्रति नम्रता, पूजा, अहिंसा आधारित जीवन एवं ऋतुओं के अनुकूल खान-पान की बात करता है जो दैनिंदनी में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन को दर्शाती है। उदाहरणार्थ- ऋग्वेद में पेड़-पौधों के औषधीय गुणवत्ता का उल्लेख मिलता है। यह भारतीय वैचारिक दर्शन का आधार है जो मानव एवं प्रकृति के मध्य सामंजस्यपूर्ण जीवन पर बल देता है। अतः भारतीय जीवन दर्शन प्रकृति संरक्षण पर आधारित है जो भारतीय जन संस्कृति की उपज है। सांस्कृतिक तत्वों में प्राकृतिक पर्यावरण के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृति को सम्बद्धता दर्शन एवं धर्म से लेकर सामाजिक संस्थाओं, रीति-रिवाज तथा मानव जीवन की सम्पूर्ण प्रणालियों से होता है (मेलिनवेस्की 1944)। संस्कृति एवं प्रकृति परस्पर निर्भर हैं। संस्कृति व्यक्ति के आन्तरिक पर्यावरण की सृजनकर्ता है। धर्म ग्रंथों के श्लोक, ऋचा एवं विज्ञान इसके प्रमाण हैं। भारतीय सांस्कृतिक प्रतीक यथा यज्ञ करना, सूर्य, अग्नि, जल, वायु मे ईश्वरी तत्त्व को निरूपित करना, तुलसी की पूजा आदि पर्यावरण के महत्व को स्पष्ट करते हैं। प्रकृति की उपासना ने भारतीय कला, साहित्य, दर्शन और धर्म की रक्षा को उद्धुत किया है तथा उसे आगे बढ़ाया है जो मानव धर्म के विकास में सहायक है। भारतीय हिन्दू शास्त्रों में प्रकृति को धर्म से जोड़कर भारतीय जन-मानस में धर्म के रूप में स्थापित किया गया हैं, अतः भारतीय जन-चेतना प्रकृतिजन्य है। इसका प्रमाण भारतीय जीवन पद्धति में किए जाने वाले सांस्कृतिक क्रिया-कलापों द्वारा (यज्ञ, प्रकृति में देवता का वास) परिलक्षित होता है। यहाँ तक कि जीवन एवं मृत्यु, स्वर्ग एवं नरक की संकल्पनाएँ सजीव सांसारिक स्थिति का परिणाम हैं। ऐसे कृत्य जो प्रकृति के विरुद्ध थे उसे पाप एवं अपवित्र तथा जो प्रकृति के संबर्धन में सहायक थे उसे पुण्य एवं पवित्र की श्रेणी में रखा गया है। भारतीय जन-सांस्कृतिक चेतना में यह निहित है कि प्रकृति के अनुसार जीवन-पद्धति को अपनाने पर मानवता की रक्षा होती है। पुराणों में अपकृत्य के संदर्भ में प्रायश्चित तथा पाप से विमुक्ति के लिए वृक्षों, अन्यान्य जीवों एवं प्रकृति की उपासना का विधान दिया गया है जो अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण प्रबंधन की एक पद्धति को दर्शाता है।

भारतीय संस्कृति में धैर्य, सहिष्णुता, सहअस्तित्व का गुण प्रकृति द्वारा प्रदत्त है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था परिस्थितिकीय व्यवस्था के संतुलन का विश्व में एक श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतीय सामाजिक संरचना यथा वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ आदि प्राकृतिक संतुलन के मूल विचार पर आधारित हैं। इसे मानव धर्म के रूप में समाज में आत्मसात किया गया है।

वस्तुतः पर्यावरण प्रबंधन नीति मानव के सम्पूर्ण विकास की वकालत करती है तथा तकनीकी संस्कृति एवं प्राकृतिक संस्कृति में समन्वय की बात करती है। संप्रभू राष्ट्र बायोस्फियर एवं टेक्रोस्पियर की अन्तः निर्भरता को समझ कर विश्व स्तर पर प्राकृतिक जागरूकता को अंतर्राष्ट्रीय मंचों द्वारा प्रसारित कर रहे हैं। यह एक शुभ लक्षण है। इससे नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना की संभावनाएँ पर्यावरण प्रबंधन के संदर्भ में बढ़ी हैं। भारतीय हिन्दू सनातन धर्म द्वारा मनुष्य एवं प्रकृति में सह-संबंध को पर्यावरण संवर्द्धन का आधार निरूपित किया गया है जिसे भारतीय जीवन दर्शन ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर रखी है। यह वर्तमान में सामाजिक पर्यावरणीय समस्याओं के निराकरण हेतु एक अंतर्दृष्टि प्रदान करता है, जिसकी वैश्विक स्तर पर पर्यावरण प्रबंधन में सकारात्मक भूमिका है। ऐसा इसलिए है कि भारतीय सामाजिक मूल्य व्यक्ति विशेष को अपने हित की पूर्ति समष्टि हित को ध्यान में रखकर करने का निर्देश देता है। भारत के विभिन्न धर्म एवं दर्शन ने प्रकृति को पूज्य माना है तथा परिवार एवं पाठशालाओं द्वारा उन विचारों को संस्कारित किया जाता है। इससे मानव-संस्कृति तथा जैव-भौतिक पर्यावरण संचारित है। भारतीय वैदिक संस्कृति में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्रह्माण्ड की रचना पंचभूतों द्वारा हुई है। अतः इससे स्व-अस्तित्व के लिए सह-सम्बद्धता आवश्यक है। वर्तमान उपभोक्ता संस्कृति इस सह-सम्बंध की अवहेलना करती है। साथ ही वर्तमान में बदलती सामाजिक मान्यताएँ एवं नैतिक मूल्य पर्यावरण अवनयन का कारण बन गया है। ऐसी स्थिति में भारतीय जीवन-दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों पर आधारित इसका समग्रवादी दृष्टिकोण वर्तमान पर्यावरण समस्या के समाधान का एक रास्ता प्रस्तुत करता है।

प्रायः जब मानव अधिकारों की बात चलती है, तो हमारे दिमाग में पुलिस आतंक तथा जातीय हिंसा जैसे किस्से उभरते हैं। परन्तु पर्यावरण तथा औद्योगिक हादसों या प्रदूषण को हम धीमी गति से सही किन्तु यकीनन लोगों को स्वस्थ जीवन के अधिकार से वंचित करते हैं। इस रूप में यह मानव अधिकारों के दायरे में आते है। हम एक औद्योगीकरण युग में जी रहे हैं। चारों तरफ कारखाने नजर आते हैं। इसकी वजह से स्थानीय कारीगरों, दस्तकारों को कई बार अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा। किन्तु धीरे-धीरे ये कारखाने स्वीकृत होते गये तथा क्षणेः-क्षणेः हमारी जीवन शैली के अंग बन

गये। आज के युग में तो उद्योग लगने को ही किसी क्षेत्र या देश की प्रगति या विकास का द्योतक माना जाता है, चाहे वह कारखाना जहर ही क्यों न बनाता हो।

बहरहाल उद्योगों के विकास के साथ-साथ पर्यावरण एवं सुरक्षा के प्रति हमारी अपनी चेतना में भी उभार आया। धीरे-धीरे इन कारखानों में काम करने वाले मजदूर यह देखने लगे हैं कि इस काम को करने की वजह से इनकी सेहत पर नाना प्रकार के प्रतिकूल असर पड़ते हैं। ये असर कारखाने में प्रयुक्त रसायनों, काम की प्रकृति, कारखाने की गर्मी, दुर्घटना या शोर, कारखाने में उड़ने वाली धूल-धुआँ या कपास के रेशों की वजह से हो सकते हैं। धीरे-धीरे ही यह पहचाना गया है कि कारखाना मजदूरों के स्वास्थ्य में कार्य परिस्थिति का बड़ा हाथ होता है। इनको पेशाजनित या व्यावसायिक स्वास्थ्य का नाम दिया गया। दूसरी तरफ इन कारखानों के आसपास रहने वाले लोग भी यह देख रहे थे कि कारखाना उनके हवा, पानी जमीन पर भी असर डालता है। इन दोनों तरह के विचारों के कारण ही पर्यावरण संबंधी स्वास्थ्य का विचार उभरा।

मजदूर आंदोलनों में भी धीरे-धीरे व्यावसायिक स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता आई और उन्होंने सुरक्षा व मुआवजे संबंधी माँगें उठाना शुरू कर दिया। इनमें सुरक्षा संबंधी उपाय, कार्यस्थल पर मौजूद खतरों की रोकथाम, इलाज की सुविधा तथा मुआवजा संबंधी मांग शामिल रही है। जैसे-जैसे यह जागरूकता बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे नीचे सिरे से इन समस्याओं का अध्ययन तथा इनके कानूनी पहलुओं पर बहस चल रही हैं। किन्तु आज भी स्थिति निहायत असंतोषजनक है। राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ एक ओर 'भोपाल गैस कांड' ने हम लोगों को पर्यावरण के प्रति कुछ सोचने को विवश किया है वहीं दूसरी ओर अंतराष्ट्रीय कदम उठाने के लिए प्रेरित किया है। चाहे वह कोलम्बिया में ज्वालामुखी विस्फोट की घटना हो या रूस के एटॉमिक प्लांट में लगी भीषण आग। इन सब घटनाओं ने सारी मानव जाति के अस्तित्व को एक चुनौती दी। इन्हीं कारणों के परिणाम स्वरूप भोपाल में स्थायी जन अदालत ने इसी मुद्दे पर ध्यान केन्द्रित किया तथा देश-विदेश से आए इन पीड़ितों की कहानियों में काफी विविधता थी, वहीं कुछ सामान्य मुद्दे भी इनमें से उभरे। स्थायी जन अदालत का गठन 1979 में इस उद्देश्य से किया गया है कि इस तरह के औद्योगिक हादसों आदि के मामलों की एक संवेदनाशील सुनवाई की जा सके और जनता की ओर से अपनी राय व्यक्त हो सके। इसका एक प्रमुख उद्देश्य इन मुद्दों पर जनमत का निर्माण करना एवं ऐसे कानूनी एवं अन्य उपाय सुझाना भी है, जिनसे औद्योगिक हादसों की रोकथाम का काम कारगर ढंग से हो सके। जन अदालत के भोपाल सत्र के दौरान इसकी अध्यक्षता बंगलादेश सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के.एम. सुभान ने की थी। वे तत्कालीन बाँगला देश में मानवाधिकार आयोग के भी अध्यक्ष थे।

व्यावसायिक सेहत या औद्योगिक हादसों के मामले में सबसे बुनियादी मुद्दा तो यह उभरकर आया कि ऐसे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों और आसपास रहने वाले की इस बात की जानकारी प्रायः नहीं होती है कि उस कारखाने से किस तरह का खतरा है। खतरा तो दूर की बात है, उन्हें तो कई बार यहाँ तक जानकारी होती है कि इन कारखानों में क्या बन रहा है और किस विधि से बन रहा है। चाहे भोपाल गैस काण्ड का मामला हो या हांगकांग की सिवेल मार्को फैक्ट्री की बात हो, जानकारी का यह अभाव हर जगह दिखाई देता है। सभी पीड़ित समूहों का यह कहना था कि जानकारी प्राप्त करने का यह अधिकार मजदूरों व आसपास के रहने वाले लोगों को मिलना चाहिए। जन अदालत में जानकारी के अधिकारी के अधिकार संबंधी चर्चा के दौरान एक और महत्वपूर्ण सवाल यह है कि यह बहुत संभव है कि किसी कारखाने में सारे जोखिमों से परिचित होने के बाद, शायद मजदूर वहाँ काम करने से इंकार कर दें। अदालत की राय थी कि यह निर्णय व्यक्ति विशेष पर छोड़ा जाना चाहिए, परन्तु इस निर्णय के डर से किसी व्यक्ति को जानकारी से वंचित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इस बाबत पूरी तकनीकी समझ तथा जानकारी भी कुछ लोगों तक ही केनिद्रत रहती है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के संदर्भ में तो हालात यहाँ तक हैं कि प्रायः उस समूचे देश में ही इस तरह की तकनीकी दक्षता उपलब्ध नहीं होती कि वे उस परदेशी उद्योग से होने वाले संबंधी प्रभावों का अध्ययन कर सकें। विशेषकर छोटे व अविकसित देशों में यह समस्या काफी गंभीर रूप ले लेती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने वियतमान पर 'एजेंट ऑरेंज' नामक जहरीले रसायन का इस्तेमाल किया था। इस देश में आज भी इतनी वैज्ञानिक एवं तकनीकी हुनर या तंत्र उपस्थित नहीं है, जो उसके पूरे प्रभाव का आकलन कर सके।

इस संबंध में अदालत ने अपने फैंसले में कहा कि ऐसी प्रयोगशालाएँ एवं अनुसंधान केन्द्र स्थापित किए जाने चाहिए, जो आम लोगों एवं उनके संगठनों को मदद दें। इसके अलावा किसी भी परियोजना को मंजूरी देने से पहले उसके पर्यावरण प्रभावों संबंधी जानकारी सबको उपलब्ध कराई जाय। इस तरह के समूह गठित किए जा सकते हैं, जो इन हादसों की जाँच का काम कर सकें। जब ज्ञान एवं जानकारी कुछ विशेष लोगों तक केन्द्रित हो जाती है तो इस संबंध में फैसले लेना भी इन्हीं लोगों तक केन्द्रित हो जाती है। इस संबंध में समस्या आम तौर पर सभी पीड़ित समूहों ने व्यक्त की जब कि मजदूरों की या आसपास उद्योगों की सबसे पहली प्रतिक्रिया उसे नकारने की होती है। जापान की मिनीमाता या हताई-हताई बीमारियाँ औद्योगिक प्रदूषण का परिणाम थीं, किन्तु इसे सिद्ध करने हेतु प्रभावितों को वर्षों संघर्ष करना पड़ा।

इसके साथ यह दिक्कत भी आती है कि मजदूर को कम्पनी द्वारा मान्यता प्राप्त डॉक्टर का प्रमाण पत्र लाना आवश्यक होता है।

इस संबंध में काफी सुधार की जरूरत है। मसलन मजदूरों की डॉक्टरी जाँच का काम चिकित्सकों में एक दल द्वारा किया जाय जिसमें मजदूरों द्वारा नामांकित डॉक्टर भी उपस्थित हों या फिर स्वतंत्र डॉक्टरों को भी यह अधिकार दिया जाय। हादसे के बाद पीड़ितों के इलाज का मुद्दा भी काफी महत्वपूर्ण होता है, किन्तु कई मामलों में दिक्कत यह आती है कि इस संबंध में या तो अनुसंधान का अभाव होता है या ऐसे अनुसंधान के परिणाम जन सामान्य को उपलब्ध नहीं होते। प्रायः देखने में आता है कि व्यवसाय जन्य रोग या हादसे के बाद व्यक्ति की कार्यक्षमता में गिरावट आ जाती है। भोपाल गैस काण्ड इसका जीता-जागता उदाहरण है। कई बार तो कारखानों के रसायनों आदि से दूरगामी असर होते हैं जिनकी वजह से लोग उम्र भर के लिए मरीज बन जाते हैं। कई बार उद्योगों में ऐसे रसायनों का भी प्रयोग होता है जिनका तत्काल असर न होकर बाद में लक्षण नजर आते हैं। कई बार तो ये असर अगली पीढ़ी में दिखाई देते हैं। प्रायः उद्योगपति मुआवजे से बचने के लिए ऐसे मजदूरों के विभाग परिवर्तित कर देते हैं, जिससे रसायन रोग का कार्यकारण संबंध साबित न किया जा सके। इन मामलों में भी मजदूरों को इलाज के समय काफी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इसी से जुड़ा सवाल मुआवजे का भी है। इसमें कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम मुआवजे का दावा करने हेतु व्यक्ति को कार्य कारण संबंध साबित करना होता है। पूरी प्रक्रिया काफी जटिल होती है। दूसरी ओर कारखाने के मालिक एक वकील मुकर्रर करके चैन की बंशी बजाते हैं। अन्ततः वे या तो कोई मुआवजा नहीं देते या थोड़ा-बहुत देकर बच जाते हैं।

यह सारी प्रक्रिया तो मात्र संगठित क्षेत्र के मजदूरों पर ही लागू होती है। असंगठित क्षेत्र में तो इस तरह की कार्यवाही की कोई गुंजाइश ही नहीं होती। भारत के संदर्भ में यह मुद्दा काफी महत्व रखता है, जहाँ कि बड़ी संख्या में मजदूर असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत हैं। निर्माण, बीड़ी उद्योग, कालीन, आतिशबाजी तथा होटल उद्योग आदि ऐसे क्रियाकलाप हैं, जहाँ सेहत संबंधी समस्याओं की अनदेखी कर दी जाती है। इन स्थितियों में यही तजबीज दी जा सकती है कि किसी इलाके में औद्योगिक क्रियाकलाप शुरू करने से पहले आम जनता को उसकी पूरी जानकारी देकर उनमें इस संबंध में सहमति ली जाय। परन्तु पर्यावरण के प्रति व्यापक चेतना के अभाव में यह कितनी कारगर होगी कहना मुश्किल है।

उद्योगपतियों के अलावा सरकारों की भूमिका भी आलोचना के दायरे में रही है। इस आलोचना का प्रमुख कारण है कि सरकार असफल रही है। जहाँ ऐसे मापदण्ड बने भी हैं वहाँ उन्हें लागू करवाने की या तो सुव्यवस्थित मशीनरी नहीं है या मिली भगत के कारण वह मशीनरी काम नहीं करती। आज पश्चिमी देशों में चल रही सख्ती के चलते, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने खतरनाक कारखाने तीसरी दुनिया में धकेल रही है, तब यहाँ की सरकारों के लिए यह आवश्यक होगा कि उनके अनुरूप नियम कानून का निर्माण करें, जिससे देश के नागरिकों की जान व स्वास्थ्य की रक्षा हो सके। साथ ही हमें तय करना होगा कि कौन से उद्योग हमारे लिए असनावश्यक हैं।

पत्थर की खदानों व ईंट भट्टों पर काम करने वाले लोगों तथा खतरनाक पेशों में लगे छोटे बच्चों की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन आया है। पर्यावरण से जुड़े मामलों में न्यायायिक सक्रियता के चलते खतरनाक तकनीकी में उपयोग में जवाब देहिता सुनिश्चित् की जा सकती है और इसके अच्छे परिणाम भी मिले हैं। कम से कम कुछ निर्धन, वंचित, शोषित लोगों के लिए ये मानव अधिकार वास्तविकता बन गए हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अदालतों ने मानवीय पीड़ा को गंभीरता से लेना शुरू किया है और इसके प्रति संवेदनशील रवैया अपनाया है। यह कोई कम उपलब्धि नहीं है। दृढ़ न्यायाधीश तथा जिम्मेदार वकील यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि जनहित याचिकाएँ बेलगाम घोड़ा न बन जाएँ बल्कि लोगों में मानवाधिकारों की रक्षा व संवर्द्धन के लिए इस्तेमाल की जाएँ।

वर्तमान समयावधि का सामाजिक-आर्थिक विकास संबंधी दर्शन भौतिकवादिता पर केन्द्रित है। इसका परिणाम पर्यावरण असंतुलन है। भौतिकवादी जीवन-दर्शन सांसारिक सुख और सुविधा को प्राप्त करने पर आधारित है, जब कि विकास की अवधारणा में वर्तमान एवं भावी-पीढ़ी का संकल्पना समाहित होती है तथा यह संतुलित एवं समन्वित विकास की अपेक्षा करती है। ऐसी विचारधारा को पूर्वी देशों के सामाजिक दर्शन में स्थान प्राप्त है। भारतीय समाज की जीवन पद्धति में सभ्यता और संस्कृति को प्रकृति आधारित रखा गया है। आधुनिक परिवर्तन का प्रभाव भारतीय सामाजिक पर्यावरण पर यद्यपि पड़ा है परन्तु मौलिक जीवन-दर्शन प्राकृतिक चिन्तन पर आधारित है।

सन्दर्भ

1. D.H., Davis (1948), Main and Earth, New York.
2. R. Chakrabarti (2006), Does Environmental History Matter? Readers Service, Kolkatta.
3. R. Tanner & C. Mitchell (2002), Religion and the Environment.
4. V.R., Krishna Iyer (1992), Environmental Protection and Legal Defence, Sterling Publisher Pvt. Ltd., New Delhi.
5. J. Ashraf (2004), Study Historical Ecology of Indian, Sunrise Publication, New Delhi.
6. Phillipe Cullet, Narmada Dams and Human Right, Frontline 21 July, 2000.
7. डॉ0 विरेन्द्र सिंह यादव (2009), पर्यावरण वर्तमान और भविष्य, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
8. अरून्धती राय (1999), दि ग्रेटर कॉमन फ्यूचर दि फ्रंटलाईन, जून 04, 1999
9. डॉ0 सुरेन्द्र सिंह (2006), पर्यावरण विधि राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
10. सदाचार सिंह तोमर (1991), अखिल भारतीय संगोष्ठी, यांत्रिकी विकास कार्यों का पर्यावरण पर प्रभाव, (15-16, दिसम्बर 1991) दि इन्स्टीट्यूशन ऑफ इंजीनियर्श (इंडिया), मध्य प्रदेश।

आयुर्वेदिक चिकित्सा एवं रोगी संबंध का समाजशास्त्रीय अध्ययन

पंकज कुमार बेन एवं प्रो. लक्ष्मण सिंह***

प्रत्येक चिकित्सा क्रिया में सैदव दो पक्ष रोगी एवं चिकित्सक सन्नहित होते है। दूसरे दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि चिकित्सा समूह एवं समाज सन्नहित होता है। चिकित्सक एवं रोगी की भूमिका को चिकित्सकीय पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण को महत्व प्रदान करते हुए अध्ययन करना चाहिए। चिकित्सक की भूमिका रोगों की आंकाक्षाओं से निर्धारित एवं परिभाषित होती है, इसी प्रकार रोगी की भूमिका आंशिक रूप से चिकित्सक द्वारा निर्धारित होती है।[1]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में विकास के इस तथ्य पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। मनोवैज्ञानिक ''फ्रायड'' (सिगमण्ड फ्रायड) के समय से ही उनके विचार के आधार पर चिकित्सक एवं रोगी के सामाजिक भूमिका एवं उससे संबंधित प्रतिमानों पर विशेष बल दिया जाने लगा है। अर्न्तसंबंधों के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह गतिशील होता है, चिकित्सक एवं रोगी का व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत जीवन का ढ़ग उनके अर्न्तसंबंधों से स्पष्ट होता है। रोगी को न तो रोग से संबंधित समस्याओं का पुंज समझा जा सकता है और न ही चिकित्सक को चिकित्सकीय संस्कृति का प्रतिनिधि समझा जा सकता है।[2]

चिकित्सा व्यवस्था ऐसा कार्य है, जिसके अन्तर्गगत संबंधो का विनियम होता है। रोगी कुछ प्राप्त करता है तथा चिकित्सक अपनी कुशलता से रोगी को कुछ देता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत सहयोग, सहानुभूति, पुरस्कार, परिचालन एवं पारस्परिकता का त्याग आदि महत्वपूर्ण संबंधों की विशिष्टता है। विशिष्टताएं चिकित्सक-रोगी संबंधों को प्रभावित करती है।[3]

मानवशास्त्री ''इरविन गॉफमैन'' के अनुसार चिकित्सक, चिकित्सकीय व्यवस्था में अपने चिकित्सीय संस्कृति को मुक्त रूप से प्रकट कर पाता है तथा अपने विवेक पूर्ण निर्णय को अपनी भूमिका निष्पादन एव परिसीमा में व्यक्त करता है। ऐसी व्यवस्था में वह रोगी की भूमिका को अधिकाधिक समझने का प्रयास करता है।[1]

ऐसा माना जा रहा है कि वर्तमान में हमारे देश में डॉक्टर और जनसंख्या का अनुपात विश्व स्वास्थ्य संगठन की सिफारिश के मुताबिक सही है। इसके बावजूद शहरों में जहाँ 662 की आबादी पर औसत 1डॉक्टर है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में 8,333 की आबादी पर 1 डॉक्टर है। डॉक्टर गाँव की अपेक्षा शहरों में काम करना अधिक पसंद करते है। भोर समिति ने अपने अध्ययन में पाया था कि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में डॉक्टर और जनसंख्या का अनुपात भारी अंतर वाला है। तब समिति ने अनुशंसा की थी कि 500 जनसंख्या पर 1 डॉक्टर होना चाहिए और ज्यादा से ज्यादा चिकित्सकों को नौकरी देकर गाँव में भेजा जाए।[4]

चिकित्सकों की कमी पर तो आमतौर पर सभी का ध्यान जाता है । योजना आयोग की ताजा रिपोर्ट के अनुसार देश में 6 लाख चिकित्सकों की कमी है। जबकि स्वास्थ्य एवं कल्याण मंत्री ने राज्य सभा में स्वीकार किया कि देश में 14 लाख चिकित्सकों की कमी है, और विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों के अनुरूप चिकित्सक-रोगी अनुपात कम है। योजना आयोग के विशेष दल ने 2020 तक सभी को स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने की सिफारिश की, कि एक राष्ट्रीय स्वास्थ्य विनियामक एवं विकास प्राधिकरण की स्थापना की जानी चाहिए जिससे रोगियों के अधिकार पत्र की व्याख्या एवं उस पर गुणवत्ता कीमत की निगरानी हो सके।[5]

प्रस्तुत अध्ययन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सर सुन्दरलाल चिकित्सालय में आयुर्वेद के शल्य बहिरंग में आने वाले 1000 रोगियों पर आधारित है। इस अध्ययन में चिकित्सक द्वारा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार, चिकित्सक द्वारा उपचार से संतुष्टी, चिकित्सा व्यवस्था, चिकित्सा पद्धति से संतुष्टी, चिकित्सा का प्रकार, चिकित्सकीय जाँच शुल्क रसीद प्राप्त करना व चिकित्सक एवं रोगी संबंध आदि महत्वपूर्ण बिदुंओं के आधार पर यह ज्ञात करने की चेष्टा की गयी है कि वर्तमान में आयुर्वेदिय चिकित्सक एवं रोगी के मध्य संबंधों की यथा स्थिति इन मानकों के अनुसार किस स्तर को प्राप्त कर रही है।

(क) चिकित्सक द्वारा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
पूर्णतः	158	228	32	81	17	516	51.6
आंशिक	96	74	4	17	3	194	19.4
बिल्कुल नहीं	6	8	0	1	0	15	1.5
अस्पष्ट	59	120	26	58	12	275	27.5
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

* शोध छात्र, शल्य तंत्र विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * प्रोफेसर, शल्य तंत्र विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि 1000 रोगियों में से 51.6 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि चिकित्सकों द्वारा इलाज के दौरान पूर्णतः सहयोग प्राप्त होता है। 19.4 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि चिकित्सक द्वारा थोड़ा बहुत सहानुभूति पूर्ण व्यवहार रहा है। इसका कारण रोगियों का अपनी संस्कृति एवं चिकित्सकीय संस्कृति से तालमेल सही से न बैठ पाना है। 1.5 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि चिकित्सकों द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार न कर पाना है इसका कारण अधिक रोगियों को समयानुसार जल्दी परामर्श देने का दबाव चिकित्सकों पर रहता है तथा रोगियों का चिकित्सकीय व्यवस्था का अनुपालन न करना, कभी-कभी चिकित्सक भी चिकित्सालयी व्यवस्था का अनुपालन नहीं करते है। जिससे रोगियों के मस्तिष्क में एक पूर्वाग्रह हो जाता है। 27.5 प्रतिशत रोगियों का इस संदर्भ में कोई टिप्पणी नहीं है क्योंकि उनका साक्षात्कार चिकित्सक से नहीं हो पाया है।

रोगी और चिकित्सक के मध्य गरिमामय संबंधों के लिए उदारता, पारदर्शिता, गोपनीयता, विश्वास एवं संवेदना आदि का होना जरूरी है। दुर्भाग्य का विषय है कि ये सारे अवयव अब नदारद हो चुके है। यही कारण है कि चिकित्सक एवं रोगी के मध्य संबंध तनावपूर्ण हो चुके है। इसी की परिणति है कि चिकित्सालयों में चिकित्सक के साथ मारपीट, तोड़फोड़ तथा चिकित्सक के प्रति कम होते सम्मान के रूप में सामने आ रहे है। यह समस्या विकट है इसके समाधान के लिए न तो **''मेडिकल कांउसिल'' एवं भरतीय चिकित्सा का केन्द्रीय परिषद (CCIM)** कोई ठोस कदम उठा रही है और न ही चिकित्सक स्वंय ही आत्मनिरीक्षण कर रहे है। सरकार भी मूक दर्शक बनी है। पेशागत मूल्यों एवं शुचिता वाली एवं **महर्षि चरक शपथ** एवं **''हिप्पोक्रेटिक ओथ''** भी आज मूक दर्शक व औपचारिक बन गई है। चिकित्सक-रोगी संबंधों में आई गिरावट का जो मौजूदा परिदृश्य है उसके लिए कहीं न कहीं हम भी जिम्मेदार है, एवं संस्कारों का अभाव आड़े आ रहा है।[6]

अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 1000 रोगियों में से 45.2 प्रतिशत रोगियों ने अपने उपचार से पूर्णतः संतुष्ट बताया है इसका कारण चिकित्सकों द्वारा बिमारी की सही समय पर सही उपचार है। 4.5 प्रतिशत रोगियों ने उपचार से संतुष्टी नहीं बताया है इसके मुख्यतः दो कारण है, प्रथमतः कुछ बीमारियों में रोग का देर से पता लग पाना एवं द्वितीय ज्यादा बिमारी बढ़ जाने पर इलाज की प्रक्रिया में ज्यादा लंबा समय लगना है। 22.4 प्रतिशत रोगियों ने उपचार से थोड़ा बहुत संतुष्ट बताया है। इसका एक कारण रोगी द्वारा सही समय पर दवा न लेना एवं थोड़ा आराम होने पर दवा छोड़ देना अर्थात बिमारी की गंभीरता को न लेना है। 27.9 प्रतिशत रोगी इस संदर्भ में अस्पष्ट है अर्थात् अपने बिमारी को लेकर प्रथम बार चिकित्सालयम में आने से है।

आबादी और चिकित्सक के अनुपात के अलावा विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इस मुद्दे पर भी काफी विचार किया है कि एक चिकित्सक को रोगी की जाँच के लिए कितना समय लगना चाहिए? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि रोगी एवं चिकित्सक के मध्य हुआ संवाद कई तरह से उपचार पर असर डालता है। बात सिर्फ इतनी नहीं है कि डॉक्टर मर्ज को समझ ले और उसके लिए जरूरी दवा लिखे। यह संवाद इसलिए भी महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि इससे मरीज की मनोदशा पर असर पड़ता है। इस संवाद से ही उसे अपने ठीक होने का आश्वासन मिलता है।

मरीज का आश्वस्त होना उसके ठीक होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विकासशील देशों में चिकित्सक हर को देखने में औसतन 1 मिनट से भी कम समय लगाते है, इतने कम समय में रोगी अक्सर यह तक नहीं समझ पाते है कि उन्हें दवाईया कब और कैसे लेनी है? इसके साथ ही यह संवाद चिकित्सीय पेशे में मानवीय पक्ष को विकसित करता है, जो अब नदारद होता जा रहा है।[7]

(ख) उपचार से संतुष्टी

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
पूर्णतः	177	183	24	55	13	452	45.2
बिल्कुल नहीं	20	19	1	5	0	45	4.5
आंशिक	58	118	15	30	3	224	22.4
अस्पष्ट	64	110	22	67	16	279	27.9
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

(ग) चिकित्सा व्यवस्था

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
सस्ती	133	188	30	64	13	428	42.8
महंगी	46	74	8	23	1	152	15.2
ठीक ठाक या काम चलाऊ	58	68	5	10	2	143	14.3
अस्पष्ट	82	100	19	60	16	277	27.7
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

अध्ययन से यह ज्ञाता होता है कि 1000 रोगियों में से 42.8 प्रतिशत रोगीयों का मानना है कि यहां की चिकित्सा व्यवस्था सस्ती है। इसका कारण है चिकित्सालय में मौजूद परामर्श शुल्क, जाँच का शुल्क कम एवं निःशुल्क दवा का होना है। 15.2 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि यहाँ की चिकित्सा व्यवस्था महंगी है। इसका कारण है, कुछ रोगियों का अत्यन्त गरीब होना एवं कुछ जाँच बाहर से होना है। 14.3 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि यहां की चिकित्सा व्यवस्था औसत है। 27.7 प्रतिशत रोगियों का चिकित्सा व्यवस्था के संदर्भ में किसी भी प्रकार की टिप्पणी नहीं है, इसका कारण इन रोग के लिए रोगियों का बहिरंग सर्वप्रथम आगमन है।

रोगी एवं चिकित्सक संबंधों की अपारदर्शिता का द्योतक रोगियों को अनावश्यक बाहरी एवं महंगी दवाएँ लिखना एवं फिजूल जाँच करवाना है और चिकित्सकों को अत्यधिक सुख सुविधाओं की मुहैया दवा कंपनियों के प्रतिनिधि के द्वारा करवायी जाती है। चिकित्सा व्यवस्था में तब और अब में काफी परिवर्तन हुए है। प्राचीन काल में चिकित्सा के **चतुष स्तम्भ के** रूप में चिकित्सक, नर्स, फार्मासिस्ट व रोगी थे। वर्तमान में रोगी को हटा कर **तीन स्तम्भ** कर दिया गया है।[8]

अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 1000 रोगियों में 70.7 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि चिकित्सा विधि से पूर्णतः संतुष्ट है, इसका कारण है कि कुछ विशेष रोगों के लिए आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति सबसे सफल है, और संभवतः इन विशेष रोगों का आधुनिक चिकित्सा पद्धति में सफल इलाज नहीं है। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में कुछ विशेष रोगों के लिए अपनाये जा रहे तरीके बेहत उन्नत एवं कामगर है। 2.0 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि चिकित्सा पद्धति से कुछ भी संतुष्टी नहीं मिली है। इसका कारण चिकित्सा पद्धति में अपनाये जा रहे इलाज द्वारा रोगों का त्वरित लाभ न मिल पाना हो सकता है। आयुर्वेदिय चिकित्सा पद्धति के चिकित्सालय में उपलब्ध सुविधाओं के बावजूद यह समस्या है कि आयुर्वेदीय इमरजेंसी की सुविधा उपलबध नहीं है। 27.3 प्रतिशत रोगियों का इस चिकित्सा पद्धति के संदर्भ में किसी भी प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं है इसका कारण है कि रोग के संदर्भ में इस पद्धति का प्रथम आचमन न कर पाना है। **(प्रो0 राणागोपाल सिंह (पूर्व निदेशक आई0एम0एस) के प्रयास से 3 साल तक (2013-2015 लगभग) तक आयुर्वेद में इमरजेंसी की सुविधा उपलब्ध करायी गयी किन्तु प्राथमिक संरचना की कमी एवं नवीन तकनीकि मशीनों की अनुपलब्धता के कारण वर्तमान संकाय प्रमुख की अध्यक्षता में यह निर्णय**

(घ) चिकित्सा पद्धति से संतुष्टी

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
हाँ	235	319	40	94	19	707	70.7
नहीं	6	11	0	3	0	20	2.0
अस्पष्ट	78	100	22	60	13	273	27.3
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

(ङ) चिकित्सा का प्रकार

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
घर पर रहकर	2	4	0	3	1	10	1.0
भर्ती रहकर	33	29	3	6	0	71	7.1
थोड़े दिनों में आकर	140	254	46	91	14	545	54.5
रोज आना	13	20	0	3	0	36	3.6
अस्पष्ट	131	123	13	54	17	338	33.8
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

लिया गया कि प्राथमिक संरचना की उपलब्धता होने तक इमरजेंसी स्थान्तरित किया जाय।)

वर्तमान समय में प्रस्तुत आकड़े प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति के विकास व उन्नयन की तरफ दृष्टिगोचर होते है आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में बढ़ते हुए विश्वास व रोगों का उचित इलाज रोगियों को इस पद्धति की तरफ आकृष्ट कर रही है।

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर 1000 रोगियों में से 1.0 प्रतिशत रोगियों का इलाज चिकित्सक द्वारा कभी-कभी घर पर जाकर किया जाता है अर्थात् कभी-कभी देखने व विमर्श के लिए चिकित्सक रोगी के घर जाते है इसका कारण निकट संबंध होता है। 7.1 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि उपचार भर्ती रहकर किया जाता है। 54.5 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि वे थोड़े-थोड़े दिनों में आकर चिकित्सक से रोग के संदर्भ में परामर्श लेते रहते है। 3.6 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि वे चिकित्सक के पास रोज ही चले आते है अर्थात् शल्य बहिरंग में नियुक्त प्रत्येक चिकित्सकों को दिखलाते रहते हैं। इसका कारण है कि एक चिकित्सक पर पूर्ण विश्वास का न होना एवं 33.8 प्रतिशत रोगी ने इस संदर्भ में कोई टिप्पणी नहीं की है।

चिकित्सालय में चिकित्सक-रोगी संबंध रोगी की अर्कमण्ता से अधिक प्रभावित होता है। रोगी एक असहाय व्यक्ति के रूप में होता है। चिकित्सक से रोगी निदान के साथ हर संभव सुविधा की अपेक्षा करता है। यह चिकित्सालय व्यवस्था में संभव नहीं है कभी-कभी चिकित्सक चिकित्सालय के नियमों एवं प्रतिमानों के त्याग कर रोगी के सन्निकट आ जाता है रोगी चिकित्सक के साथ अपना सन्निकट संबंध स्थापित करके चिकित्सालय के अन्य सहकर्मियो को प्रभावित करता है। जिससे वे भी उसके साथ अनौपचारिक संबंध स्थापित करें।[9]

चिकित्सालय व्यवस्था में चिकित्सक रोगी अंर्तसंबंध अधिकाधिक औपचारिक होता है परन्तु उसके अतिरिक्त भी कुछ रोगी की सामाजिक पृष्ठभूमि है, जिससे चिकित्सक रोगी संबंध प्रभावित होता है। जिसमें एक रोगी का घर है, रोगी के घर में सेवा-सुश्रुषा परिवार एवं नातेदार सदस्यों के माध्यम से होता है। चिकित्सक रोगी के घर आकर अपनी दक्षता से सबको प्रभावित करता है।[1]

अनेक सरकारी जिला अस्पताल, प्राथमिक एवं सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र के कई चिकित्सक निजी प्रैक्टिस करते है, कई जांचे व दवाईयां निःशुल्क होने पर भी चिकित्सक रोगी को नहीं बताता है। कई सरकारी अस्पतालों में सरकारी चिकित्सक के दलाल घुमते

(च) चिकित्सकीय जांच शुल्क रसीद प्राप्त करना-

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
हाँ	166	215	30	77	12	500	50.0
नहीं	43	69	12	14	2	140	14.0
अस्पष्ट	110	146	20	66	18	360	36.0
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

है जो निजी प्रैक्टिस कर रहे चिकित्सकों के आवास पर दिखवाते है।[10]

अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 1000 रोगियों में से 50.0 प्रतिशत लोगों ने इस संदर्भ में हाँ कहा है। 14.0 प्रतिशत रोगियों ने चिकित्सकीय जांच शुल्क रसीद का नहीं प्राप्त होना कहा है, इसका कारण है कि प्रथमतः कुछ रोगी अपनी जांच अपने परीचित जांच केन्द्र से करवाना पसंद करते है जिससे उनके धन का अल्पतम व्यय हो, कुछ रोगी अपनी जांच बाहर से करवाते है तथा कुछ रोगी के परामर्श पत्र पर कोई भी जांच का न लिखना होता है। इसमें एक कारण जांच की आवश्यकता न होना तथा दूसरा कारण पहले से ही दूसरी जगह से जांच पत्र का होना होता है। 36.0 प्रतिशत रोगियों का इस संदर्भ में कोई टिप्पणी नहीं है क्योंकि रोगी एवं चिकित्सक का कोई साक्षात्कार न होना होता है।

वर्तमान में बढ़ते हुए बाजारीकरण ने अनेकों फंफूद की तरह उपजें चिकित्सकीय जांच केन्द्र दिखाई देते हैं इनके रजिस्ट्रेशन की वैद्यता है कि नही? इनका रजिस्ट्रेशन भारतीय चिकित्सा परिषद में हुआ है कि नहीं? इन केन्द्रों पर उपलब्ध जांच मशीन नवीन एवं सही है कि नहीं? ऐसे तमाम प्रश्न है जिनको रोगी समझ नहीं पाता एवं समझना नहीं चाहता है। इनमें बढ़ते हुए कालाबाजारी, धोखेबाजी ने अपनी जड़े इतनी गहरी कर ली है, जिनकी जानकारी चिकित्सकों को होते हुए भी कुछ चिकित्सक इन गलत तरीकों में संलंग्न है, जिनका खामियाजा रोगियों को भुगताना पड़ता है।

जिला प्रशासन द्वारा कभी-कभी औचक-निरीक्षण इन जांच केन्द्र व क्लीनिकों में कराया जाता है, जिससे इनकी संख्या में कमी हो पर प्रशासन से मिली भगत द्वारा ये केन्द्र धड़ल्ले से चल रहे है, जिनका खामियाजा रोगी को भुगताना पड़ता है। जबकि इसके खिलाफ समय-समय पर विधिक एवं दांडिक प्रक्रिया होनी चाहिए।

अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 1000 रोगियों में से 56.8 प्रतिशत रोगियों का अपने चिकित्सक से अच्छे संबंध होने की बात कहते है। 9.1 प्रतिशत रोगियों का अपने चिकित्सक से बहुत अच्छा संबंध है इसका कारण अपने चिकित्सक से बहुत अनौपचारिक संबंध एवं व्यक्तिगत नजदीकिया होती है। 8.0 प्रतिशत रोगियों का अपने चिकित्सक से कामचलाऊ संबंध है। अर्थात् कुछ चिकित्सक से रोगियों का औपचारिक संबंध है। उनका मानना है कि कुछ चिकित्सकों में समाजिकता की कमी रहती है, जिसके कारण चिकित्सक अपने रोगी से सही व्यवहार नहीं करते हैं। जबकि रोगी यह अपेक्षा करता है कि चिकित्सक उसे शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक परामर्श दे पर इसकी कमी नजर आती है, 0.80 प्रतिशत रोगियों का मानना है कि उनका संबंध अच्छा नहीं है। कभी-कभी चिकित्सक काफी देर तक रोगियों को देखते व समझाते हुए मानसिक तनाव में आ जाते है और कुछ रोगियों के साथ बुरा बर्ताव कर देते है जबकि एक चिकित्सक का गुण धैर्यवान होना भी है।

रोगी-चिकित्सक के प्रति धार्मिक निष्ठा भी रखता है। साधारणतया रोगी चिकित्सक को ''दूसरा ईश्वर'' भी मानता है। तथा उसी संदर्भ में अपनी निष्ठा व्यक्त करता है। यही कारण है कि चिकित्सक रोगी संबंध दो कारणों सें प्रभावित होता है। प्रथम रोगी, चिकित्सक पर अद्वितीय रूप से आश्रित होता है एवं अपने जीवन क्रम को अविरल रूप से गति देने के लिए चिकित्सक पर आश्रित होता है। द्वितीय कारण औषधि विज्ञान की अपनी चमत्कारिक विशेषता स्वंय है।[2]

चिकित्सक रोगी का पारस्परिक संबंध आपसी संचारण एवं वाक्पटुता पर निर्भर करता है। यदि रोगी अपने निदान हेतु धार्मिकता पर अधिक जोर देता है तो चिकित्सक अपने चिकित्सकीय प्रतिमानों को महत्व देते हुए कठोर हो जाता है। चिकित्सक रोगी संबंधों में गोपनीयता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, चिकित्सक रोगी संबंध में धन का भी अपना स्थान है।[3]

उपसंहार

रोगी एवं चिकित्सक संबंध जो एक चिकित्सकीय व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। उसमें कुछ चिकित्सकीय आचार भी जुड़े है, जो रोगी

(छ) रोगी एवं चिकित्सक संबंध

	सामान्य	पिछड़े (हिन्दू)	पिछड़े (मुस्लिम)	अनुसूचित जाति	अनुसूचित जनजाति	कुल योग	प्रतिशत
अच्छा	165	268	37	88	10	568	56.8
बहुत अच्छा	32	42	4	11	2	91	9.1
काम चलाऊ	43	28	5	3	1	80	8.0
अच्छा नहीं	3	4	0	1	0	8	0.80
अस्पष्ट	76	88	16	54	19	253	25.3
कुल योग	319	430	62	157	32	1000	100

को चिकित्सक के साथ एवं चिकित्सक को रोगी के साथ सामंजस्य पैदा करने में सहायक होते है। जिनमें चिकित्सक द्वारा रोगी की गोपनीयता बनाये रखना कानूनी अधिकार है। चिकित्सक द्वारा रोगी के सांस्कृतिक व्यवहार एवं विश्वास के साथ सहयोग करना। चिकित्सक द्वारा रोगी के सांस्कृतिक व्यवहार एवं विश्वास के साथ सहयोग करना। चिकित्सक को 1970 तक रोगी के रोग के संदर्भ में संपूर्ण बात न बताने के अधिकार था, परन्तु 1970 के बाद रोगी को यह अधिकार है कि वह अपने रोग के संदर्भ में संपूर्ण बात जाने। चिकित्सक की भाषा रोगी के लिए सरल, सही, सौम्य व सुस्पष्ट होनी चाहिए। यदि रोगी के जीवन प्रत्याशा 1 प्रतिशत भी हो तो भी रोगी का इलाज उनके परिजनों के मर्जी से करना चाहिए। परन्तु रोगी को अपने अधिकारों के बारें में ज्यादा कुछ पता नहीं है। अतः रोगी को इन बातों का पता होना चाहिए जिससे वह चिकित्सक से खुल कर बात कर सके।[11]

समसामायिक व्यवस्था में चिकित्सक - रोगी के औपचारिक संबंध में औपचारिक प्रारूप पर विशेष बल दिया गया है, आजकल चिकित्सक रोगी संबंध को सुधारने के लिए अनेक प्रारूप विकसित किया जा रहा है। चिकित्सक रोगी संबंध के उज्जवल भविष्य के लिए आवश्यक है कि चिकित्सक की भूमिका और रोगी की भूमिका को चिक्तित्सालय व्यवस्था में लगे अन्य कर्मचारियों की भूमिका के संदर्भ में पुनः परिभाषित किया जाए। **चिकित्सालय व्यवसाय का भविष्य औषधि, विज्ञान, नर्सिंग, सामाजिक सेवा, प्रशासन आदि से निर्देशित होना चाहिए।** चिकित्सक रोगी संबंध को स्वस्थ बनाने के लिए आवश्यक है कि रोगी के परिवार को प्रमुखता दी जाए। स्वस्थ रोगी-चिकित्सक संबंध रोगी की बिमारी की अपेक्षाकृत उसके संपूर्ण स्वास्थ्य से अधिक प्रभावित होता है।[4]

यदि हमें चिकित्सक-रोगी संबंध अच्छे बनाने हैं तो यह बेहद जरूरी है कि हम समाज की आवश्यकताओं एवं उसके हितों को ध्यान में रखकर चिकित्सकों को तैयार करें और उनकी सामाजिक भागीदारी को सुनिश्चित करें। इन सबके बीच सरकार और समाज का यह भी दायित्व बनता है कि वह चिकित्सकों की आवश्यकताओं एवं उनके मान-सम्मान का पूरा-पूरा ध्यार रखें। चिकित्सकों को स्वंय भी आत्मनिरीक्षण करते हुए आत्मा की आवाज को सुनना होगा।[6]

संदर्भ सूची

1. डॉ0 एम0 एम0 लावानिया एवं शशि के0 जैन : ''चिकित्सा समाजशास्त्र''
2. मार्टी - इबानेज, फैलिक्स (सं0) : ''हेनरी ईव सिगरिस्ट ऑन द हिस्ट्र ऑफ मेडिसिन'', न्यूयार्क : एम0 डी0 पब्लिकेशन्स, 1960, पृ0-26
3. लेनार्ड हेनरी एल एवं अन्य : ''दि एनॉटामी ऑफ साइकोथिरापी'', न्यूयार्क, कोलम्बिया यूनीवर्सिटीज प्रेस 1960
4. ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य : एक नजर, विनोद कुमार सिन्हा, योजना, अक्टूबर 2009, अंक 10, पृ0- 11, ISBN, No- 0971-8397
5. चिकित्सकों की कमी से जूझता ग्रामीण भारत : ऋतु सारस्वत, योजना, फरवरी 2014, अंक-2, पृ0-25, ISBN, No- 0971-83976.
6. परीक्षा मंथन : निबंध ईयर बुक, 2011-12, (भाग-6) मंथन प्रकाशन-7R15ताशकंद मार्ग, सिविल लाइंस, इलाहाबाद।
7. डाक्टरों और मरीजों में कम होता संवाद : ऋतु सारस्वत, हिन्दुस्तान, दैनिक समाचार पत्रिका, 16 मार्च 2014, पृ0-12
8. ''शल्य तंत्र में उपादेयता पर राष्ट्रीय सम्मेलन'' आचार्य डॉ0 राम हर्ष सिंह द्वारा चिकित्सा आचार तब और अब'' में पत्रक प्रदर्शन, काया चिकित्सा के आचार्य का0हि0वि0वि0, दिनांक- 25/04/15
9. बैलिन्ट, मिकाएल, ''दी डॉक्टर हिज पेशेन्ट एण्ड दी इलनेस'', न्यूयार्क इण्टरनेशनल यूनीवर्सीटीज प्रेस 1960
10. ''जिला महिला चिकित्सालय के चिकित्सक नीजि प्रैक्टिस में मस्त'', नोबल इण्डिया, दैनिक समाचार पत्रिका, 13 जून 2012
11. ''चिकित्सा विज्ञान ही नहीं सामाजिक विज्ञान भी है।'' हिन्दूस्तान, दैनिक समाचार पत्रिका, 25 अप्रैल 2015, पृ0-4

आधुनिक भारत एवं स्त्री शक्ति : पंडित मदन मोहन मालवीय का चिन्तन

*डॉ0 संध्या त्रिपाठी**

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस संस्कृति के वैश्विक गौरवमयी महत्व को बनाये रखने एवं उसे संरक्षण देने में अनेक महापुरूषों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्नीसवीं सदी में ऐतिहासिक चेतना के उदय तथा विभिन्न घटनाक्रमों ने स्त्री चेतना को जाग्रत किया और अनेक आदर्शो तथा व्यक्तित्व को नवीन रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया गया। स्त्री की चेतना को जाग्रत करने एवं उसे नयी दिशा देने का कार्य स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, पंडित मदन मोहन मालवीय आदि के द्वारा किया गया। इनमें पं. मदन मोहन मालवीय ऐसे विशिष्ट विभूति थे जिन्होंने भारत के स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की तथा आधुनिक भारत के निर्माण में स्त्री शक्ति को महत्वपूर्ण माना। मालवीय जी ने भारतीय सामाजिक जीवन के विकास को राष्ट्रीय जीवन की प्रगति का वास्तविक मापक माना और राजनीतिक चेतना के विस्तार के साथ-साथ सामाजिक सुधार और परिवर्तन में स्त्रियों की भूमिका को स्वीकार किया। उनका विचार था कि ऐसी सशक्त सामाजिक संरचना, जिसमे स्वतंत्र राजनीतिक व्यवस्था पुष्पित एवं पल्लवित हो सकती है इसकी आधारशिला न्यायपूर्ण लैंगिक सम्बन्धों पर ही की जा सकती है।

मालवीय जी आधुनिक भारत के निर्माता थे तथा इसके निर्माण के लिए वे समाज और राष्ट्र को संगठित करना चाहते थे। उनके अनुसार राष्ट्र को तभी संगठित किया जा सकता है जब स्त्री एवं पुरूष दोनों की क्षमताओं का उपयोग किया जाय और उन्हें परस्पर सहयोगी के रूप में माना जाय। इसके लिए उन्होंने दोनों के बीच उच्चता एवं अधीनता की स्थिति को दूर करने पर बल दिया। मालवीय जी ने तत्कालीन भारतीय सामाजिक ढाँचे और पारिवारिक पहलू का गहराई के साथ विश्लेषण किया और नारी एवं पुरूष के बीच असमानता एवं असन्तुलन पाया। उन्होंने पारिवारिक जीवन में भारतीय स्त्री के त्यागमय अवदान की सराहना की। वे ऐसे आधुनिक भारत के निर्माण की कल्पना कर रहे थे जिसमें स्त्री-पुरूष न तो एक दूसरे के अधीन हो, न परस्पर विरोधी हो बल्कि सहयोगी के रूप में राष्ट्रीय उत्थान के लिए अपनी अपेक्षित भूमिका निभाने के लिए कटिबद्ध हो।

मालवीय जी सशक्त, कर्मठ एवं कर्तव्यनिष्ठ भारतीय स्त्री को आधुनिक भारत के निर्माण की प्रथम शर्त मानते थे। उन्होंने स्त्री सशक्तिकरण के विविध आयामों की चर्चा की जो इस प्रकार है :

स्त्री स्वयं शक्ति का श्रोत

मालवीय जी स्त्री को स्वयं शक्ति का श्रोत मानते थे। उन्होंने उद्घोष किया कि स्त्रियाँ पुरूषों से कम नहीं बल्कि श्रेष्ठ हैं। उनका यह विचार उनके भारतीय चिन्तन एवं ज्ञान परम्परा के गहन चिन्तन को दर्शाता है। उनके ऊपर सनातन परम्परा के ऋग्वेद ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

स्त्रियों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में ऋग्वेद का मंत्र द्रष्टव्य है, **''जो पुरूष देवों की उपासना नहीं करता, धनादि दान नहीं करता है, उसकी अपेक्षा स्त्री शशीयसी सब प्रकार से श्रेष्ठ है। वे शशीयसी देवी प्रताड़ितों को जानती है, प्यासों को भी जानती हैं, धन की कामना वालों को जानती हैं, वे चिरन्तन देव पूजा में अपने चित्त को लगाती है।''**[1]

उन्होंने मनुस्मृति में कहे गये इस बात का समर्थन किया है कि, ''दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्य की अपेक्षा पिता और सहस्त्रों पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है।[2]

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय द्वारा काशी के हिन्दू महासभा के सातवें अधिवेशन में दिया गया भाषण वैदिक परम्परा में स्त्री शक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करता है। उन्होंने कहा कि ''पिता से दस गुना दर्जा माता का है। इतना उन्हें पढ़ा दो कि वह अपनी मातृभाषा में गुणा भाग सिखा सकें। सौ श्लोक अथवा दोहों के रत्नों की माला पहनाकर स्कूल में भेंजे कि गुरू कह दे यह किस बड़भागिनी की कोख का बच्चा है।''[3]

मालवीय जी स्त्री को शक्ति से सम्पन्न मानते थे इसलिए वे स्त्री एवं पुरूष के समन्वित तथा सामन्जस्यपूर्ण योगदान को भारत के राष्ट्रीय उत्थान का प्रेरक मानते थे। अतः उन्होंने उन सामाजिक क्षेत्रों जिसमें नारी ने प्राचीन काल में प्रगति की अतः उन्होंने पुनः नारी के मुक्त विकास पर दिया।

स्त्री शिक्षा पर बल

उन्होने भारतीय समाज को स्त्री को सशक्त बनाने के लिए स्त्री शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने भारतीय समाज को स्त्री को रूढ़िगत बन्धन से मुक्त कर ज्ञान का अवसर प्रदान करने के लिए प्रेरित किया। वे आधुनिक भारत के निर्माण में स्त्रियों की शिक्षा को महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने शिक्षा के बिना स्त्री की भूमिका को

* प्रवक्ता, राजनीतिविज्ञान विभाग, महारानी महिला महाविद्यालय, रामनगर, वाराणसी

अपूर्ण बताया। उन्होंने स्त्रियों एवं लड़कियों को एकान्तिक संकुचन से बाहर निकलने की राह दिखाई जिससे वे समाज में अपनी भूमिका प्रतिपादित कर सके। स्त्रियों पर लगे नियंत्रणों की निन्दा की लेकिन उन्होंने स्त्रियों को अगाह किया कि उन्हें पाश्चात्य नारी का अंधानुकरण कदापि नही करना चाहिए। मालवीय जी ने राष्ट्र हित तथा सामाजिक जातीय जीवन के पुनरूत्थान के लिए स्त्री शिक्षा पर बहुत अधिक बल दिया। उनका जातीय जीवन के पुनरूत्थान से अभिप्राय समाज की उन्नति से था तथा इसके लिए इस बात पर बल दिया कि स्त्री शिक्षा का पवित्र कार्य उत्साह और साहस के साथ करना चाहिए। मालवीय जी ने इस बात का समर्थन किया कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की जाय। वे गाँधी जी की भाँति चाहते थे कि भारतीय महिलायें भी भारत के राष्ट्रीय जीवन में भाग लें और इसके लिए शिक्षा परम आवश्यक है।[4]

वास्तव में मालवीय जी बालक एवं बालिकाओं के समान शिक्षा के पक्ष धर थे। उनके द्वारा बालिकाओं के प्रारम्भिक शिक्षा का दृढ़ समर्थन किया गया। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1904 ई. में 'गौरी पाठशाला' एवं 1929ई0 में 'महिला महाविद्यालय' की स्थापना की। वास्तव में इस स्वप्नद्रष्टा ने उस युग में महिलाओं की शिक्षा एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया जब परतंत्र भारत में व्यक्ति को साँस लेने के लिए सोचना पड़ता था। यह उनकी स्त्री शिक्षा में निष्ठा द्योतित करती हैं। वे चाहते थे लड़कियाँ सीता एवं सावित्री की तरह पवित्र हों और गार्गी और मैत्रेयी की तरह विदुषी हों।[5]

इसी सन्दर्भ में मालवीय जी ने सन् 1911 में गोखले द्वारा कौसिल में अनिवार्य शिक्षा विधेयक का समर्थन किया जिसमें बालक एवं बालिकाओं के लिए समान शिक्षा की स्पष्टता व्यक्त की गई थी। वे लड़कों को पुत्रवत और लड़कियों को अपनी पुत्री के समान मानते थे और उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा चरित्र संगठन पर अधिक बल देते थे। वे कहते थे यही स्त्री शिक्षा का पावन श्रोत है। अतएव हमें चाहिए कि सर्वप्रथम हम उनकी शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित कर लें और इस विषय में सर्वसम्मति लेकर यह निश्चित करें कि किस प्रकार की शिक्षा उनके योग्य होगी, किस प्रकार हम अपने प्राचीन साहित्य और संस्कृति के उत्तम ज्ञान के साथ-साथ वर्तमान साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा को उन तक पहुँचा सकते ... क्या आप चाहते हैं कि हमारे देश में सावित्री, अरून्धती, मैत्रेयी, लीलावती और सुलभा आदि प्राचीन समय की स्त्रियों के समान अथवा सुराज्य करने वाली अहिल्याबाई अथवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान निर्भीक सैनिक पुनः पैदा करें? क्या आप ऐसी स्त्रियों को जन्म देना चाहती हैं जिनमें प्राचीन तथा नवीन सभ्यता के सभी सद्गुणों का सुंदर संयोग हो और जो अपनी शिक्षा के द्वारा भावी भारत के पुनर्निर्माण में आपसे पूर्ण रूप से सहयोग कर सकें? जब तक हमारे देश की स्त्रियों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम का निर्माण हो जाता तब तक इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों पर विचार प्रकट करने की आवश्यकता पड़ेगी। मालवीय जी का विचार था कि स्त्रियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उनमें स्त्रियोंचित गुणों का विकास हो और वे अपने कर्तव्यों को ठीक से समझकर देश में स्वस्थ नागरिकता के निर्माण में सहयोग कर सकें। उनका शिक्षा से तात्पर्य यह था कि हृदय एवं मन की समस्त शक्तियों का सम्यक एवं सन्तुलित विकास हो। स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध मालवीय जी ने कहा था कि यह प्राचीन तथा आधुनिक विचारधाराओं का समन्वित स्वरूप हो। उनके अनुसार ''हमें स्त्रियों को शिक्षा, जीव विज्ञान, ललितकला, साहित्य और संस्कृति के उत्तम ज्ञान के साथ-साथ देनी चाहिए। इस विधि से नारी जाति का शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव हो सकेगा।''[6]

समाज को जिस दिशा में अग्रसर करना हो उस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था का व्यापक प्रबन्ध स्त्री-वर्ग के लिए किया जाना चाहिए। उन्होंने स्त्रियों के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए वेदाध्ययन का अधिकार दिये जाने का प्रबल समर्थन किया क्योंकि उस समय स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नही था। मालवीय जी ने जातीयता, सामुदायिकता अथवा क्षेत्रीयता एवं लिंग के आधार भेदभाव का विरोध किया। उन्होंने अनेक विरोधों के बावजूद स्त्रियों को न सिर्फ वेदाध्ययन हेतु प्रवेश की अनुमति दी, बल्कि शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कर्मकाण्ड कराने के लिए आशीर्वाद दिया।[7]

मालवीय जी का विचार था कि पुरूषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे ही भारत की भावी सन्तानों की माता है। वे हमारे भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्वज्ञानियों, व्यापार तथा कला कौशल के नेता आदि की प्रथम शिक्षिका है। उनकी शिक्षा का प्रभाव भारत के भावी नागरिकों की शिक्षा पर विशेष रूप से पड़ेगा।[8]

अतः उनका मत था कि शिक्षा का व्यापक प्रबन्ध स्त्री वर्ग के लिए किया जाना चाहिए। वे स्त्री की बहुआयामी शिक्षा के समर्थक थे। उस समय समाज में संगीत सिखाने का प्रचलन नहीं था। सम्भवतः सबसे पहले मालवीय जी ने विश्वविद्यालय स्तर पर लड़कियों को संगीत सिखाने की परम्परा की शुरूआत की। उनका विश्वास था कि स्त्री शिक्षा के प्रसार से उन समस्त सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जा सकता है जो स्वस्थ एवं सशक्त राष्ट्र निर्माण में अवरूद्ध करती हैं।

स्त्रियों की समस्याओं का विश्लेषण

मालवीय जी ने समाज के उन रूढ़ियों एवं कुरीतियों पर प्रहार किया जो भारतीय सामाजिक जीवन में स्त्री को हीन अवस्था के लिए उत्तरदायी बनाया। उन्होंने बाल-विवाह, दहेज प्रथा तथा देवदासी प्रथा का विरोध किया।

- मालवीय जी का विचार था कि विवाह की आदर्श आयु क्रमशः सोलह तथा पच्चीस वर्ष है जैसा कि चिकित्सा पर प्राचीन वैद्य आचार्य सुश्रुत का मत हैं।[9] वे बाल विवाह रोकने के लिए इस

पक्ष में थे कि एक ऐसा कानून बनाया जाय जिसके अनुसार लड़की जब तक पन्द्रह वर्ष की न हो जाये तक पति गृह व भेजी जाय।[10] उन्होंने 1880 ई0 में प्रयाग महासभा अधिवेशन में अपने व्याख्यान में बाल विवाह के दुष्परिणामों को समझने पर बल दिया। मालवीय जी चाहते थे कि स्कूलों एवं कालेजों में बाल-विवाह की बुराइयों का वर्णन करने वाले पाठ पढ़ाये जाये।[11] मालवीय जी का विचार था कि मात्र बाल-विवाह विरोधी कानून पास कर लेने से इस समस्या का समाधान नही हो सकता है। मालवीय जी का यह तर्क अक्षरशतः सत्य ही सिद्ध हुए हैं क्योंकि यह समस्या वर्तमान समय में बनी गई है।

- मालवीय जी ने बाल-विवाह के साथ दहेज प्रथा की कड़ी आलोचना की। उन्होंने इस सन्दर्भ में कहा कि ''हिन्दू जाति के लिए ब्याह में जो चार हजार, छ हजार, दस हजार के करार की रीति है, वह बहुत बुरी है। इसको निकाल दो और वेशभूषा, शान शौकत में जो खर्च करते हो, वह भोजन में लगाओं- भोजन में अधिक खर्च करो, खूब खाओ, फैशन में कम खर्च करो। मोटा कपड़ा खद्दर अथवा देश का कपड़ा पहनो। बिना त्याग के बल नहीं और बिना त्याग के सुख नहीं। यदि आपने इतना कर लिया तो मुझे विश्वास है कि समाज की अवस्था बदल जायेगी।''[12]

- उन्होंने प्राचीन समय से चली आ रही देवदासी प्रथा का भी विरोध किया। उनका विचार था कि ''अबोध बालिकाओं को मंदिरों में सौपने की प्रथा को इंचमात्र भी धार्मिक स्वीकृति प्राप्त नहीं है, यह अधार्मिक तथा पापमय है और कोई भी व्यक्ति इस प्रथा की पुष्टि के लिए एक भी साक्ष्य उपस्थित नही कर सकता है। उन्होंने इस भयंकर बुराई को समाप्त करने वाले विधेयक का समर्थन किया तथा सरकार से ऐसे कानून बनाने को कहा कि कोई भी बालिका विवेकपूर्ण निर्णय करने की आयु प्राप्त करने के पूर्व लज्जाजनक जीवन को ओर न तो ले जायी जायेगी, न प्रेरित की जायेगी और न बाध्य की जायेगी अथवा न तो ऐसी स्थिति में ही रखी जायेगी, जहाँ वह निराशापूर्वक इस प्रथा को स्वीकार कर सके।''[13] उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि बालिका के माता-पिता या संरक्षक को बालिका को इस लज्जापूर्ण या घृणित कार्य जीवन के प्रति समर्पित करने का कोई अधिकार नही है।

- इस प्रकार मालवीय जी समस्त पूर्वाग्रहों एवं अन्धविश्वासों के विरूद्ध थे जो समाज को गतिहीन बना रहे थे। वे एक शल्य चिकित्सक की भाँति जिसे जो माँस सड़ा नही है, उसकी रक्षा के लिए सड़े हुए मांस को काटकर बाहर निकाल देना पड़ता है, कार्य करना चाहते थे।[14] मालवीय जी स्त्री सशक्तिकरण के बावजूद हिन्दू विवाह तथा उत्तराधिकार परिवर्तनों के विरोधी थे। लेकिन पुत्री के सांपत्तिक अधिकार तथा विवाह विच्छेद के विरोध के पीछे उनका मूल मन्तव्य भारतीय सामाजिक व्यवस्था की सुदृढ़ता को रक्षित करना था न कि स्त्री के अधिकारों का विरोध करना था।

इस प्रकार मालवीय जी का दृष्टिकोण स्त्री सशक्तिकरण के लिए परम्परा के साथ प्रगतिशील एवं परिवर्तनवादी था। अन्ततः मालवीय जी का आधुनिक भारत के निर्माण की अवधारणा स्त्री सशक्तिकरण से जुड़ी हुई है। उन्होंने स्त्री के उत्थान पर इसलिए बल दिया क्योंकि स्त्री शक्ति के सहयोग बिना सशक्त राष्ट्र की कल्पना नही की जा सकती है। उन्होंने कहा कि ''एक राष्ट्र जिसकी आधी आत्मा, आधा मस्तिष्क और आधा शरीर कमजोर दशा में हो, वह एक पैर वाले मनुष्य की तरह है।[15]

स्त्री सशक्तिकरण पर बल

उनका मत था कि जब तक स्त्रियाँ प्रगति के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ती है, तब तक देश आगे नहीं बढ़ सकता हैं। उनका मानना था कि भारतीय स्त्री पुरूषों के हाथ का खिलौना नहीं है बल्कि वह स्वावलम्बी तथा अपनी स्वंय रक्षा करने वाली हैं। इसके साथ ही उन्होंने स्त्रियों को पुरूषोचित आत्मबल से मुक्त किये जाने पर बल देते हुए कहा कि ''मैं चाहता हूँ कि देश की सभी स्त्रियाँ अंग्रेज महिलाओं की भाति पिस्तौल एवं बन्दूक रखें और चलाना सीखें। वे किसी भी आक्रमण से अपने सतीत्व की रक्षा करे सके।[16]

उनके विचार में आदर्श नारी वह है जो सिर्फ गृह की शोभा नहीं, बल्कि कर्म तथा धर्म क्षेत्र में आगे हो। आधुनिक भारत के निर्माण के लिए वे चाहते थे देश की स्त्रियाँ विश्ववारा, विद्योत्तमा, सीता, तथा सावित्री की तरह विदुषी, साहसी, धैर्यवान, पवित्र तथा दृढ़ निश्चय वाली हो। उनका व्यक्तित्व भारतीय मूल्यों से सिंचित हो। वे तेजस्वी एवं सुशील राष्ट्र निर्मात्रियाँ चाहते थे न कि वैभव में सुख का दर्शन करने वाली कोमलांगी रमणियाँ। इस प्रकार उन्होंने स्त्री स्वतंत्रता की ऐसी अवधारणा की संकल्पना की जो स्त्री स्वच्छंदता की ओर नहीं बल्कि कर्मशीलता की ओर ले जाय।

मालवीय जी ने स्त्रियों को घर से बाहर निकलने एवं राष्ट्र निर्माण में अपेक्षित भूमिका निभाये जाने का पुरजोर समर्थन किया मालवीय जी पुत्री, पत्नी एवं माता के रूप में स्त्री को सशक्त करने के प्रबल पक्षधर थे क्योंकि इन भूमिकाओं के उचित सम्पादन से भारत की प्रगति की ओर उन्मुख हो सकता है।

वर्तमान समय में स्त्रियों को सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है। महिलाओं को सशक्त करने के लिए संविधान में प्रावधान किया गया है। स्वतंत्रता के पश्चात् पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई। लेकिन महिलाओं के साथ हिंसा की घटनाएँ भी बढ़ रही हैं। अतः आधुनिक भारत में स्त्रियों की दशा के सुधार के लिए वर्तमान उपागमों पर पुनःचर्चा करके नये सोच एवं उपायों को विकसित करना होगा। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम मातृत्व के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव विकसित करें। स्त्री को भोग की

वस्तु न समझा जाय क्योंकि यह दृष्टिकोण स्त्रियों के साथ हो रहे अन्यायों की जड़ हैं। स्त्री एवं पुरूष दोनों को जीवन में पवित्रता का महत्व समझना होगा। इस दिशा में मालवीय जी के स्त्री शक्ति के सम्बन्ध में विचार अत्यन्त प्रासंगिक हैं, क्योंकि इससे वर्तमान भारत में स्त्री की गौरवमयी एवं पवित्र पहचान विकसित करने में सहायता मिलेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद V/61/6-7
2. मनुस्मृति II/145
3. सीता राम चतुर्वेदी ''महामना पंडित मदनमोहन मालवीय अभिनन्दन ग्रन्थ द्वितीय खण्ड'' 1923 को काशी हिन्दू महासभा के 7 अधिवेशन में मालवीय जी के भाषण के अंश''
4. Proceedings of Imperial Legislative Council, Vol L, March 1912, P- 607.
5. M. B. Rane,"MalaviyaJi – A Symbol of Ancient Indian Culture, Mahamana. MalaviyaJi – Birth Centenury Commemoration – P.72
6. महामना मदन मोहन मालवीय, ''जीवन एवं नेतृत्व,'' पृ. 64
7. उमेशदत्त तिवारी, ''महामना के प्रेरक प्रसंग खण्ड-1'', महामना मालवीय फाउन्डेशन, वाराणसी, 1996, पृ.- 72
8. Pt. Sitaran Chaturvedi (ed), Mahamana M.M. Malaviya (Presented on the 75 th Anniversary), Part – II, Kashi, Krishana shtami, 1993 V.S.P. 64
9. Legislative Assembly debate Vol.V. Sept 15, 1927, P-4343-4430 Part – II March 23, 1925, P. 2844.
10. आज अगस्त 21, 1923
11. सोहन सिंह, ''मदन मोहन मालवीय; व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1989, पृ.- 180
12. ''हिन्दी विश्व कोश'', नरेन्द्र नाथ वसु (सम्पादक) खण्ड 10, कलकत्ता, 1925, पृ.- 69-90
13. Proceedings of Imperial Legislative Council, Vol.I Feb 26, 1912, P- 174
14. दसवें नेशनल सोशल कांफ्रेस, 1 जनवरी 1897 की रिपोर्ट, पूना 1867 पृ.- 19-22
15. रिपोर्ट आफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस 1918, पृ.- 151
16. लेख और भाषण (धार्मिक) पृ.- 302-319।

●

पारम्परिक शिक्षा बनाम ई-लर्निंग : सतत् विकास का सार्थक प्रयास
(उच्च शिक्षा में अध्ययनरत छात्राओं का अध्ययन)

शीतल शर्मा एवं डॉ0 अरूणा कुमारी***

किसी भी समाज को विकास के बुनियादी स्तर तक पहुँचाने के लिए पारदर्शी, सरल और सुलभ प्रशासन की भूमिका अहम होती है। सामाजिक परिवर्तन की सकारात्मक तस्वीर की कल्पना उसी समाज में मूर्त रूप प्राप्त कर सकती है, जिस समाज या देश में सुविधाओं का लाभ अंतिम छोर के नागरिकों तक पहुँचे। सकारात्मक व सतत विकास के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने सूचना प्रौद्योगिकी की शक्ति का प्रयोग करते हुए डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की शुरुआत की। जिसका मुख्य उद्देश्य डिजिटलीय सशक्तिकरण के माध्यम से तैयार होने वाली ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था द्वारा देश का विकास करना है।

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम सरकार द्वारा सतत विकास की ओर उठाया गया एक सराहनीय कदम है। इस योजना का उद्देश्य देश के प्रत्येक व्यक्ति को सूचना एवं प्रौद्योगिकी के माध्यम से सरकार द्वारा चलाये जा रहे विकास कार्यक्रमों से अवगत कराना है जिसके फलस्वरूप देश के प्रत्येक निवासी इन सेवाओं का उचित एवं अधिकतम लाभ ले सके। यह एक ऐसा प्रयास है, जिसका उद्देश्य घर-घर पर व जन-जन तक सूचना प्रौद्योगिकी की पहुँच निश्चित करना है। इस कार्यक्रम का दृष्टिकोण मुख्यतः तीन क्षेत्रों पर केन्द्रित हैः-

- डिजिटलीय ढ़ाँचे जिसका तीव्रतम लाभ प्रत्येक नागरिक को मिले।
- सभी सेवायें डिजिटलीय रूप से प्रदान करना।
- डिजिटलीय साक्षरता।

यह योजना एक ऐसा व्यावसायिक मॉडल है जो न सिर्फ सरकारी सेवाओं को विस्तृत क्षेत्र में फैले लोगों तक पहुँचाने में मदद करेगा बल्कि साथ ही उनके क्षमता के अनुरुप सेवाओं के उपयोग को भी सम्भव बनायेगा। डिजिटल इंडिया कार्यक्रम योजना नौ स्तम्भों में विभाजित है जो इस प्रकार हैं।

सारणी संख्या-1

ब्रॉडबैंड हाइवेज	ई-गवर्नेंस	ईलेक्ट्रोनिक निर्माण में शून्य आयात
फोन तक सबकी पहुँच	ई-क्रांति	नौकरियों के लिये
सार्वजनिक इंटरनेट एक्सेस प्रोग्राम	सर्व सूचना	अर्ली हार्वेस्ट प्रोग्राम

ई-लर्निंग-

''**ई-लर्निंग**'' डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के नौ स्तभों में से एक ''**ई-क्रांति**'' के उद्देश्यों में से एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। ''ई-लर्निंग'' पद कुछ वर्षों में काफी प्रचलित हुआ है परंतु अभी भी कुछ समूह इस सेवा से परिचित नहीं है। यह शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी आविष्कार माना जा सकता है। ई-लर्निंग से तात्पर्य एक ऐसी शिक्षण प्रक्रिया से है जो कम्प्यूटर आधारित हो तथा जिससे किसी भी स्थान पर रहते हुए शिक्षा प्राप्त करना संभव हो। इसमें पूर्व अध्ययन हेतु कम्प्यूटर सम्बन्धित उपकरण जैसे सी0डी0-रोम आदि का प्रयोग किया जाता था जबकि वर्तमान समय में ई-लर्निंग मुख्य रूप से इंटरनेट पर निर्भर है।

ई-लर्निंग पद 1999 में प्रकाश में आया। इसके लिये अन्य पदों का भी प्रयोग होता है जैसे Online Learning, Virtual Learning आदि। उपलब्ध साहित्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ई-लर्निंग 19वीं शताब्दी के अंत में अस्तित्व में आ चुका था। ई-लर्निंग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अध्ययन सम्बन्धी सारे कार्य, तथ्यों का आदान-प्रदान आदि बिना समय व दूरी की रुकावट के आसानी से सम्भव है। इस सेवा ने परम्परागत क्लास रूम टीचिंग का स्वरुप बदलकर उसे विस्तृत स्तर तक फैला दिया है, जिसमें अध्ययनकर्ता अपनी इच्छा, रुचि व विषय के अनुसार शिक्षक व विषय का चुनाव कर सकता है। ई-लर्निंग एक ऐसी सेवा है जिसका लाभ न सिर्फ विद्यार्थी बल्कि नौकरी व व्यवसाय में कार्यरत लोग भी उठा सकते हैं जिससे उनके ज्ञान वृद्धि के साथ-साथ अकादमिक विकास भी हो। वर्तमान समय में भारत में शिक्षण प्रणाली में गुणात्मक चुनौतियों के प्रतिउत्तर के रूप में ई-लर्निंग एक महत्त्वपूर्ण आविष्कार माना जा सकता है। ई-लर्निंग के क्षेत्र में लगातार वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में ई-लर्निंग के क्षेत्र में लगभग 3 खरब का व्यापार हो रहा है। भारत में इसका प्रयोग करने वालों की संख्या चीन के बराबर है जो कि ऑनलाइन कोर्सों वाले देशों में सबसे बड़ा देश है।

पूर्व अध्ययन यह दर्शाते है कि ऑनलाइन कोर्स में रजिस्टर होने वालों में स्नातकों व उच्च शिक्षा के छात्र-छात्राओं की संख्या ज्यादा है वही दूसरी ओर महिलाओं, कम शिक्षितों एवं निर्धन वर्ग की संख्या नगण्य है। भारतीय समाज में ऑनलाइन कोर्स या ऑनलाइन शिक्षा के सामने इस सामाजिक समूहों तक पहुँचाना

* शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, समाज विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सबसे बड़ी चुनौती है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा ऑनलाइन कोर्स के लिये कई साईट्स चलाई गयी हैं। जैसे- CEC, NPTE,ISLERS, Digital library inflibnen, E-Yatra, Talk to teacher, Spoken tutorial, E-Kalpna, Virtua labs etc.

समस्या कथन-

आज सूचना प्रौद्योगिकी के युग में जहाँ भूमण्डलीकरण ने दुनिया को विश्व गाँव में परिवर्तित कर दिया है वही सूचना प्रौद्योगिकीय के उपयोग ने प्रत्येक कार्य का स्वरूप ही बदल दिया है। सरकार द्वारा इसी सूचना प्रौद्योगिकी के विकास का लाभ जन जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से 2015 में डिजिटल इंडिया कार्यक्रम आरम्भ किया गया। डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के नौ स्तम्भों में से एक स्तम्भ ई-क्रांति है जिसके अंतर्गत कई लक्ष्य रखे गए उनमें से एक है ई-लर्निंग। प्रस्तुत अध्ययन डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के ई-लर्निंग सेवा पर आधारित है। प्रस्तुत अध्ययन एक प्रयास है, इंटरनेट द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की सेवा ई-लर्निंग के प्रति उच्च शिक्षारत छात्राओं की प्रतिक्रिया, नजरिया व जागरूकता के अध्ययन के सम्बन्ध में जानने का।

अनुसंधान प्ररचना-

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय आमतौर पर बी0एच0यू0 के नाम से जाना जाता है। यह उत्तर प्रदेश वाराणसी जिले में स्थित सार्वजनिक केन्द्रीय विश्वविद्यालय है जिसकी स्थापना पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने 1916 में की थी। यह एशिया में सबसे बड़े आवासीय विश्वविद्यालयों में से एक है। प्रस्तुत अध्ययन बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बी0एच0यू0 में उच्च शिक्षा में अध्ययनरत छात्राओं के अध्ययन पर आधारित है। प्रस्तुत अध्ययन में अध्ययन हेतु 110 छात्राओं का चुनाव यादृच्छ निदर्शन पद्धति द्वारा किया गया है। अध्ययन की प्रकृति विवरणात्मक व विश्लेषणात्मक दोनों है। अध्ययन में संरचित प्रश्नावली द्वारा प्राथमिक तथ्यों का संकलन किया गया है।

परिणाम –
सारणी संख्या-2

क्र. सं.	ई-लर्निंग	हाँ		नहीं		कुल योग	
		सं.	%	सं.	%	सं.	%
1.	ई-लर्निंग सेवा के बारे में सुना है?	84	76.36	26	23.64	110	100
2.	आपने कभी कोई ई-लर्निंग का साँफ्टवेयर प्रयोग किया है?	44	40	66	60	110	100
3.	आपने कभी कोई मासिव ऑनलाइन ओपेन कोर्स किया है?	41	37.27	69	62.72	110	100

तालिका सं0 1

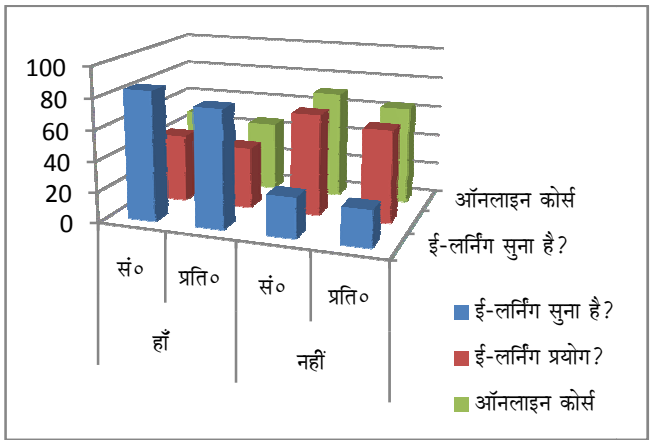

सारणी संख्या-3

ई-लर्निंग प्रोग्राम पूर्व के शिक्षण कार्यक्रमों से बेहतर है?			
क्र.सं.	**पूर्व के शिक्षण कार्यक्रमों से बेहतर**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	2	1.82
2.	असहमत	31	28.18
3.	सहमत	44	40
4.	पूर्णतः सहमत	33	30
	कुल योग	110	100

तालिका संख्या-2

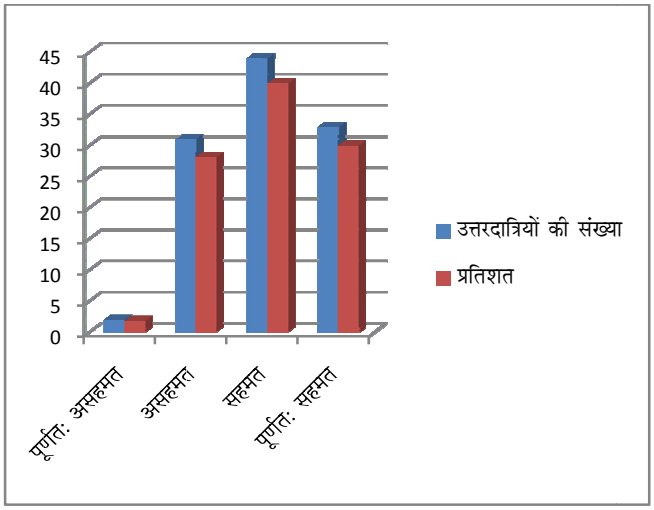

ई-लर्निंग सरकार द्वारा चलायी डिजिटल इंडिया कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है जिसका मुख्य उद्देश्य सभी को इंटरनेट के द्वारा शिक्षा प्रदान करना है जिसके अंतर्गत कई ऑनलाइन कोर्स, कोचिंग, अध्ययन सामग्री आदि आते हैं। ई-लर्निंग सेवा से सम्बन्धित अध्ययन में एकत्रित आकड़ों से ज्ञात होता है कि 76 प्रतिशत छात्राएँ ई-लर्निंग पद से भलीभाँति परिचित हैं। 30 प्रतिशत छात्राएँ इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं कि यह सेवा पूर्व में बनाये गये शिक्षण कार्यक्रमों से ज्यादा बेहतर है तथा 40 प्रतिशत छात्राओं ने इस विचार से सहमति जतायी है। परन्तु लगभग 30 प्रतिशत छात्राएँ इस विचार से असहमत हैं। अतः यह तथ्य दर्शाते है कि कुछ मात्रा में छात्राएँ अभी इस सेवा से संतुष्ट नहीं हैं परंतु अधिकांश छात्राओं की सहमति इस ओर इंगित करती है कि यह सरकार का शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण व सराहनीय प्रयास है।

ई-लर्निंग को शिक्षा के क्षेत्र में बेहतर व सकारात्मक प्रयास मानने वाली छात्राओं की संख्या अधिकतम है परंतु ऑनलाइन कोर्स करने वाली छात्राओं की संख्या मात्र 37 प्रतिशत ही है। अध्ययन में एकत्रित आकड़ों के अनुसार ऑनलाइन लर्निंग के सॉफ्टवेयर का प्रयोग करने वालों की संख्या 40 प्रतिशत है। अतः स्पष्ट है कि छात्राएँ इस सेवा को बेहतर तो मानती हैं परन्तु प्रयोग के प्रति जागरूकता की कमी अभी भी है।

सारणी संख्या-4

ई-लर्निंग परम्परागत अध्ययन से ज्यादा सस्ता हैं?			
क्र.सं.	**ई-लर्निंग सस्ता**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	11	10.00
2.	असहमत	8	8
3.	सहमत	33	30
4.	पूर्णतः सहमत	58	52.72
	कुल योग	110	100

सारणी संख्या-5

ऑनलाइन कोर्स ऑफलाइन कोर्स से ज्यादा विश्सनीय हैं?			
क्र.सं.	**ऑनलाइन कोर्स ज्यादा विश्वसनीय**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	44	40.00
2.	असहमत	47	42.72
3.	सहमत	8	7.27
4.	पूर्णतः सहमत	11	10
	कुल योग	110	100

सारणी सं0 4 व 5 में एकत्रित ऑकड़े दर्शाते है कि अधिकांश छात्राएँ ई-लर्निंग द्वारा शिक्षा प्राप्त करना परम्परागत शिक्षण प्रणाली से ज्यादा मितव्ययी मानती हैं परन्तु दूसरी ओर ऑनलाइन कोर्सों को विश्वसनीय नहीं मानती। विश्वसनीयता सम्बन्धी विचार से लगभग 80 प्रतिशत छात्राओं ने असहमती जतायी है सिर्फ 17 प्रतिशत छात्राएँ ही ऑनलाइन कोर्सों को विश्वसनीय मानती हैं।

सारणी संख्या-6

ई-लर्निंग सेवा ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों के लिये बराबर लाभकारी है?			
क्र.सं.	**ई-लर्निंग ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों के लिये बराबर**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	20	18.18
2.	असहमत	2	1.82
3.	सहमत	33	30
4.	पूर्णतः सहमत	55	50
	कुल योग	110	100

तालिका संख्या-3

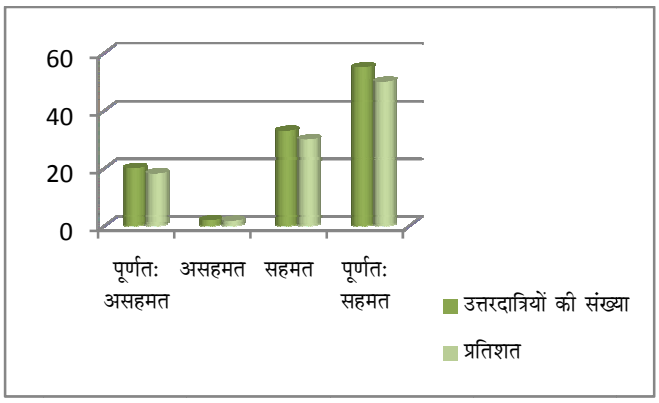

सारणी संख्या-7

ई-लर्निंग सेवा में ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों के लिये भिन्न परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है?			
क्र.सं.	**ई-लर्निंग सेवा में ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों के लिये भिन्न परिप्रेक्ष्य**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	12	10.91
2.	असहमत	10	9.09
3.	सहमत	19	17
4.	पूर्णतः सहमत	69	62.73
	कुल योग	110	100

तालिका संख्या-4

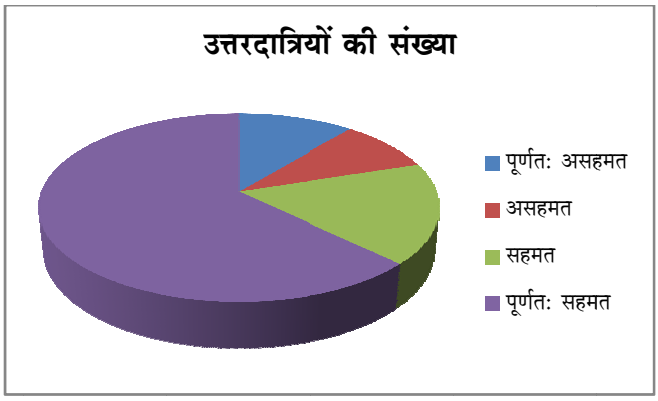

अध्ययन में एकत्रित आँकड़े यह दर्शाते है कि अधिकांश उत्तरदात्रियाँ ये मानती हैं कि ई-लर्निंग सेवा ग्रामीण व शहरी दोनों क्षेत्रों के लिये लाभकारी सिद्ध होगी, चूँकि दोनों क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था है, अतः दोनों क्षेत्रों में योजना के संचालन का परिप्रेक्ष्य भी भिन्न होना चाहिए।

सारणी संख्या-8

ई-लर्निंग सेवा जन-जन तक शिक्षा के स्वप्न का महत्वपूर्ण प्रयास है?			
क्र.सं.	**जन-जन तक शिक्षा के स्वप्न का महत्वपूर्ण प्रयास**	**उत्तरदात्रियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	पूर्णतः असहमत	8	7.27
2.	असहमत	10	9.09
3.	सहमत	20	18
4.	पूर्णतः सहमत	72	65.45
	कुल योग	110	100

तालिका संख्या 5

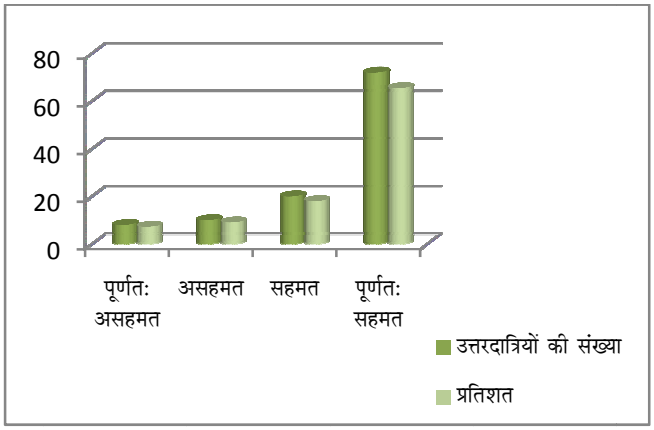

प्रस्तुत अध्ययन में एकत्रित ऑकड़े यह दर्शाते हैं लगभग 80 प्रतिशत उत्तरदात्रियाँ इस विचार से सहमत हैं कि ई-लर्निंग सेवा जन-जन तक शिक्षा के स्वप्न का महत्वपूर्ण प्रयास है। 7 प्रतिशत उत्तरदात्रियाँ इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं तथा 9 प्रतिशत उत्तरदात्रियाँ असहमत हैं। अतः ऑकड़ों से स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही छात्राएँ ई-लर्निंग योजना के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण रखती है तथा शिक्षा के क्षेत्र में इसे सराहनीय प्रयास मानती है।

निष्कर्ष :

भूमंडलीकरण के इस युग में सूचना प्रौद्योगिकीय के महत्त्वपूर्ण आविष्कार इंटरनेट ने सम्पूर्ण विश्व में एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। आज बिना तकनीकी व इंटरनेट के जीवन की कल्पना करना ही असम्भव हो गया है। युवा वर्ग इंटरनेट का प्रयोग करने वाला सबसे बड़ा समूह है। वर्तमान समय में इंटरनेट, मोबाइल, कम्प्यूटर, विडियो गेम्स, सोशल साइट्स आदि का प्रयोग लोगों के जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। प्रौद्योगिकीय के दो मुख्य रूपों स्मार्ट फोन और इंटरनेट ने प्रत्येक वर्ग की जीवन शैली का रूप ही बदल दिया है। सूचना प्रौद्योगिकी की आविष्कार का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में करने से जन-जन को सरल व सुलभ रूप से शिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य को पूर्ण करने में ई-लर्निंग एक महत्वपूर्ण प्रयास साबित हो रहा है।

ई-लर्निंग से ज्ञान वृद्धि में सहायता मिलेगी परंतु यह परम्परागत शिष्य-गुरु के सम्बन्धों की अनुपस्थिती नैतिक मूल्यों का

विकास करने में असमर्थ होगी। भारत जैसे धर्म प्रधान देश के पौधे को नैतिक मूल्यों के जल के बिना सींचना असम्भव है। ई-लर्निंग द्वारा सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करना तो आसान हो जायेगा परंतु कुछ विषयों पर व्यवहारिक ज्ञान आवश्यक होता जो इस विधि द्वारा कठिन है। यद्यपि ई-लर्निंग द्वारा अध्ययनकर्ता स्वयं के समय व सुविधा के अनुसार अपने स्थान पर शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं परन्तु इससे उनमें अलगाव की भावना आना भी सम्भव है। समूह कार्य के बजाय व्यक्ति स्वयं को महत्वपूर्ण मानकर अलगाव की भावना से ग्रसित हो सकता है। किसी भी विकास कार्य या योजना में गुण के साथ-साथ दोष भी विद्यमान होते हैं तथा किसी भी विकास का दोषपूर्ण प्रयोग अपराधिक तत्वों को जन्म दे सकता है जिससे उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा हो जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त ऑकड़ों के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि ई-लर्निंग से शिक्षा के पारम्परिक शिक्षण के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है एवं इसके सकारात्मक प्रभाव को भी नहीं नकारा जा सकता। इस सेवा ने अध्ययनकर्ताओं, छात्र, छात्राओं को स्वयं ऑनलाइन अध्ययन की ओर प्रेरित किया है, जिसमें कम समय से सुदूर शिक्षा सम्भव है। ई-लर्निंग के सहयोग व संचालन के लिये सरकार द्वारा चलायी गई कई संस्थाऐं सक्रिय रूप से अपनी भागीदारी निभा रहीं हैं। विगत वर्षों में इंटरनेट के उपयोग में तीव्र वृद्धि ई-लर्निंग के विकास की महत्वपूर्ण उत्प्रेरक मानी जा सकती है।

ई-लर्निंग के कई सकारात्मक पहलू हैं जिसे कुछ बिंदुओं के रुप में दर्शाया या समझा जा सकता है।

- इसमें अध्ययन के लिये सीमा का कोई बंधन नहीं है।
- मनोरंजक व आकर्षक
- ई-लर्निंग कम व्यय में ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम साधक है।
- इस सेवा के द्वारा व्यक्ति कम समय में अधिकतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है।
- ई-लर्निंग चूँकि मितव्ययी व कम समय लेने वाली प्रक्रिया है इसलिए सभी वर्गों के लिए उपयुक्त है।
- ई-लर्निंग द्वारा गुणात्मक शिक्षा प्राप्त होगी न कि दिखावे के लिये गुणनात्मक।

अतः स्पष्ट है कि सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में विकास के लिये ई-लर्निंग के रूप में उठाया गया कदम एक सराहनीय प्रयास है आवश्यकता है तो बस इसके गुणों को अपनाकर इसके उचित संचालन की।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- http://digitalindia.gov.in/content/approach-and-methodology.
- http://www.hindustantimes,com/editorials/e-learning-indias-education-system-needs-to-get-online/storyGsitwEdCHPZMmBOSiUt49k.html.
- http://mhrd.gov.in/e-contents
- http://www.financialexpress.com/article/industry/jobs/why-e-learning-has-apromising-futuriindia/19204/
- http://www.trai.gov.in/WriteReadData/recommendattion/documents/recommendation81210.pd.
- http://gadgets.ndtv.com/internet/news/india-to-have-second-largest-internet-user-base-by-yearend-iamai-622921
- http://en.wikipedia.org/wiki/Listof countries_by_number_of_mobile_phones_in_use
- http://en.wikipedia.org/wiki/List_of_countries_by samrtphone_penetration
- Chouhan, S.K. and Murthy, T.K. "Digital divide and India". Shodhganga@INFLIBNET Centre. P. 384 Retrieved 20 June 2012.
- http://pib.nic.in/archieve/otehrs/2014/aug/d2014082010
- http://www.ndtv.com/india-news/india-to-connect-2-5lakh-panchaysistrough-broadband-582902
- http://www.talentlms.com/elarning/elearning-101-jan2014-v1.1.pdf.

पर्यावरण एवं स्वास्थ्य चेतना का समाजशास्त्रीय आधार

डॉ0 दिनेश कुमार सिंह[*]

पर्यावरण तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध व्यक्तियों से पाया जाता है, व्यक्ति ही अपनी अन्तर्क्रियाओं को विशिष्ट एवं सामान्य अर्थ प्रदान कर उनको सामाजिक सम्बन्धों में परिणित करता है। सामाजिक सम्बन्धां को ताने-बाने से समाजरूपी व्यवस्था का निर्माण होता है। पर्यावरण तथा स्वास्थ्य दोनों ही समाज रूपी व्यवस्था का ही अंग है। इन दोनों को पृथक-पृथक रूपों में नहीं समझा जा सकता है, इनका अध्ययन आज समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में अपरिहार्य है। इस प्रपत्र में यही दर्शाने की कोशिश हो रही है कि पर्यावरण तथा स्वास्थ्य किस प्रकार से समाजशास्त्रीय विमर्श में प्रासंगिक है। इन दोनों सम्प्रत्ययों में चेतना के समाजशास्त्रीय आधार की विवेचना की गयी है जो इस प्रकार से है।

पर्यावरण का अध्ययन मात्र भूगोलविदों या पर्यावरणविदों के द्वारा ही नहीं किया जाता, वरन् समाजशास्त्रियों ने भी इसके अध्ययन में विशेष रूप से रूचि दिखायी है। **फ्रेडरिक एच0 बटल**[1] ने सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से पर्यावरणीय परिवर्तनों को बताया है। इन्होंने अमेरिकी समाज में पर्यावरणीय परिवर्तनों में पर्यावरण क्षरण के लिये सामाजिक संस्थाओं को उत्तरदायी माना है। पर्यावरण की समाजशास्त्रीय व्याख्या में प्रकार्यवादी, संघर्षवादी, अन्तर्क्रियावादी तथा नारीवादी परिप्रेक्ष्य शामिल है।

पर्यावरणीय समस्या पर प्रकार्यवादी दृष्टिकोण

प्रकार्यवादी चिंतक सामाजिक व्यवस्था को इसके घटकों के साथ सम्बद्ध करके अध्ययन करते है। यह पर्यावरणीय समस्यायें कैसे उद्भव होती है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में प्रकार्यवादी यह बताते हैं कि इसके पीछे व्यवस्था का असंतुलित होना है। औद्योगीकरण के आने के पश्चात् संरचना के घटकों में भी व्यापक रूप से परिवर्तन आया है तथा जिसने पूर्व प्राकृतिक पर्यावरण या पारिस्थिति की तंत्र में बदलाव लाये हैं। कृषक व्यवस्था को प्रतिस्थापित कर औद्योगिक व्यवस्था ने अपनी पैठ जमा ली जिसने पूर्व मौजूदा पारितंत्र में व्यापक परिवर्तन किये। जीवविज्ञानी **पॉल एरलिच तथा ऐने एरलिच**[2] ने बताया कि किसी भी मानवीय समूह का पर्यावरण पर प्रभाव तीन कारकों की उपज है, प्रथम जनसंख्या, द्वितीय व्यक्तियों द्वारा औसत उपभोग, तृतीय मांग की मात्रा जो कि प्रौद्योगिक पर निर्भर होती है। इन्होंने पर्यावरणीय क्षरण का सूत्र प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार से है-

पर्यावरण क्षरण = (जनसंख्या वृद्धि) × (समृद्धि का स्तर) × (तकनीकी क्षरण)

पर्यावरणीय समस्याओं के पीछे इन्होंने व्यवस्था के घटकों व इकाईयों के मध्य एकीकरण में असंतुलन की दशा को उत्तरदायी माना है। जनसंख्या या उपभोग की अधिकतम दर प्रौद्योगिकी उपयोग की वृद्धि दर को तीव्र करता है, जिसके परिणामस्वरूप समृद्धि के स्तर को बढ़ाने की चेष्टा में व्यवस्था की पूर्वस्थापित इकाईयों के प्रकार्यों में अत्यधिक दबाव उत्पन्न होता है जो कि असंतुलन की दशा को उत्पन्न कर देता है व पर्यावरण समस्याओं को जन्म देता है।

पर्यावरणीय समस्या पर संघर्षवादी परिप्रेक्ष्य

संघर्षवादी विचारक की रूचि प्रमुख रूप से उत्पादन प्रणाली त्था असमानता किस प्रकार से निर्मित होती हे, को अभिव्यक्त करने में रही। संघर्षवादी सम्प्रदाय ने यह बताया है कि किस प्रकार से अल्पविकसित समाजों में असमान वितरण प्रणाली के परिणामस्वरूप मलिन बस्तियों का उदय हो रहा है, विकासशील देशों में निरन्तर परिवार नियोजन कार्यक्रमों के प्रभावों की शिथिलता के परिणामस्वरूप, समाज व्यापक रूप से दो असमान वर्गों में निर्मित हो रहा है। एक वर्ग वह है जिसने पर्यावरणीय साधनों का स्वामित्व स्वयं के हाथों में लेकर उसका उपभोग किया तथा एक वर्ग प्रकृति के साधनों पर अधिकार से वंचित रह जाता है। इस प्रकार की दशा का उत्पन्न होना ही पर्यावरणीय समस्या का सबसे बड़ा कारण है। संघर्षवादियों का कहना है कि पर्यावरणीय समस्याएं मनुष्य द्वारा शक्ति, आय तथा स्वयं के हितों की प्रतिस्पर्धा के प्रतिफल के रूप में उदित हुई है। **जे0 क्लारेंस डेविस**[3] ने तर्क दिया है कि पूंजीवादी व्यवस्था ने प्रदूषण को बढ़ावा दिया है क्योंकि जलवायु को ये प्रकृति के द्वारा मुफ्त स्रोत मानते हैं। प्रदूषकों द्वारा यह कभी भी महसूस नहीं किया गया कि पर्यावरणीय समस्याओं से कौन-कौन और क्या-क्या प्रभावित हो रहा है वे तो स्वयं के हितों का ही सोचते हैं। जैसे कागज मिल नदियों को प्रदूषित कर रही है लेकिन इनके स्वामियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ रहा है। यदि कोई पावर प्लान्ट (शक्ति स्रोत केन्द्र) से वायु प्रदूषित हो तो इससे भी इन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा क्योंकि वायु तथा जल हेतु इन्हें कुछ भी अदा नहीं करना पड़ता।

---

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पश्चपूंजीवादी दशाओं ने पर्यावरणीय समस्याओं को और विस्तारित कर दिया है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण बड़े शहरों में आंतरिक छोटी-छोटी गंदी बस्तियों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। शिक्षा, आवासीय दशाओं तथा भौतिक संसाधनों का उपभोग वहीं कर रहा है जिसके पास स्वामित्व का अधिकार है। ज्ञान के उत्पादन का भी व्यवसायीकरण इस समस्या को बढ़ाता जा रहा है जिसमें समाज का वह एक वर्ग इतना पीछे रह गया है कि वे पर्यावरणीय समस्याओं से निजात नहीं पा सकता है। इसके उपचार में संघर्षवादी विचारकों ने असमानता को कम करने पर बल दिया है। इन्होंने समाजवादी, साम्यवादी उपायों से ही समाज, स्वास्थ्य तथा पर्यावरणीय दशाओं में संतुलन लाने की बात कही है।

पर्यावरण समस्या का अंतर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य

अंतर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य को रचनावादी (Constructionist Perspective) परिप्रेक्ष्य के रूप में जाना जाता है। **रिले अलैप तथा विलियम कैटन**[4] ने समाजशास्त्रीय परम्परा में यह दर्शाने का प्रयास किया है कि पर्यावरणीय समस्याएं कैसे रचित होती है?

पर्यावरण के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

यह पर्यावरणीय समस्यायें स्वयं उत्पादित नहीं होती यह मानवीय अंतर्क्रिया का परिणाम होती है। **जॉन हैनिंग्स**[5] ने पर्यावरणीय समस्याओं के पीछे छः कारकों को बताया है- वैज्ञानिक सत्ता जिससे किसी दावे को वैध करार किया जाता है, सक्रिय लोगों का अस्तित्व वे लोग जो समस्या को निरूपित तथा पैकेज कर पत्रकारों तक पहुंचाये, राजनीतिक नेता तथा मत निर्माता, जनसंचार आकर्षण।ये सभी किसी न किसी रूप में पर्यावरणीय समस्याओं को उजागर करने का प्रयास करते हैं। ये पर्यावरणीय समस्याओं को एक उपन्यास की भांति तथा महत्वपूर्ण नाटकीय ढंग से प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। अंतर्क्रियावादी पर्यावरणीय समस्याओं को नकारते नहीं है बल्कि इनकी रूचि उन कारकों को ढूंढने की होती है जो कि दावों को प्रस्तुत करने से होती है। इसमें विभिन्न प्रकार की समस्याओं को संस्थानिक प्रतीकों से सम्बद्ध करके बताया है। यह परिप्रेक्ष्य हमें यह समझाने का प्रयास करता है कि किस प्रकार समय बदलने पर पर्यावरणीय मुद्दे भी परिवर्तित होते हैं तथा किस प्रकार कुछ समस्यायें प्राथमिकता के रूप में देखी जा सकता है।

पर्यावरणीय समस्या पर नारीवादी परिप्रेक्ष्य

नारीवादी परिप्रेक्ष्य ने यह तर्क दिया कि सम्पूर्ण विश्व में पुरुषवादी मानसिकता ने ही प्रकृति, महिलाओं तथा अल्पसंख्यकों पर प्रभुत्व कायम रखा है। **लिटिंग**[6] ने बताया कि पारिस्थितिकी नारीवाद वर्तमान समय में पर्यावरण पर सबसे प्रमुख तथा प्रभुत्वशाली विचारधारा है, जिसने पर्यावरण तथा मानवीय सम्बन्धों को उजागर किया है। 1974 में पारिस्थितिकी नारीवाद का आविर्भाव होता है जिसे समस्त विश्व का ध्यान केन्द्र अपनी ओर किया। नारी शक्ति केन्द्रित इस धारणा के माध्यम से पारिस्थितिकी क्रांति के प्रस्फुटित होने की चर्चा सम्पूर्ण वैश्विक पटल के समक्ष उजागर होती है। **सकारस**[7] ने इस सन्दर्भ में यह बताया है कि इकोफैमिनिस्ट यह तर्क देती है कि पुरुष तर्क, प्रमुख, प्रतिस्पर्धात्मक, व्यक्तिवादिता, दूसरे पर नियंत्रण की मानसिकता आदि से संचालित होने के कारण जानवरों का पर्यावरण का अपराधी बनता जा रहा है। पारिस्थितिकीय नारीवादियों के अनुसार प्रकृति का सम्मान करना सामान्यतः मानव कल्याण को इंगित करता है जिससे प्रकृति की रक्षा की जा सकती है। **वेन्ज**[8] ने यह भी दर्शाया है कि नारीवादी परिप्रेक्ष्य प्रकृति संरक्षण के साथ संपोषित

	प्रकार्यवाद	संघर्ष/नारीवादी	अंतःक्रियावादी
पर्यावरणीय समस्याओं की व्याख्या	पर्यावरणीय समस्याएं आधुनिक जीवन का दुष्प्रकार्य है जो कि औद्योगिक उत्पादन व्यवस्था से आर्विभूत हुई है।	समस्याएं मानव निर्मित स्वयं होती है जो कि वह शक्ति, आय तथा अपने हितों के लिये होती है। हमारी पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को ही संघर्ष का प्राथमिक स्रोत माना है जो कि प्रदूषकों के मध्य सम्पूर्ण विश्व में है। नारीवादी विचारधारा ने पुरुष में प्रमुखवादी, तर्कवादी, तथा व्यक्तिवादी प्रकृति को पर्यावरण एवं नारियों का शोषक बताया है।	इस परिप्रेक्ष्य में यह दिखाया जाता है कि कैसे पर्यावरणीय समस्याएं सृजित की जाती है।
पर्यावरण व पर्यावरण समस्या से संबंधित प्रश्न	कैसे पर्यावरणीय समस्यायें उत्पादन प्रणाली से जुड़ी है? जो हमारे उपभोग के प्रतिमानों से सम्बन्धित है। क्या पर्यावरणीय समस्याएं आधुनिक जीवन का अपरिहार्य परिणाम है।	किस प्रकार से पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था से पर्यावरणीय समस्याएं उदित हुई हैं। कौन से विशेष समूह हैं जिन्होंने पर्यावरणीय समस्याओं का सामना ज्यादा किया है?	पर्यावरणीय समस्याएं कैसे निर्मित होती हैं। कौन से कारक इसमें शामिल होते हैं। कैसे समस्या का वैधीकरण होता है। कौन से लोग या समूह इसमें इस प्रक्रिया में भूमिका अदा करता है।

विकास की चेतना को भी विकसित करता है जिससे मानवीय जगत को सुखमय बनाया जा सकता है।

पर्यावरणीय समस्या का व्यक्ति के स्वास्थ्य से गहरा व प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। स्वास्थ्य मात्र एक जैविक धारणा ही नहीं वरन् यह एक सामाजिक सम्प्रत्यय है। क्योंकि स्वास्थ्य के प्रति भी चेतना का विकास समाज से ही होता है। यह कोई वैयक्तिक तथ्य न होकर एक सामाजिक तथ्य की भांति है।

स्वास्थ्य के सम्बोध का प्रत्यक्ष रूप से सरोकार रोग से पाया गया है क्योंकि स्वास्थ्य वह दशा है जिसमें व्यक्तिपूर्ण रूप से शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक रूप से सही हो, उसमें मात्र रोगों की अनुपस्थिति मात्र ही स्वास्थ्य की निशानी नहीं है। स्वास्थ्य को व्यवस्थित रूप से चार दशाओं के आधार पर बताया जा सकता है-

- प्रकृति तथा पर्यावरण से समरसता की दशा
- रोगों की अनुपस्थिति (चिकित्सकीय परिभाषा)
- ठीक होने की सम्पूर्ण दशा
- कार्यात्मक प्रचुरता

इस प्रकार से स्वास्थ्य चेतना में उपयुक्त चारों दशाओं की जानकारी समाज में रह रहे मनुष्यों के पास होनी चाहिए। इनमें से एक के भी अभाव में हम सम्पूर्ण स्वास्थ्य की परिकल्पना नहीं कर सकते हैं। स्वास्थ्य चेतना को परिपूर्ण रूप से समझने हेतु हमें रोग के सम्प्रत्यय की चर्चा करना आवश्यक होता है क्योंकि इसके चर्चा के बिना स्वास्थ्य की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती है।

बीमारी या रोगपूर्ण रूप से एक जैवकीय एवं शारीरिक तथ्य नहीं है वरन् एक घटना है जो सामाजिक संदर्भ में घटित होती है एवं व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की रूपरेखा में प्रत्यावर्तित करता है। अन्तर्वैयक्तिक एवं अन्तर्वैयक्तिक पर्यावरण दोनों ही महत्वपूर्ण घटनायें हैं जो मानवीय सावयवों को रोग के संदर्भ में प्रभावित करते हैं। **डी मैकेनिक**[9] ने रोग को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि ''रोग का आशय साधारणतः सामान्य प्रकार्यों से विचलनशीलता है, जो स्वतः अवांछनीय है, क्योंकि इससे व्यक्तिगत अशांति या व्यक्ति के भविष्य के स्वास्थ्य प्रस्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।''

इस प्रकार रोग अथवा व्याधि रोग की अवस्था में व्यक्ति किसी प्रकार के दर्द की शिकायत करता है और इस कष्ट के आधार पर उपचार खोजा जाता है। रोग के सन्दर्भ में भौतिक, जैविकीय एवं मनोवैज्ञानिक कारकों के बीच सम्बन्ध महत्वपूर्ण एवं जटिल है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव के पीछे सामाजिक कारक भी उत्तरदायी होते हैं। रोग के कारकों में मनोवैज्ञानिक, दैहिक, सामाजिक तीनों ही महत्वपूर्ण है। रोगी का मानसिक रूप से परिपक्व होना स्वास्थ्य चेतना की प्रथम दशा होती है क्योंकि मानसिक रूप से मजबूत व्यक्ति ही जल्दी स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल कर स्वस्थ हो जाता है। सामाजिक सांस्कृतिक कारकों में अंतक्रियात्मक व्यवहार प्रतिमान महत्वपूर्ण होता है। परिवार, समुदाय, समूह, पड़ोस आदि से व्यवहार का प्रतिमान किस प्रकार का है, से भी रोग के कारकों का पता चलता है।

रोगों से मुक्ति का तात्पर्य मात्र रोगों की अनुपस्थिति से नहीं वरन् एक सम्पूर्ण पर्यावरण में समरसता से पाया जाता है। इसी संदर्भ में स्वास्थ्य के बारे में जैसा कि पूर्व में ही बता दिया गया है कि स्वास्थ्य का तात्पर्य केवल रोगों की अनुपस्थिति से नहीं वरन् शारीरिक और सामाजिक दोनों बाह्य वातावरणों के साथ व्यक्ति के पूर्ण समायोजन से है। इस प्रकार यह शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं के समरस विकास से सज्जित व्यक्ति के कल्याण की एक प्रभावयुक्त अवस्था है। इसलिए स्वास्थ्य में न केवल चिकित्सा सम्बन्धी कारकों को ही अपितु सामाजिक, आर्थिक और शिक्षागत कारकों को भी समान स्थान दिया जाना चाहिए। स्वास्थ्य शब्द में व्यक्ति की रोगशून्यता से भी अधिक कुछ निहित है और यह व्यक्ति के शारीरिक व मानसिक वातावरण के सन्दर्भ में उसके शरीर तथा मानसिक के समरस कार्य-संचालन की उस अवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें वह यथासम्भव पूर्ण बिन्दु तक जीवन का आनन्द उठाने और उत्पादन क्षमता के अधिकतम स्तर तक पहुँचने योग्य बनाता है। स्वास्थ्य व रोग को विस्तृत रूप से इसके उपागमों से समझा जा सकता है। इनके प्रमुख उपागम इस प्रकार से है-

1. **विचलन व्यवहार उपागम-**इस उपागम के समर्थकों का यह कहना है कि मानव के स्वास्थ्य का एक साधारण प्रारूप या प्रतिमान होता है। और साधारण स्वास्थ्य से किसी प्रकार का विचलन अस्वस्थता कहलाता है। **पार्सन्स**[10] इस प्रकार के उपागम का मुख्य प्रवर्तक है। इनके अनुसार प्रत्येक समाज का अपना क स्वास्थ्य मूल्य एवं प्रतिमान किसी प्रकार खण्डित होते (टूटते) है, तो स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएं उस समाज के सम्मुख उत्पन्न हो जाती है। परन्तु इतना स्पष्ट कर देने से ही स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप यह उपागम अपने आप में सन्तोषप्रद नहीं है। उपर्युक्त अवधारणा का एकरूप समाज में सत्यापित हो सकता है, परन्तु आधुनिक संकुल समाज में मूल्यों एवं प्रतिमानों में भिन्नता पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूल्यों की सुदृढ़ता अब क्षणिक एवं अस्थायी होती जा रही है। अतः इन व्यवधानों के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी मूल्यों का प्राथमिक प्रारूप सम्भव नहीं है एवं विचलन का माप अप्रयुक्त सम्प्रत्यय मात्र रह जाएगा।

2. **प्रत्यक्षवादी उपागम-** इस उपागम के अन्तर्गत कुछ आदर्शों को सन्दर्भ बिन्दु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसी आदर्श को ध्यान में रखकर उपसरण का वर्णन

किया जाता है। विलचनकारी व्यवहार वाले शोधार्थी कानून को संदर्भ बिन्दु के रूप में ग्रहण करते हैं और कानूनी दृष्टि से विचलन को महत्व प्रदान कराना चाहते हैं। इस उपागम में कुछ पूर्वमान होते हैं जैसे- जनसंख्या के रोगों के कारण किन संदर्भों में है तथा वे किस प्रकार चिन्हित किये जा सकते हैं।

3. **अंतर्क्रियात्मक उपागम-**यह उपागम अंतर्क्रियात्मक प्रतिमानों को प्रमुख मानता है। यह अंतर्क्रिया रोगी तथा डाक्टर के बीच ही नहीं वरन् समुदाय में रहने वाले विभिन्न लोगों के बीच आपसी अंतर्क्रिया प्रतिमानों द्वारा दवाईयों के प्रयोग से समरसता को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह मात्र शारीरिक समरसता ही नहीं वरन् सामुदायिक समरसता को भी लाता है।

4. **मार्क्सवादी उपागम-** यह उपागम स्वास्थ्य चेतना न होने के पीछे सामाजिक विभाजन तथा संघर्ष को उत्तरदायी मानता है व इसके पीछे चिकित्सक प्रशिक्षुओं की शक्ति को माना है। स्वास्थ्य में असमानता के पीछे सर्वप्रमुख कारक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को इन्होंने उत्तरदायी माना है।

इसके अतिरिक्त उत्तर आधुनिक उपागम ने दवाओं को निगरानी के रूप में पाया है। इसने पूर्व स्थापित महान वृतांतों का खण्डन किया तथा आज कामुकता के उपभोगवाद की संस्कृति से भी स्वास्थ्य को देखने का प्रयास किया गया है। यह उपागम स्वास्थ्य को एक नवीन विमर्श की भांति देखता है जिसमें वैधता का संकट निहित है, यह उपागम खतरों की प्रतिबिम्बता के प्रति अतिशयता को उत्तरदायी मानता है।

स्वास्थ्य तथा रोगी के सम्बन्धों को लेकर रूग्ण भूमिका की चर्चा समाजशास्त्रीय संदर्भ में की जाती है जिसमें रोग को समाज की बुराई के रूप में देखा गया है। समाज केवल विज्ञान की तरह शारीरिक अयोग्यता को बीमारी ही नहीं समझता वरन् नशाखोरी, चारित्रिक दोष इत्यादि बातों को भी बीमारी के समान समझता है। सामाजिक व्यवस्था को पारिस्थितिकी व्यवस्था में समायोजन से ही समझा जा सकता है।

निष्कर्ष

पर्यावरणीय तथा स्वास्थ्य चेतना के अन्तर्गत पर्यावरण व समाज के बीच होने वाले अंतर्क्रिया पर ध्यान दिया जाना चाहिये। वर्तमान समय में वैश्विक, तापक्रम, जलक्षरण, मरूस्थलीकरण से विभिन्न प्रकार की नयी-नयी बीमारियां सामने आने लगी हैं जिसके प्रति मनुष्य को जागरूक होने की आवश्यकता है। दिन-प्रतिदिन के व्यवहार प्रतिमान इतनी तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे हैं कि व्यक्ति पर्यावरण के प्रति अचेत सा हो गया है। इसी प्रकार की संकटावस्था से उसे उभरने की आवश्यकता है। सामाजिक व्यवस्था तथा पारिस्थितिकी के बीच यदि संतुलन कायम किया जाये तो लोगों के मध्य पर्यावरण तथा स्वास्थ्य के प्रति चेतना विकसित होती जायेगी जिससे पारिस्थितिकी व तकनीकी के संतुलित प्रयोग से ही स्वास्थ्य को बेहतर बनाया जा सकता है। परम्परागत संसाधनों को संपोषित करके ही पर्यावरण तथा स्वास्थ्य एक दूसरे को पूरक बनाया जा सकता है। अतः यह निष्कर्ष के रूप में यही बताया जा सकता है कि पर्यावरण और स्वास्थ्य एक दूसरे के पूरक तथा अंतनिर्भर है जिसका आधार समाज में व्यक्तियों के बीच होने वाली आपसी अंतःक्रिया हैं।

References

1. Frederick H. Buttel (2010), Social Institution and Environmental Changes Published in The International Handbook of Environmental Sociology, edited by Michael R. Redclift, and Graham Woodgate, Edward Elgar Cheltenham, UK Northampton, MA, USA.
2. Paul Ehrlich and Anne Journal f Sustainable Development 1 (13, 2012).
3. J. Clarence Davies (1970), The Politics of Pollution, New York, Pegasus.
4. 4.Riley E. Dunlap and William R. Catton (1994), Struggling With Human Expemptionalism: The Rise, Decline and Revitalization of Environment Sociology, Published in The American Sociologist, Vol. 25 No. 1, Spring.
5. John Hannigan (1996), Environmental Sociology, Routledge, London.
6. Litting B (2005), Social Sustainability: A catchword between political pragmatism and social theory, Published in International Journal of Sustainable Development, Vol 18. Nos 1/2.
7. Ric Scarce (1990), Eco-Warriors: Understanding The Radical Environmental Movement, Left Coast Press.
8. Peter S. Wenz (1988), Environmental Justice, Suny Press.
9. David Mechanic (1978), Medical Sociology, Free Press.
10. Talcott Parsons (1951), the Social System, Routledge & Kegan Paul Ltd.

●

भारतीय चित्रकला में ज्योतिष तत्त्व

डॉ0 राजेश कुमार शुक्ल एवं प्रो0 दीप्ति प्रकाश मोहन्ती***

भारतीय चित्रकला को ज्योतिष के चक्षु से उन्मीलित किया जाय तो, 'सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का कलात्मक साधन **'ज्ञानात्मक सूत्र'** का अभिप्रेत रुप है । ये रुप हमारे जीवन को भरते हैं। जीवन रुपों का कुटुम्ब हैं । चित्र-कला **'रुपवाहिनी'** है।[1] अन्तरंग भाव चक्र एवं बहिरंग व्यापार में जो रुप उत्पन्न होते हैं वह ज्योतिष की प्रवृत्ति में महाफल दायिनी होती है । 'रुप-तत्व के बीज से फल फूल-पूर्ण युक्त वृक्ष का वृहद् रुप **'कल्प वृक्ष'** की संज्ञा है'।[2] 'अपने ही जीवन की उन्नति, प्रगति एवं आनन्द के ध्यान में जो सुधि है' वह अत्यन्त महत्व की है।

जीवन पथ के संचलन में चित्र, संस्कृति एवं ज्योतिष तत्व एक दूसरे के पूरक हैं । मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन तत्व है, वहीं उसकी संस्कृति है । कला कुतुहलवश या विलास की भावना से नहीं, अपितु साधना के द्वार से उन्मुक्त होती है । ज्योतिष के विधान में 'चित्र के जो संविधान रुप भरते हैं, वह कला काया पुष्ट होती है।' यह वर्तमान एवं भावी जीवन की कसौटी है। इसी कसौटी पर जीवन की प्राणवायु चैतन्य भाव की 'साक्षी विनायक है।' ''विश्व के अन्तन्त मैत्री भाव में समन्वय का सन्तुलन हमारे जीवन का ढंग है । विश्वात्मा के अनुहार में स्थिति और सम्प्रीति का भाव'' ज्योतिष तत्व एवं चित्र संस्कृति का उच्चतम लक्षण है । ज्योतिष तत्व के द्वारा हम स्थूल भेदों के अर्न्तनिहित गुण के एकत्व व्याप्ति में मर्म सूत्र को पकड़ने में प्रयत्नशील रहते हैं । यद्यपि चिन्हित पहचान से जब हम अपने मन को विकसित करते हैं, तब मानवी जीवन की आध्यात्मिक प्रेरणा जन्म लेती है। वस्तुतः संस्कारों के उत्स में आदर्श का ओझल स्वरुप विवेकीय आग्रह से स्पष्ट हो जाता है। ''जीवन संकट को मन्द करने की चेष्टा ज्योतिष तत्व की मनीषा है''। ''लोक-परलोक ('स्वर्ग-नर्क के भौगोलिक स्वरुप') का जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष जीवन है'' उसका चिन्तन किए बिना हम मोक्ष की कामना कैसे कर सकते हैं। जीवन के इस निराकरण में जो सूक्ष्म और स्थूल है, वस्तुतः मन, वचन और कर्मगत् जीवन का आध्यात्मिक पक्ष कल्याण के निधान से परिभाषित है। 'भारतीय चित्रकला के पट्चित्र **कपड़े पर अंकित संयोजन 'यम पट्ट'** यमराज (धर्मराज) के संत्रास, और काशी में भैरवी यातना, **यम पिट्क** 'नचिकेता एवं यम का ब्रह्मत्व निरुपण' पर संवाद आदि अथवा 'पूर्व जन्म के संस्कारों की स्मृति पर चित्र संस्कृति थान के पर (थंकाचित्र) सुरक्षित है।'

महाभारत कार का यह कथन - **'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्व दर्शी भवेन्नरः'** अर्थात् लोक जीवन का सापेक्ष ज्ञान उसके सम्पूर्ण परिवृत्त के लिए अत्यावश्यक है । ज्योतिष तत्व के चिन्तन में लोक के प्रत्यक्ष जीवन में ही मिलने वाली जो **'सिद्धा शुभंकरणी सिद्धि'** है वही परम कल्याण की पोषक है ।

युधिष्ठिर को सन्दोहोपहार में व्यास प्रणीत उक्ति कितनी चरितार्थ है कि मानवी जीवन में जो श्रेय का सिद्ध पक्ष है वही महत्व का है **'मनुष्यलोके यच्छ्रेयः पर मन्ये युधिष्ठिर'।** दर्शन के विज्ञान में, साहित्य के आलोक में, संगीत के सुमधुर राग में, चित्रकला की धारा में, ललिते कला विधौः के घोष में, राजनीति की व्यवस्था में, वित्त के ज्ञान में, विज्ञान के धाम में, जो गणित का ज्ञान है, वह सर्जनात्मक समीक्षा के आयाम है। पार्थिव जीवन के रहस्य भेदन में रस लेने की प्रवृत्ति ज्योतिष और चित्र संस्कृति में परिलक्षित है। उन समस्त रुपों का **'कल्प सूत्र'** मानवीय प्रयत्नों का प्रतिफल है।

सृष्टि के अनेक रुप हमारे जीवन में पिरोये हुए हैं । उनकी उदात्त प्रेरणा हमारी प्रगति का आधार है। काल कवलित रुपों को नए रुपों में परिवर्तित कर स्वागत योग्य बनाना। नवीन या प्राचीन के उदासीन रुप अथवा भय से मुक्त दृष्टिकोण देना। कल और आज के सम्यक अभिकल्पन में साधना का मार्ग प्रगति का संकेत है। ज्योतिष हवा में नहीं, अपितु उसका मूर्तिमान रुप होता है। मन और प्राण से उदबोधित भविष्य के विचारों की दासता से रक्षा पदे-पदे है। मानवीय मन की स्फूर्ति सुन्दर रुपों की सृजनात्मिका शक्ति से अनुप्राणित है जो उपासना की साधना पर निर्भर है। भारतीय चित्रकला में रुपों की संस्कृति विलास के आनन्द से मुक्त अनुषंग है।

साँची और भरहुत के महान् स्तूपों, अजन्ता के भित्ति चित्रों एलोरा के कैलाश मन्दिर जन के शिक्षण पथ हैं । साधना के आनन्द में अध्यात्म का उद्देश्य **'भव चक्र'** के अंकन में ज्योतिष तत्व का दर्पण है। **अजन्ता के छत और** 'दिव्यावदान' एक उदाहरण है। 'जीवन के नाना विधि रुपों में जब विधाता ने सृष्टि का सन्तुलित संयोजन किया तो पृथ्वी एवं नभ-मण्डल के मध्य अन्तराल के द्विधा विभाजन को नानात्व रुपों से भरने लगे, **सूर्य-चन्द्र-तारे,**

* पूर्व शोध छात्र, चित्रकला विभाग, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ग्रह मण्डल, राशि चक्र, मेघ, षडऋतु, उषा, सन्ध्या इत्यादि प्रकार के वे रुप हमारे आकाश गंगा में भर गए, यह उत्तम एवं विलक्षण कृत्य देव शिल्प के प्रतिफल हैं । देव शिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों में परिव्याप्त हुई।'[3] फलतः उषाकालीन प्रभात मानवीय जीवन की चेतना की कल्पना है । आकाश के धरातल पर चित्रों के रुप भरते गए और संसार चित्रमय होता गया, इस यत्न में सहस्त्र वर्षों की आहुति हुई । जन्मगत् संस्कारों 'पूर्व जन्म कृतं पाप' की चिर स्मृति जातक कथा, जातक-परिजात, जातकाभरण आदि से भान मिलता है। यहीं से विकास और परिवर्तन जीवन के ठाठ बनें, सृष्टि के रहस्य **'ईश्वरीयकण'** में विज्ञान का चमत्कार नमस्कार करता है । मानवीय उद्दाम का ललाम मन, प्राण और देह को समुन्नत वैभव, दीर्घकालीन प्रयत्नों का पुंजीभूत रुप है । यह जीवन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता है । ज्ञान का उत्तराधिकार भी हमारे पूर्वजों के साथ चलता है। धर्म दर्शन ज्योतिष कला साहित्य संस्कृति आदि विधाएँ इन्ही से अनुप्राणित है ।

संस्कारों के निमज्जन में जन्म-जन्मान्तर का प्रभाव **'काल के कपाल का विलास रुप है'** । 'काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान पतन का बीज है । काल ही अपने वश में करके उसे वशीभूत कर लेता है । कभी काल बली रहता है, कभी वह दुर्बल हो जाता है'।[4] **''ज्योतिष के 'पिण्डायु चक्र''** में मार्केश की प्रबल दशा षडाण्टक् समसप्तक् नव पंचक् आदि ग्रह रुपों की गाथा ग्रह युतियों की विशेषता परमाणु प्रहार के समान हैं । काल सर्प योग और दोष 'मृत संजीवनी' महाकाल की अर्चना है । देह का चरित्र और विकास का नैतिक पक्ष शानि की 'साढ़े साती' और 'ढ़ैय्या पोल' को खोल देती है । मोहन मन्त्र के तन्त्र में जो राज-योग निर्मित है' वह चरित्र का धर्म तन्त्र है ।

भाग्य की वन्दना में कर्म की आराधना भूत काल के कण्ठ में पड़े खटखटे को ज्योतिष बारम्बार संघात करता है और भयभीत की जड़पूजा को विर्निदिष्ट करता है । रुढ़ियों से मुक्त शाश्वत और नित्य अर्थ को ग्रहण करता है। कर्मसिद्धि के ध्यान में मन्त्र सिद्ध प्रयोग 'सूर्य और चन्द्र ग्रहण' का **'शून्य काल'** है । यह काल साधना का अभीष्ट है । विचारों के उलझन में लक्ष्य से दूर, मनुष्य स्पूर्ति की चेतना से जब ज्योतिष की ज्योति में दृष्टि डालता है तब वह नयी पद्धति को जन्म देता है। जो वर्तमान अपने अतीत से नहीं सीखता वह भविष्य में अवश्य दण्ड भोगता है । ज्योतिष और कला, एक प्राण दो देह है । यह जीवन की अपरिहार्यता है ।

जीवन के झंझट में जीवन रुकता नहीं अपितु **'जगत्धात्री का आभूषण'** बनकर सम्बन्धों को घनिष्ठता प्रदान करता है। व्यक्तित्व के मर्म को महत्वाकांक्षा की अभिलाषा से सम्पृक्त करता है। उन्नति के मूल में बाह्य विकास की नींव पर विभिन्न पन्थ, और संस्कृति नैष्ठिक रुप है । जीवन के रथचक्र में **'चरैःवेति चरैःवेति'** का सूत्र निष्फलित नहीं होता । भूत का कल्याण तभी है कि वह वर्तमान और भविष्य के साथ मैत्री को स्थापित करे । ज्योतिष के दर्शन में **'कालधर्म'**[5] का महत्वपूर्ण स्थान है । सुदामा की दरिद्रता, पत्नी का कचोट भाव, तथा 'भीलन लूटी गोपिका वही अर्जुन वही बाण' यह परिदृश्य कृष्ण के अनुपस्थिति में दारुण दुःख का अनिमेष है । कल्याणमयी निमेष उस क्षय को नहीं रोक सके जो काल चक्र की महिमा है । कर्मगत् संसार में उलट फेर का कारक तत्व काल ही है । (श0 213/93) एक के बाद दूसरे का नियन्ता अनित्य पर्याय काल है ।

'न च देव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित् ।
घटतापि चिरं कालं नियन्तु मिति में मतिः' ॥

प्राणीमात्र का पूर्ण 'प्रयत्न देव मार्ग' की बाधा नहीं बन सकता । यह देव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। यही सनातनत्व ब्रह्म का पर्याय है । मृत्यु की भाँति यह अन्तिम सत्य है कि, सृष्टिकर्ता के निश्चित् विधान में परिवर्तन अटल है । अर्थात् विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है । अपितु इतना अवश्य है कि **'दैवज्ञ'** उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके मानव जीवन को ऋजुभाव दे सकता है । जिससे मनुष्य **'योगःश्चिति वृत्तिःनिरोधः'** के आधार पर इन्द्रिय निग्रह से **'आत्म दीपो भवः'** की ज्योति जला ले । ज्योतिष तत्व चिन्तन में जीवन के शृंगार की व्यवस्था दर्पण सदृश है । भूत के आधार पर भविष्य का विरोध प्रत्येक पग पर मात्र संकट का निमन्त्रण है। ''धर्म का मथा हुआ सार, उत्तम यत्न से जीवन मूल्य उच्च बनें । भारतीय कला का क्षेत्र **'साध्य भूमि'** का विस्तृत रुप है । लोक मंगल के निदान में भूआरेखन, वैदिक चित्र-शिल्प का मिथकीय आख्यान है।''

भारतीय चित्रकला न केवल रुप विधान की दृष्टि से समृद्ध है अपितु उसकी 'शब्दावली (रंग चक्र के परिप्रेक्ष्य में) भी अत्यन्त प्रासंगिक है ज्ञानियों के बहुविध मीमांसा में पृथ्वी पर साँस लेने वाला कोई प्राणी ऐसा होगा जो बहुमुखी कामनाओं से बचा हो इन्ही कामनाओं की पूर्ति चित्र कला और ज्योतिष की संस्कृति में सुरक्षित हैं । ज्यामितीय रुपाकारों में भारतीय चिन्तन मूलतः चित्र केन्द्रित है। हमारे यहाँ पूरी सृष्टि ही **'देवस्यकाव्यम्' 'चित्रस्य परं निधानं'** के रुप में देखी गयी है। त्रिभुज-चतुर्भुज-समभुज-आयत-पूर्णवृत्त में ऋग्वेद से ही सृष्टि पर्याय के चित्रमयं स्वरुप की प्राकल्पना आरक्षित है । त्रिआयामी स्वरुपों में चित्र के 'तीन स्तरों पर ब्रह्म (परब्रह्म) के रुप में दचुलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी की संयोजना की गयी'। भारतीय चिन्तन से चित्रांकन का उदात्तरुप प्रेरिका शक्ति है । **'भारतीय जीवन चित्रों से समविष्ट है'।** जहाँ रुपाकृति की परिशुद्धता पर बल दिया गया है । क्योंकि परिशुद्ध चित्र में ही कल्याण का निधान मान्य है।' 'शुभ संकल्प, शुभ नक्षत्र, तिथी, वार, करण, और योग के पंचांग, में ईष्ट, गुरु एवं पूर्वजों का स्मरण, पूर्वाभिभुख, ब्रह्म मुहूर्त अथवा **'अभिजित मुहूर्त'** में,

विशेष कर **'चित्रा नक्षत्र'** में मंगलमय प्रभु के ध्यान, दिशाओं को नमन करते हुए चित्रारम्भ करना चाहिए । 'कुशा का आसन' और मन की पवित्रता का विशेष ध्यान देना चाहिए। चित्राचार्यों की यह प्रत्रिग्या गेरु, रामरज, काजल, समेत सप्तवर्णों की प्रधानता के साथ **'इन्द्रधुनुषीय'** आभा का प्रयोग सम्प्रेष्य है। षट्कोण, अष्टकोण, षट्दल, अष्टदल, सहस्त्र दल, **'कमलवृत्त के अंकन'** में जो मीमांसा है। वह जगह-जगह निर्दिष्ट है। अनुवेषणात्मक तत्वों की तुलना में भाग्य की सरणियाँ वाचिक सन्दर्भों का ध्यान रखती हैं। सम-विषम, चर-अचर, नेतृ नेय, प्रभुता प्रेम जन्मांग का सन्देश जातक का अभिप्राय और संवेग का प्रवेग, इच्छा, अशंसा, असमर्थ, प्रहास, कुत्सा, क्रोध, प्रेम, आज्ञा, भर्त्सना, जीवन व्यवहार की परिस्थिति-परिरसा (हड़बड़ी) प्राप्तकाल (अनुकूल अवसर) दुराहवान, अनवक्लृप्ति (असम्भव स्थिति) प्रतिश्रवण अनुकरण का चरित्र विवेचन ज्योतिष तत्व का सार्वभौमिक महत्व है। जिस समाज ने ज्योतिष और चित्रकला को इतना मूल्य दिया कि कला को सृष्टि के समकक्ष माना उस समाज के दीर्घकालीन चिन्तन की रीति अधिक सन्दर्भोचित है। गुण-दोषों की सर्वांगीणता को सिद्ध प्रयोग में देखती चलती' 'संकल्पना शैली' है । **'शैली'** शब्द **'स्टाइल'** के रुप में रुढ हो गया है। यद्यपि भारतीय चिन्तन में, साहित्य शास्त्र में, **'रीति'** और नाट्य शास्त्र में, **'वृत्ति'** का प्रयोग मिलता है।[6] शैली की पाश्चात्य आकल्पना के समीप 'रीति' की अवधारणा अधिक प्रासंगिक है।'' **रीति कालीन कविता** और **रीति कालीन चित्रकला** की सम्प्रेष्यता रुपान्तरित है । चित्र रुप के विवेचन में निश्चित संकेतों का सहारा निरन्तर-परिवर्तन का विवर्तन है । 'चित्र-भाषा' व्यवहार परिवर्तन से ही, **'शैली'** का जन्म होता है। इस चित्रगत् वैविध्य के धरातल पर शैली और रीति का शास्त्रपुट् विचार समीचीन है। 'प्राचीन वाड्मय में, साहित्येत्तर विधाओं, प्रादेशिक विशेषताओं, कला-सम्प्रदायों, व्यक्ति की अभिव्यक्ति शैली आदि को सूचित करने के लिए (सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बोधित करने हेतु) शैली की संगत की जाती है । रंगात्मक वैशिष्ट्य, चयनात्मक प्रविधि, संयोजन की रीति चित्रकला का विश्लेषण है । ज्योतिष के ऋषि प्रणीत रीति में बड़ी भिन्नता और विशेषता है । भारतीय चित्रकला में 'सर्जनात्मक व्यापार' और ज्योतिष में **'साध्यगत् संसार का यथार्थ'** गुँथा हुआ है। 'तपोव्रती कलाकारों ने चित्रकला को ज्योतिष के आँख से तो देखा ही अपितु जीवन की दृष्टि से भी विस्तारित किया'। नाम रुप के व्याकरण में विष्णुधर्मोत्तर के **'चित्र-सूत्र'** विद्याविज्ञान के रहस्य की कुंजी है । 'ऐसी मान्यता है कि **'चित्रविज्ञान'**[7] की दार्शनिक व्याख्या देवताओं की **'धारिका और प्रेरिका'** है।' इस चिन्तन में 'ज्ञान राशि' के भीतर पैठना 'ज्योतिष के द्वार' से संभव कल्पना है । भारतीय चित्रकला में **'रंग विचार'** इतना ठोस है कि दुनियाँ का कोई भी देश उसकी ओर देखे बिना न रह सका । **'चित्रानुशासन'** में वर्ण, संयोजन, और विषय **'षड़ंग-दर्शन'**[8] में प्रायोजित हैं । अर्थगत् रुपान्तर में विषयगत् संस्कार **'स्वस्तिकर'** है । अजन्ता, एलोरा, एलिफेण्टा,बाघ,सित्तनवासल सिगरियॉ पंचमढ़ी-आदिकालीन चित्र पहाड़ी, अपभ्रन्श, राजस्थानी, मुगल,कम्पनी,आधुनिक,समकालीन **चित्र शैलियाँ कला की प्रयोगावस्था** हैं । संगीत और साहित्य में यही प्रयोग चलन का संकेत है ।

'अरुप ब्रह्म को रुप' देना चित्रकला की अवधारणा है।[9] शैली के समरुप तत्व चिन्तन परम्परा में **'रुपांजली'** मेघा शक्ति का प्रमाण है। सृजन शक्ति के मूल में अनिश्चता, विविधता, अनेकरुपता का कारण प्रतीकात्मक प्रस्तुति की अभिक्रिया है। चित्राचार्यों ने 'जल' के प्रतीक में समझाया है कि, जिस तरह जल की शक्ति तरंग, भँवर, बुलबुले की तरह भिन्न रुप लेकर प्रकट होती है वैसे ही चित्र भी भिन्न प्रयोग- सन्दर्भों में भिन्न-अभिन्न अर्थ अथवा **'अर्थ छवियाँ'** धारण करते हैं। चित्र चिन्तन की मूल चिन्ता तात्विक स्तर पर परब्रह्म, अक्षर, प्रतिमा बीज, बिन्दु, परा, स्फोट द्रव्य आदि के रुप में देखा गया है, वहीं ज्योतिष के स्तर पर ध्वन्ति ध्वनि संकेत, आकृति, संज्ञा आदि रुपों में परिभाषित किया गया है। इसलिए हमारे प्रयोग में **'रंगार्थ'** और **'चित्रार्थ'** भेद का निरुपण अध्ययन के महत्व का है। उद्याचल और अस्तभाल सूर्य आकाश को छा लेता है। चित्रकला का वैभव ज्योतिष तत्व के भावों को मूर्त रुप देता है। तूलिका की आराधना में सौन्दर्य श्री का यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र की व्यवस्था है। सूर्यास्त के निमित्त साधु,चोर, और प्रेमी के लिए इसका अर्थ अवसर की उपादेयता है । **'चित्रों में प्रेम प्रतीक'**[10] इसके उदाहरण हैं । लोक गोचरता के प्राणभूत तत्व की गहनता में सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमकता है, पक्षी घोसलों (बसेरों) में लौट रहे हैं, आदि सम्प्रेषण, नदियों के उत्ताल तरंग, वृक्ष, वनस्पति, पुष्प-लताओं **'मानवीय आकृतियों का आलम्बन'** रुपात्मक और प्रकर्यात्मक है ।

बाणभट्ट ने यह माना था कि **'चित्रयात्रा लोक के प्रसाद'** से ही चलती है, यदि ज्योतिष की ज्योति न होती तो संसार अँधेरे में ही रहता । अर्न्तभावों की अभिव्यक्ति का अस्त्वि अज्ञान के तमस् से परिज्ञान के प्रकाश की ओर प्रस्थान बिन्दु है। इस मन्थन का तथ्य ज्योति को दीपत करने में हैं ।

प्रतीयमान अर्थ पर ही तात्पर्यार्थ का बोधात्मिका शक्ति निर्धारित व्यवहार का प्रतिविम्ब है। चित्रकला के हर रीति में माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ, व्याप्ति, उदारता तथा क्रान्ति की मौलिकता गुणाश्रित है। शैलियों की रीति में 'शैलीय गुण', मृग नयनी, खंजन, अंजन में **'मीनाकृति'** की उक्तिकता अपेक्षित है। **'नवरसों की निष्पत्ति'** पर विमर्श की व्यंजना अर्थ मीमांसा के **'सूत्र सिद्धान्त'** हैं । चित्रमय जगत् से जो, जैसा सम्बन्ध है । उसकी लोचना से उत्पन्न प्रतीकात्मक प्रविधि का विस्तार सम्भव है।[11]

आचार्यों ने जल, ज्योति, दीपक, आकाश, पाताल, ब्रह्म का चयन करते हुए ज्योतिष और चित्र तत्व का विवेचन किया है। कला ने अपने अर्थों को अभिव्यक्ति देने के लिए अनेक मनोहर, दार्शनिक रहस्यम चिन्त का इंगित निधान किया है। भावना के रस संचरण, वाणी के मर्म में अन्तरंग रुप प्रकट कर देती है। **'कुण्डलित पट्'** पर भारतीय ज्योतिष की अमर प्रतिमा सामुद्रिक देहली द्वार के **'चिन्मय'** प्रतिष्ठित है । **'कमलवृत्त'** के अंकन में ग्रहों का श्रीवैभव जीवन में घटित चक्र का स्रोत हैं । शुभग्रह एवं पापग्रह के स्वभावानुसार **'सप्तरंगों'** में मँजा हुआ **'उरेहित सूत्र'** भविष्य रत्नाकर की प्रेविशिका है। सौम्य एवं कुपित दृष्टि के कलामय सूत्र (प्रतीकात्मक रंग-विधान) दैवज्ञ के अनुभव की साक्षी हैं। जन्मांग के विशाल चित्रपट् पर ब्रह्माण्ड के सर्वांगीण जीवन का प्रतिविम्ब पड़ा है । जिस पर हमारी कला चित्रावली जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है। बाणभट्ट के शब्दों में **'त्रिलोकी सम्पुञ्जन'**[12] और **'दर्शितविश्वरुपा'**[13] कहा गया यथार्थ है। ''तपोबल और समाधिस्थ की स्थिति मनुष्य की सिद्धि में देवत्व की शक्ति गायत्री के पुरश्चरण में हैं । 'पंचमहापुरुष योग', 'गजकेशरी', 'मणिकांचन', 'कुलदीपक' एवं 'प्रवज्या' का योग जीवन को समझने का **'कुंजिका स्त्रोत'** है।

भाग्य देवी और भाग्य देवता की कमनीय काया के बिना जीवन ही नहीं, कर्मगत् समस्त विधान अपूर्ण रहते हैं । 'भाग्य का लावण्य भाव (चमकीला रुप) 'पुरुषार्थ' का 'लालित्य' है।' 'जो 'रस' बनकर चित्रकला में ओत-प्रोत हुआ है। वह अपने अस्तित्व से 'ज्ञान दर्शन' का 'अनुगामी' बनता है।' जन मन के महान् नायक कला के प्रधान अंग होते हैं । ज्ञान अथवा कर्म के क्षेत्र में **'चक्रवर्ती'** का योग जीवन का विशिष्ट पक्ष है। 'कुण्डलित् पट' के पट्टिका में सौन्दर्य विधान के **'श्री'** का अलंकरणात्मक प्रयोग कमल, हंस, हाथी, देवों के 'मूर्त रुप' बनकर 'कला के शरीर' हैं । विभिन्न अभिप्राय-अलंकरण उस शरीर के बाह्य मण्डन हैं। ''पत्र-पुष्प-लता वल्लरी के सम्भारों से वृक्ष वनस्पतियों का सँवारा हुआ रुप ज्योतिष की ज्योति में कला की दीप्ति है।'' कमल, कुंजर, देवी, पद्मा श्री, दिशापति दिग्गज, आवर्जित घट **'मंगल कलश'** से **अभिषेकित रुप,** सर्वभूत धात्री पृथ्वी की मंगलविधायिनी उर्वरा है। नभ मंडल के राशि समूहों में 'जगती तल पर जीवन का अविच्छिन्न प्रवाह 'प्रजापति' का चलाया हुआ 'चक्र' है । आकाशीय मेघों से 'वृष्टि-विज्ञान' प्रकृति का विराट 'यज्ञ चक्र' है । आयुष्यमान जीवन के विकासमान रुप में कमल पुष्प, तोरण और पत्रों से लहलहाता हुआ'' पूर्ण घट, जीवन के जल को धारण करने वाला मानवीय देह का प्रतिरुपक है। प्राणों के स्पन्दन में जीवन रुपी जल ही इस घट की शोभा है। वस्तुतः ''वाणीरुपी प्राण की एक संज्ञा अर्क है''। क्योंकि यही अर्चना मंगलात्मक अभिप्राय को जन्म देती है। वस्तुतः इस विश्व में शरीर रुपी घट से मंगल कुछ भी नहीं है। जीवन के स्वस्ति भाव का प्रतीक चिन्ह स्वस्तिक है। चतुर्दिक 'अक्षबिन्दु' पर जो बल आश्रित है वह सृष्टि प्रक्रिया में व्याप्त है। स्वस्तिक के धारणा बिन्दु में गणों के अधिपति गणपति, दशों-दिशाओं के दिग्गज जगत् का परिभ्रमण करते हैं । ऋग्वेदीय 'ब्रह्म विज्ञान चिन्ह रुप हैं'। इसके पूर्ण वृत्त में विष्णु का सुदर्शन चक्र है। भारतीय चित्रकला में जीवन के अर्थों को अभिव्यक्त करने का ज्योतिषीय विधान एक बार जन्म लेकर देश,काल में फलते फूलते रहते हैं। भारतीय आकाश के नीचे बसने वाले मनुष्यों ने तरंगति हृदय से जिन द्विव्यता की शोभा बढ़ाई वह प्रकृति की सुषमा के निमित्त जीवन का सन्देश बन गयी । अभिव्यक्ति के साधन रुप में चित्रकला जहाँ कहीं भी रुपगत् वैशिष्ट्य से चित्रकला जहाँ कहीं भी रुपगत् वैशिष्ट्य से बँधकर विशिष्ट बनती है, वे सारे क्षेत्र शैलियों के केन्द्र बनते हैं और ज्योतिष तत्व के निमेष में चित्र तत्व की संरचनात्मक व्याख्या 'सन्दर्भों की सिद्धि' है। जितना अन्य विषय, जीवन प्रसंग को सींचने वाले रस के रुप में, चित्रकला, ज्योतिष, पूर्वकाल में जीवित थी, और भविष्य में भी, यही प्राण-पद जीवन का ध्येय वाक्य होगा । 'पूर्णता' और 'पूर्णा' अविभाज्य है । मन का मूर्त रुप पूर्ण है, **'रजत स्वर्ण'** और **'अमृत'** तीन कलश में जीवन वृत्त सुरक्षित है। मन्त्रों के अभिषेक में जीवन की शतमुखी वाणी मंगलदायिनी है ।

चित्र संस्कृति के प्रशस्त भाल पर ज्योतिष की ज्योति आस्तिकता की बिन्दु है । ज्ञानमयी चन्दन का परिपूरित भाव मानव जीवन की शोभा है । **''रुपं नानार्थ संशयः'' ''चित्रार्थं रुपकं वचः''**

'रुपों की रुपसी सृष्टि न जाने कितने आकार ग्रहण करती है',* धारणा की मीमांसा में आयाचित प्रसाद लोकरागिनी की निःशब्द प्रस्तुति है । ज्योतिष के सुरभि चिन्तन में, चित्र संयोजन स्मृतियों के पर्त को उघार देते हैं । उच्छवसित एवं उत्कण्ठित ज्ञान की पंखुड़ी वर्ण उत्फुल्लता का उत्कलित मन है जिसके सत्कार में विषय विभोर हो जाता है। ग्रह रुपों में उसके किंजल्क की शोभा मन के प्रीति का अवकाश है जहाँ विवेकीय मन पर गहन् विस्मय का पुंजीभूत रुप उच्छल मादकता अवधूत की भाँति है । देव एवं ग्रह रुपों के मौलिक मुहर शास्त्री श्रनियमों की कृपा-कोर है। कल्पित एवं जीवन्त रुप, रस, गन्ध स्पर्श अनुभव जन्य प्रतीति है । चित्रमालाओं की विभिन्न शैलियाँ, 'तथागत', 'नारायण', 'कमल' को अंगीकार करके 'हंस-हाथी' से सम्पृक्त कर दिया। ''मनु ने युगों पूर्व आलेखित किया था- **''महती देवता ह्येषा नररुपेण तिष्ठति''**। यह नर रुप देवता बड़े ऊँचे सतह पर चलते हैं, जिसने भारत की सामाजिक संस्कृति को पा लिया है और उनकी उपलब्धि से **'मृगदाव'** मात्र संस्कृति निष्ठ हो चुका है। इन देवताओं को सहज 'शून्य' लाभ हो चुका है। इसी से ये **'शून्य'** के गुण शब्द मात्र से रीझते है और

* रामचन्द्र गुण चन्द्र /नाट्य दर्पण १/५३/७८.

रीझ कर इसी 'सबद' की अमृत वर्षा भी करते हैं । इनकी पूजा के उपकरण से भी वर्णाढय है,[14] इसी से इनको फूल भी वहीं चढ़ता है, जिसको मनुष्य ने अपने कर्तव्य की पुष्टि हेतु पुष्प नाम दे रखा है और इसी से प्रकृति के पुष्पों समान **'नाशधर्मिता'** से मुक्त है । ज्ञान के इस आलोक में स्मृति विसर्जन का निषेध है । क्योंकि इन थातियों में मानवीय क्रिया शक्ति का अर्चन कला समास का विग्रह है **'पुल्लार विन्दा यतपत्र नेत्र'**[15] ऋषि 'व्यास' के प्रतिपादित अर्थ वाद में 'जिज्ञासा' का समाधान है। सार्थक जन्म का पुण्य जाग्रत **'सुमंगल'** की चर्चा है, जिसकी शाश्वत प्रतिष्ठा 'जीवन विटप का पुष्प' है। जिसके सुरभि की ललक जीवन पथ का सुफल है । अनन्त शून्य के तिनके में पार्थिव रुप के चित्र मानस में उभर ही आते हैं । रंग रेखा की अक्षतमयी सिद्धि जीवन के उस दर्शन की साक्षी है, जो विचलता से अनभिज्ञ है। अन्तरतम् चेतना के संस्पर्श से तूलिकांजली रंगों की भावधारा सन्तुलित संयोजन में अर्पण और प्रत्यर्पण है ।

चित्र संस्कृति के मांगलिक उपादान मूर्त्त रुप में नयी साधना का अभिषेक मांगती है। 'रंगों का मूलार्थ चित्रार्थ का सन्दर्भ है।' राशियों की चक्र पुष्करणी पंक्ति बन्धन की वीथियाँ है । नलिन नयनों की निरखता में अखण्ड सृजनात्मकता धधक रही है, जिसके ताप में बुझी हुई ज्योति उकसा जाती है, 'एकाग्रता के संकुल में लाल, पीले, नीले' आदि रंगों का प्रयोग मस्तिष्क से वय लेकर शक्ति और उमंग के अनुरुप संज्ञा बल को उच्चरित करते हैं । सुकुमार भावनाओं में समस्त व्यापार मकरन्द की राशि बन जाती है। शरद का प्रसन्न आकाश ग्रीष्म का कुपित रवि धरती के धीरज की कहानी है। आकांक्षा की अछोर डोर वर्ण का सार्थक नियोजन है । लोक हृदय का नायक, नायिका संग आस्था के रंग को चटकीले रुप देते हैं । पहाड़ी चित्रकला रुप और सौन्दर्य को कमल गन्ध देते हैं । सत् चित् आनन्द का मंगलमय परिधान **'कला आसनों'** की महिमा है । ज्योतिष की ज्योति में चित्र व्याकरण की **'कपिलावाणी'** समस्त गुणों का प्रतिमान है। मन मन्थन के अमृतमयी नवनीत जीवन में उस अभिव्यंजन को भरने की ललक देता है, जिसमें अर्थ रस टपकता है । भाग्य भाल पर चर्चित सुअवसर मन के यत्न से सुरक्षित है। संघृष्ट सत्य की पावन स्मृति में अर्पित भाव की शिक्षा सामान्य रुप से अन्तस् का चिदंश है । निराकार का साकार रुप जीवन के धरातल पर कितने रंग छिड़कते हैं पार्थिव देह के चित्र पर गुण चैतन्य विश्वात्मा की सुषुप्त शक्ति को स्फुरित कर देती है। सृष्टि का मूर्धन्य 'सूर्य' और 'चन्द्र' है । जिसके प्रकाश में संसार का मर्म, जीवन मरण का रहस्य लोक, कर्मगत् स्वरुप की वन्दनीयता नियतभावी उत्कर्ष है । लघुतर और छुद्रतर अंश वृहत्तर और महत्तर अंश के प्रति प्रणत एकीकृत सत्ता हैं। जल,थल,नभ (वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि आदि अवयव) पर रश्मि समूहों के सम्पर्क विचार भाव, क्रिया रुप को आवाहित करते हैं । वस्तुतः नर का अर्थ ही अपने में सिमटा हुआ है, जिसमें लिपटना प्रत्येक मनुष्य की सापेक्षता है । गोबर के गौरी गणेश, गीली मिट्टी की पार्थिव आकृति शिव, 'शिल्प की सुन्दरता' रचित चतुर्दिक ग्यारह रुद्रों की पंक्ति का संयोजन महादेवता का मण्डल है जिसमें **'नव रुपों'** का संयोजन **'बारह खड़ी'** के खाने में विश्व राज्य के मन्त्री बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव जो प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, वे इस जगत् का सब व्यवहार करते हैं । शनि, मंगल, राहू, केतू, बुध, शुक्र जो साथ में कार्यरत हैं वह यम के अनुबन्ध में कर्म बन्ध का विज्ञापन करते हैं, **'यमपट्ट'** के अंकन में जगत् का चित्रपट् विवेक का धर्म पट है- धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य रुप **'सात धर्मों'** का अन्तर्भाव देते है। इन्ही सात रुपों से प्रकृति पुरुष को बन्धन में डालती है –

'रुपैः सप्तभिरवे तु बध्ना त्यात्मान मात्मना प्रकृतिः'[16]

शब्दादि विषयोपलब्धि प्रतीति रुप का ज्ञान प्रत्यक्ष-परोक्ष, अनुमान का आगम रुप है । जबकि गुणोपलब्धि पुरुष रुप ज्ञान चक्षु का भेद है । तत्वज्ञान के अभ्युदय में चित्रविज्ञान ऋषिप्रणीत वाणी का सम्यक अभिकल्पन है ।

समय सिद्धान्त का प्रभाव सौन्दर्य तत्व के प्रस्तुति की कसौटी है । सांगितिक सुषमा में नियत की नियति है- 'नारद ने रागों के गायन समय का जो चित्र खींचा है वह **'सूर्यांश राग'** (प्रातःकालीन राग), मध्यान्ह कालीन राग, **'चन्द्रांश राग'** (रात्रि राग) का भी वर्णन किया है।'[17] समय सिद्धान्त की कल्पना प्रस्तुति और श्रुति प्रयोक्ता के प्रयोजन की आनन्दात्मिका है। उदात्त रुपों का सार उस आकार की ग्रहणशीलता है, जिसका ध्येय विश्वविहित गुण का विनियोजन है। हमारे अन्तर्मन की रागिनी सात सुरों की स्वामिनी है जो सात रंगों की इन्द्रधनुषीय शोभा है। वक्रपथ, एवं मार्गी प्रदक्षिणा में ग्रह चन्द्रिका मंगलास्पद रुप का नवोत्कर्ष है। 'यथालोमश संहिता' में वेद, उपनिषद एवं समस्त दर्शनकारों के मत चिन्तन का प्रतिफलन, जगत मण्डल के प्रार्दुभाव पार- अपार के सार में आदि ग्रहों की सृष्टि के पश्चात् ही पृथ्वी की सृष्टि हुई, तथा गुण सदृश रुपों में सूर्य से राम, चन्द्रमा से कृष्ण, मंगल से नृसिंह, बुध से बौद्ध, वृहस्पति से वामन, शुक्र से परशुराम, शनि से कूर्म, राहू से वराह, और केतू से मत्स्य अवतार हुए। अन्य अवतार भी ग्रहों की प्रादुर्भूत रचना हैं। इसलिए परमेश्वर का अवतारवाद ग्रहों की महत्ता पूर्व प्रतिष्ठा है। समस्त चराचर जगत् रुप ग्रहाधीन है, 'शुभ','पाप','लाभ','हानि', क्षीण, पूर्ण आदि रुप 'तेजोमय' गति का प्रपंच है ।*

ज्योतिस्वरुप ब्रह्म का सानिध्य जीवन निर्माण का प्रकाश रुप है । जीवन स्यन्दन के गतिमान चक्र में ज्ञानरुपी देह का नेत्र

* कालपंचाग विवेक, ग्रहों की महत्ता, पृ0 १२१/१२२

आत्मकल्याणक है पूर्ण अपूर्ण का व्यवहार सम्पूर्ण लोक का प्रसाद है । आचार्य गर्ग ने कहा है –

''ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्त शुभाशुभम् ।
ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद सयाति परमां गतिम ॥''[18]

काल पुरुष का यह लोक काल से ही अनुशासित है । **'ज्योतिष चक्र'** की सारी व्यवस्था 'काल किलष्ट का नियंत्रण है।' फलतः वह काल-चक्र, 'मुहूर्त' वह 'निमेष' का प्रवेश जीव लोक में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, जिससे यावज्जीवन भ्रमण उस जीव कक्षा का निर्धारण है। इस अनिर्वचनीय महाव्यक्तित्व का स्वरुप आकाशीय परिवृत्त का वह भाग है जहाँ **'नक्षत्र पुंजिका'** मेष राशि है यह कालपुरुष का मस्तक है, जिसका रंग लाल है। जहाँ वृष राशि है, वह मुख मण्डल, और रंग श्वेत है, जहाँ मिथुन राशि है वह वक्ष स्थल, स्यामरंगी, जहॉ कर्क राशि है वह हृदय स्थल रंग लाल है, जहॉ सिंह राशि है वह पेट (उदर) भाग, रंग धूम्र है, जहाँ कन्या राशि है वह कन्या का चित्र कटि प्रदेश है, जहाँ तुला राशि है वह नाभि कुण्ड के नीचे का प्रदेश, रंग कृष्ण है, जहाँ वृश्चिक राशि है वह उसका लिंग, रंग धूमिल, जहाँ धनु राशि है वह उसके उरु, रंग पीत है, जहाँ मकर राशि है वह जघनस्थल, रंग चितकबरा, जहाँ कुम्भ राशि है वह ठेहुनियाँ, रंग विडाल जैसा जहाँ मीन राशि है वह उसके चरण रंग श्वेत है। ऐसे अंगविन्यास में काल पुरुष का अक्ष बिन्दु आत्म कारक सूर्य एवं चन्द्रमा मन है, मंगल सामर्थ्य और शक्ति है, बुध उसकी वाणी है, वृहस्पति उसका ज्ञान है, शुक्र उसकी कामेच्छा है, शनि उसकी वेदना है। इसके साम्राज्य नरेश सूर्य और चन्द्र है बुध राजकुँवर है, मंगल सैन्यपति है, बृहस्पति और शुक्र मन्त्री है, शनि भृत्य है, काल पर तेजोमय आश्रित है । तेज पर समुद्र आश्रित है। समुद्र पर जल आश्रित है, जल पर पृथ्वी आश्रित है । पृथ्वी पर अग्नि आश्रित है। अग्नि पर अन्तरिक्ष आश्रित है । अन्तरिक्ष पर वायु आश्रित है। वायु पर द्यौलोक आश्रित है । द्यौ लोक पर सूर्य आश्रित है । सूर्य पर चन्द्रादि ग्रह मण्डल आश्रित है । चन्द्रमा पर नक्षत्र मण्डल आश्रित है । नक्षत्रों पर सम्वत्सर आश्रित हैं । संम्वत्सर पर ऋतुएँ आश्रित है। ऋतुओं पर मास आश्रित हैं । मास पर पक्ष आश्रित हैं । पक्षों पर दिन-रात आश्रित है। दिन और रात पर 'भूत' और 'भव्य' आश्रित है।* 'सौर चित्र से ग्रहों का परिदृश्य चक्रमण का रुप है', निकटता का वेग दूरंगम की मन्दता ताप का मान है जो अनुमान से परे है । परस्पर शत्रु, मित्र, चर, स्थिर, द्विस्वभाव आदि के बलाबल दिन और रात्रि के क्रमशः खेल हैं । दिशाओं के स्वामित्व में इनका प्रताप बोलते हैं । राशि तत्वों की विलक्षणता नवग्रहता की रंगभाषिता है- **''अरुणौ सूर्य भौमो च श्वेतौ शुक्र- निशाकरौ हरित वर्णे बुधश्चैव, पीत वर्णो गुरुस्तथा, कृष्ण वर्णाः शनि राहू केतवश्च तथैव वच।''** गुरु मण्डमार्चन पद्धति, पृ0 113, ग्रहालंकार में ''सुन्दर आभूषण सिंह मुख के सदृश हैं' जिसमें मोतियों के झुग्गे लटकते हुए दिखाये जाते थे जिन्हें **'सिंह भण्डक'** कहा जाता है।

गरुड़ की आकृति वाला आभूषण 'मगरक' कहलाता था । इसी भाँति बैल की आकृति 'वृषभक', हाथी की आकृति 'हत्थिक' और चक्रवाक मिथुन की आकृतिवाला 'चक्रमिथुन' कहलाता है। इस प्रकार के वस्त्राभूषण के स्पर्श अवलोकन से विभिन्न प्रकार के फलादेश वर्णित हैं। रचयिता के चित्र भित्ति पर जो चित्र उभरते हैा वह 'अश्वमुख=अश्विनी है, योनिमुख=भरणी, क्षुर=कृतिका, शंकट=रोहिणी, मृगमुख=मृगशिरा, आर्द्रा=मणि, पुनर्वसु=गृह, पुष्य=बाण, श्लेषा=चक्र, मघा=भवन, पूर्वाफाल्गुनी=मञ्च, उत्तराफाल्गुनी=शय्या, हस्त=हाथ, चित्रा=मुक्ता, स्वाती=मूँगा, विशाखा=तोरण (वन्दनवार), अनुराधा=भात का समूह, जेष्ठा-कुण्डल, मूल-सिंह की पूंछ, पूर्वाषाढ़ा-हाथी का दाँत, उत्तराषाढ़ा मंच, श्रवण-त्रिकोण, घनिष्ठा तीन चरण, शततारा-मृदंग, पूर्व भाद्रपद वृत्त, उत्तरा भाद्रपद मंच, रेवती-यमल (जुड़वा), मृदंग,[19] आदि रुप अभिजित है।* 27 नक्षत्र में 28वाँ अभिजित है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत 164वें सूक्त में 'सूर्य' और 'लोक' का वर्णन स्पष्ट है उस समय उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक की कल्पना ने ज्योतिष को यथार्थ बना दिया। यजुर्वेद में 27वें नक्षत्र को 'गन्धर्व' कहा गया है, जिसकीप ध्वनि में सम्पात बिन्दु उदयकालीन कृतिका का प्रथम चरण है ।

हमारी परित्रतम कल्पनाओं ने जो उद्गम पाया वह जीवन की निरन्तरता को 'पयस्वनी' का रुप देता है, ज्योतिष और चित्र तत्व साकांक्ष सन्देश कर्म प्रवाह का रस सिंचन है । अभिशप्त, तृषित और तप्त भाव रुप की धारा में प्राणों का महाप्राण रंग वैविध्य का वह प्रतीक है, जिसके संयोजन में मानवीय आकृतियों का आलम्बन 'देव' और 'ग्रह रुपों' की सत्यानुसंधित्सा है। यज्ञ, तप, त्याग, दान, उपासना, भक्ति सेवा, व्रत योग क्षेम इन सब का मंगल आधार भारतीय चित्रकला का आधान है। प्रत्येक शुचिता, प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक गति, प्रत्येक शक्ति, मंगलार्चन प्रत्येक रचना की प्रत्येक अभिवृद्धि अभिव्यक्त की पर्याय हुई । विजयिनी रुपात्मक कहानी चित्रकला की वाणी में से स्कृति की विधायिनी शक्ति है। सद्वृत्ति और असदवृत्ति, हृदय परिवर्तन की गूंज है । 'ज्योतिष की मेखला में ज्ञान गुंजाए ग्रन्थित है।' कला के नतोन्नत मण्डित स्वरुप में शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष, पूर्ण चन्द्र का निकेतन 'शुक्लाभिसारिक' 'कृष्णाभिसारिका' का अभिसार योग का प्रयोग है। मनोभावों के बिम्ब में जो प्रतिविम्ब उभरते हैा वह कला काया की महामाया है। कला आनन्देत्तर अभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है। रेखाओं के बन्ध में **'रंगधारिता'** परिष्कृत वृत्ति की आकृतियाँ हैं ।

* छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति'' (१/३/१/कठो०)

* कालपंचाग विवेक, ग्रहों की महत्ता, पृ० १२१/२२.

प्रकृति में प्रकृति के साथ कार्य कारण की प्रपंच श्रृंखला छाया तप का आतप है।* जीवन के चित्र में चित्रवत प्रसंग 'अगोचर' का 'गोचर रुप' है। ग्रहणशील उत्कण्ठा अर्न्तशक्तियों की खोज का उद्देश्य रुप है । ज्योतिष की ज्योति से रंग चित्र का विजन सौन्दर्य गतिशील निखरता है हमारी मौनता पर विनीत स्फोत हो जाता है ।

आधुनिकता के रंग मंच पर चित्र/चिन्तन कला की परम्परा का अवगाहन है। नवीनता के स्रष्टा की शुरुआत प्राचीन विश्लेषण का पुण्य है साहित्य कला की कृतियाँ 'तन्मय विवेक' का रुप हैं। साधना की मालिका में संयोजन के पुष्प ज्ञान का वैभव है जहाँ पर मस्तिष्क एवं हस्त कौशल, 'कला' की 'महाफला' है ।

ज्योतिषीय रुपों के सृजन में चित्रकला जिन रुपों का निर्माण करती है, वे रुप बिना दैवीय भावना के भोग्या नहीं बने, जीवन रुपी समुदाय में, नटराज, शास्ता, महाकाल, जगन्नाथ आदि के चित्र 'ब्रह्माण्ड' के 'सुन्दर रुप' है, सुन्दरता 'कला की लक्षणा' है और कला दैवीय है। उस सौन्दर्य को मूर्त रुपों में साक्षात दिखाना और देखना रचनात्मक प्रवृत्ति का गुणात्मक रुप है। स्वाभाविक प्रवृत्ति की आवश्यकता में कलात्मक रुपों की संस्कृति चित्रात्मकता का क्षेत्र है। इस क्षेत्र को वर्ण विधान से भरना भावों का विलास रुप नहीं, अपितु वर्तमान एवं भावी जीवन की अपरिहार्यता है। हम बिना स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल रुप को समझे बिना सुरुपता और कुरुपता के भेद को नहीं समझ सकते । रचयिता के चित्त में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसे रुप देना उत्तम कला यत्न है। कुरुपता जीवनोंपयोगी रुप को ग्रहण लगा देती है। हमारे अलंकरण वेषभूषा,शयनाति गृह, वाहन के परिवहन में अक्षर, लिपि ग्रन्थ आदि सौन्दर्य की रसावली रुपो का प्रतिरुपण है। गतिमान रुप को गतिशील चित्र में निरुपण भाव संस्थान आदि सत्ता का स्थिर प्रज्ञ अवलम्ब है। **'ज्योति पश्चयन्ति रुपाणि रुपंच बहुधा स्मृतम'**।[20] 18 रुप के 16 प्रकार, सुरुप, कुरुप, विरुप, चक्षुरुप, मानस रुप आदि रुपों का अनन्त विस्तार है- **'विश्वरुपं रुपवतं' वा पुमानित्येव भुंजते'**[21] 'रुपं रुपं प्रतिरुपो बभूवः'* कालिदास ने जगत् के मायारुप रुपों का प्रतिष्ठित परिवार कहा है यहीं नहीं **'न रुपं पाप वृत्तये'** अर्थात् रुप की आवश्यकता तो है लेकिन पाप की भावना से मुक्त अर्थात् निष्पाप रुप ही जीवन की ज्योति है ज्योतिष इसी ज्योति का प्रतिफलन है। चन्द्रमा का दाग कुरुपता का वह रुप है जो सुन्दरता कला का ग्रहण है, पर इस 'ग्रहण' का 'पाठ' पढ़ता कौन है। गुप्त, शुंग, कुषाण मुगल तक की चित्र संस्कृति सौन्दर्य विधान की संचयिका है। जीवन में कला और ज्योतिष के बिना जो रिक्तता होगी उसका भरना, क्या अन्य विधि सम्भव है। विलास पतन का कारक है, कला का दर्शन उत्थान का मूल है, इसी मूल में ज्योतिष विषयक दृष्टिकोण आकाशीय प्रयोजन की यश कीर्ति है । **''कलानां ग्रहणा देव सौभाग्य मुप जायते''** (1/3/22 उ0नी0म0) नभ वैविध्य के रुपकारों में सूर्य से ऊपर चन्द्रमा, चन्द्रमा से ऊपर तारे के गमन में परिगमन ग्रह कक्ष की युति की प्रतीति अमृतमय भाव को सामूहिक लक्षणों के सुषमा से ग्रहण किया गया। **'चित्रलेखन' एवं 'चित्रदर्शन' 'संस्कृति'** के **'अंगरुप'** है। विश्वात्मा की अपरिमित रुपराशि **'चित्रपट् की आत्मा'** का प्रतिविम्ब है। आन्तरिक भाव के राग में, रंगों की रागिनी व्यष्टि-समष्टि की सन्धि है। रहस्य के आग्रह में ज्योतिष रश्मियों का सूचक है, जो चित्रसंयोजन का नियामक है, चन्द्रकान्त मणि दाहक शक्ति को क्षीण कर देती है। योग की आकृति जैसे गजकेशरी हाथी के ऊपर कपि का नियन्त्रण **'बुद्धि-विवेक'** का अन्तर है। हाथी बुद्धि का प्रतीक है बन्दर विवेक का प्रतिनिधि है। पशु, पक्षी, जीव, जन्तु को प्रतीक बनाकर जो सन्देश साहित्य के तत्व हैं, वहीं संदेश कला में मूर्त रुप लेकर आचार-विचार और व्यवहार के धरातल पर मधुमय उत्स देते हैं। **''नारी कुंजर'' 'हयवदन'** राजस, तामस और सत्व के योग प्रतीक सर्वातिशायी जीवन और कला के केन्द्र है- यक्ष किन्नर, नाग, सुपर्ण, सिद्ध गन्धर्व विद्याधर अप्सरा आदि का **'चक्रवर्ती रुप आकांक्षा के दीप हैं।'** साधु, सन्त, ऋषि मुनि सन्तोष रुप के प्रतीक हैं। 'कर्म दण्ड' प्रयोक्ता यम, नियमों के प्रचेता शनि, **'स्वर्ग-नर्क के भौगोलिक स्वरुप'** के अंकन है। भारतीय चित्रकला में नर्क भय की यन्त्रणा **'भैरवी दण्डसाधिका'** का चित्रण सत्कर्म की प्रवृत्ति को ध्वनि देते हैं, ज्योतिष के विचार केन्द्र में **'चित्रपट्'*** पूर्व जन्म के संस्कारों का दृश्य पटल है। अजन्ता का **'भव चक्र संसार का समय चक्र है'**, जिसमें रंग का प्रकर्यात्मक उल्लेख भावी भवेता की संसूचिका है। पृथ्वी और आकाश के मध्य जितने विषय हैं,वह सब चित्रकला के विषय हैं। सृष्टि विधान के बाधक तत्वों के प्रसादन में कल्पित रुप की सर्जना भयमूल परिवेश का अंकन, मानवीय जीवन ही नहीं अपितु चर-अचर का उद्भासित सत्य का लक्षण है। काल विवेक **'गायत्री का रंग चम्पा की तरह पीला है'** त्रिकाल का तीन रुप उज्वल पीत और नील है। तन्त्र में रंग विवेचन प्रतीक का प्रतिनिधि है, तिथियों का भी रंग जैसे आमावस्या काला, श्याम, धूमिल, पूर्णिमा, दूधिया सफेद, वैसे ही क्षण के भी रंग 'उषा', 'निशा', दिन आदि की अवतारणा चित्रकला की 'सन्धारणा' है।

सन्दर्भ

1. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल– कला और संस्कृति साहित्य भवन प्रा0 लि0/इलाहाबाद/पृ0 143/1952.
2. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल– कला और संस्कृति साहित्य भवन प्रा0 लि0/इलाहाबाद/पृ0 129/1952.

* तैत्तरीय ब्राह्मण – ३- ११-१.

* ज्योतिष रत्नमाला/कालपंचाग विवेक / पृ0 ६१.

* शिवराममूर्ति- संस्कृत लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृ0- ९६.

3. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल – कला और संस्कृति साहित्य भवन प्रा0 लि0/इलाहाबाद/पृ0 9/1952.
4. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल – कला और संस्कृति साहित्य भवन प्रा0 लि0/इलाहाबाद/पृ0 28/1952.
5. श्री सीताराम झा, ज्यौ0 आ0 – श्री ज्यौतिष रत्नमाला प्रथम रत्न – कालपञ्चांगविवेक/मास्टर संस्कृत प्रकाशन भवन वाराणसी-1/माघ शु0 15, संवत् 2024.
6. प्रो0 दिलीप सिंह – भाषा का संसार / वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली / पृ0 58 / प्रथम संस्करण 2008.
7. श्री तारिणीश झॉ – विष्णु धर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्रम' में 35/43 अ0 चित्रकला का संविधान है। सम्मेलन पत्रिका, कला अंक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग/1971.
8. देवदत शास्त्री- ''व्याख्या'' 18 'वास्त्यायन कृत'- कामसूत्र में चित्रकला के छः अंग – ''रुपभेदाः प्रेमाणानि भाव लावण्य योजनम् । सादृश्यं वर्णिका भंगं इति चित्रस्य षडंगकम्।।'' काशी संस्कृत ग्रन्थ माला, 29 चौ0सं0सं0 वाराणसी, विवेचन पं0 यशोधर विरचित जयमंगला टीका। सन् 1945.
9. वाचस्पति गैरोला - भारतीय चित्रकला/ (साहित्य में चित्रकला) चौखम्बा संस्कृत प्र0/नयी दिल्ली/ पृ0-16/1990.
10. किशोरी लाल वैद्य - पहाड़ी चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली/ पृ0 48/ 49/ 50/ 51/ 52/ 53/ 54/ सन् 1969.
11. अजन्ता की चित्रकला नवरसों का प्रतिनिधित्व करती है – 'पद्मपाणि बोधि सत्व' (गुप्तकाल तीसरी शती) इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है ।
12. बाण्भट्ट कृत- कादम्बरी में हमारी कला जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करती है – कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विद्याभवन, राष्ट्रभाषा ग्रन्थ माला- 14 – वाराणसी. पृ0 160/1982. 'दर्शित विश्वरुपेव चित्रभित्तिभिः ' (उज्जयिनी वर्णन में) ।
13. सुरासुरगन्धर्व विद्याधराध्यासिताभिः चित्रशालाभिः । (कादम्बरी पृष्ठ 160/1982) सम्पूर्ण लोक की कुंजी चित्रकला की पूंजी है ।
14. डॉ0 विद्यानिवास मिश्र – तुम चन्दन हम पानी । नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली- पृ015/16/प्रथम संस्करण 2000.
15. डॉ0 विद्यानिवास मिश्र – तुम चन्दन हम पानी । नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली- पृ0116/प्रथम संस्करण 2000.
16. सांख्यकारिका, 23.
17. नारदकृत संगीत मकरन्द / रुचि मिश्रा एवं प्रो0 ऋत्विक सान्याल – सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में रागों का समय सिद्धान्त/ 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका अंक : 59, भाग : 1, वर्ष 2013-14/पृ0 46.
18. डॉ0 नेमिचन्द्र शास्त्री- भारतीय ज्योतिष लोकोदयग्रन्थमालाः, ग्रथांक 18 प्र0 भारतीय ज्ञानपीठ/नयी दिल्ली। पृ0,51 वर्ष 1983.
19. श्री सीताराम झा, ज्यौ0आ0/ज्यौतिष रत्नमाला/प्रथमरत्न- कालपंचांग विवेक/मास्टर संस्कृत प्र0 वाराणसी/पृ0 61/माघ शुक्ल 15, सम्वत् 2024.
20. महाभारत (व्यासकृत) (शा0प0मो0घ0) अध्याय 18.
21. ऋग्वेद 1/ 110.

अन्य सन्दर्भित पुस्तकों में

वराह, मिहिरात्मज पृथुयशो विरचित 'पट्पंचाशिका' व्याख्याकार डॉ0 सुरेश चन्द्र मिश्र/रंजन पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली। संस्करण 2001.

दिवाकर शास्त्री- 'जन्मकुण्डली हो – न हो'

भविष्यवाणी प्रकाशन / वाराणसी 1971

डॉ0 भानु अग्रवाल – भारतीय चित्रकला के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य के उल्लेखों पर आधारित अलगारिद्म प्रकाशन/1991 वाराणसी।

भारत की चित्रकला – (रॉयकृष्ण दास) भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद/ छठां संस्करण 1974 ई0

●

काशी की चित्रकला के विविध आयाम

ज्योति भाष्कर एवं प्रो0 मृदुला सिन्हा***

काशी विश्व के प्राचीनतम् नगरों में एक है। काशी का वर्णन साहित्य, पुराण तथा धर्म ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। मत्स्य पुराण में शिव काशी का वर्णन करते हुए कहते हैं-

वाराणास्यां नदी पुण्या सिद्धगंर्धवसेविता।
प्रविष्टा त्रिपथा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे मम् प्रिये॥

पद्मपुराणान्तर्गत् काशी महात्म्य में भी ''**वाराणसीति विख्यातां तन्मानं निगदामि वः, दक्षिणोत्तरयोर्नधोर्वरणासिश्च पूर्वतः। जाह्नवी पश्चिमेऽत्रापि पाशपाणिर्गणेश्वरः॥**'' अर्थात् दक्षिण-उत्तर में वरूणा और अस्सी नदी है, पूर्व में जाह्नवी (गंगा) और पश्चिम् में पाशपाणिगणेश है।[1]

अध्ययन करने से पता चलता है कि वास्तव में इस नगर का नामकरण वरणासि पर बसने के कारण हुआ था। वाराणसी काशी की राजधानी थी। इसका विशेष महत्त्व केवल उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों से नहीं है, वरन् उसके व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण भी था। काशी में गंगा नदी दक्षिण से उत्तर दिशा में बहती है। बनारस शहर गंगा के बाँये किनारे पर अवस्थित है (अक्षांश $25^0180'$ उत्तर और $83^010'$ देशान्तर पूर्व)। इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक 80 मील और उत्तर से दक्षिण तक चौड़ाई 34 मील है।[2]

काशी की संस्कृति और सभ्यता इतनी प्राचीन और सम्पन्न है उसी आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि काशी की कला भी सुदृढ़ और ख्यातिलब्ध रही होगी। काशी की चित्रकला का बारीकी से अध्ययन करने पर इसको चार भागों में बाँटा जा सकता है-

1. मुगल चित्रकला
2. कम्पनी चित्रकला
3. शास्त्रीय चित्रकला
4. लोक चित्रकला

मुगल चित्रकला

18वीं शताब्दी में मुगल शैली के चित्रकार वाराणसी में आये थे, जिसका प्रमाण मिलता है, जिसमें उस्ताद लालजी मल सिक्खी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। मुगल कलाकारों में उस्ताद मूलचंद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्हीं के वंश परमपरा में शारदा प्रसाद हैं जिन्होंने उस्ताद मूला की परम्परा को जीवित रखा है। दिल्ली के बादशाह शहाआलम के द्वितीय पुत्र जवां बक्श भी 18वीं शताब्दी के अंत के खेवे में काशी आये। उनके साथ मुगल शैली के चित्रकार लालजी मुसब्बीर भी थे, जो पूर्ववर्ती मुगल शैली के चित्रकार थे।[3] इनके आगमन से ही काशी में अन्तिम मुगल शैली स्थापित हुई। लालजी से यहाँ के ग्वाल, सिक्खी ने यह विद्या प्राप्त की थी। उसी वंश में उस्ताद राम प्रसाद हुए। यह शैली 17वीं शती के मुगल शैली के बराबर तो नहीं, परन्तु भारतीय प्रभाव में आकर अधिक मर्मस्पर्शी हो गयी थी।[4] इस शैली में एक ओर तो मुगल शैली का कठोर नियंत्रण है तो दूसरी ओर बनारस की परम्परागत मस्ती है।

19वीं शती के अंत होते होते उस्ताद मूला के घराने पर कम्पनी चित्रशैली का प्रभाव पड़ा। उस्ताद मूला तीन शैलियों में चित्रण करते थे।

परम्परागत मुगल शैली के चित्र जिसमें मुख्यतः वे देवी-देवताओं के चित्र बनाते थे। यह वस्तुतः यूरोपिय चित्रों की परम्परा है। मुगल चित्रों पर यूरोपीय चित्रों का प्रभाव अकबर के काल से है परन्तु उत्तर मुगल काल से जब कम्पनी शैली का प्रचार हुआ तो यूरोपिय हाथी दाँत वाले चित्रों की प्रतिलिपी बनने लगी।

उस्ताद मूलचंद द्वारा अंकित एक व्यक्ति चित्र का उदाहरण प्राप्त हुआ था, इसमें प्राचीन परम्परा की एक झलक मिलती है। यह चित्र कुबेरनाथ सुकुल के दान स्वरूप रायकृष्ण दास जी को दिया था।

कम्पनी चित्रकला

18-19वीं शती में मुगल साम्राज्य जब अपने पतन की ओर अग्रसर हो रहा था एवं विदेशी कम्पनियों (अंग्रेज, पूर्तगाली, फ्रांसीसी एवं डच) अपने पैर फैला रही थीं तथा उनका राजनैतिक विस्तार हो रहा था। उस समय भारतीय चित्रकला ने एक नया मोड़ लिया जो अपनी वर्षों पुरानी चित्रकला को झटका देते हुए एक नये शैली के रूप में उद्भूत हुई। 18वीं से 19वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों तक यह शैली भारत के विभिन्न भागों मुर्सिदाबाद, पटना, वाराणसी, अवध, लखनऊ, लाहौर और त्रिचनापल्ली में विकसित होती रही। मिल्डर्ड आर्चर ने कहा कि अंग्रेजों के आने से पूर्व बनारस में कोई चित्रकला शैली नहीं थी और ना ही कोई चित्रकला की स्वतंत्र विधा थी। जब अंग्रेजों ने बनारस में रहना शुरु किया तभी उन्हीं के द्वारा लायी गयी विधा से चित्रकला स्कूल की स्थापना

* शोध छात्र, चित्रकला विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हुई।[5] लेकिन मैं उनकी इस बात से सहमत नहीं हूँ क्योंकि जब इसकी संस्कृति और सभ्यता इतनी प्राचीन थी तो इसकी कला भी प्राचीन रही होगी। आर्चर ने अपनी पुस्तक में पुनः कहा कि बनारस के कलाकार बाजारू या नक्काश मात्र थे।[6] मुझे नहीं लगता कि जब बनारस के कलाकार मुगल शैली में उत्कृष्ट चित्र सृजन कर रहे थे तो अंग्रेजों के समय कैसे निम्न स्तरीय हो गया।

पटना का चित्रकार सेवकराम (1770-1830) वाराणसी से ही जाकर वहाँ बसा था। यह तथ्य भी इस बात की पुष्टि करता है कि पटना से पहले बनारस में कम्पनी शैली उद्भूत हो चुकी थी।[7] काशी की कम्पनी चित्रकला काशी नरेशों के संरक्षण में अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ फल-फूल रही थी, लेकिन इसका कोई भी ठोस प्रमाण प्रारम्भिक समय का नहीं मिलता है। उदित नारायण के काल से कुछ तिथियुक्त प्रमाण मिलते हैं। चेतसिंह के प्रति (फसली संवत् 1815-1809) तथा रामचरित मानस की प्रति (संवत् 1889-1832 ई0) की है। 1815-1830 तक के फिरके जो विभिन्न संग्रहालयों में है वह इस बात का प्रमाण है कि उदित नारायण सिंह के काल में बनारस कम्पनी शैली का लोकप्रिय केन्द्र बन चुका था।[8]

बनारस की कम्पनी चित्रकला ईश्वरी नारायण सिंह के समय अपने चरम उत्कर्ष पर थी। ईश्वरी नारायण सिंह का कला एवं साहित्य के प्रति विशेष अनुराग था जिससे अन्य राज्यों के चित्रकार भी बनारस आकर बस गये।

बनारस कम्पनी शैली के प्रमुख चित्रकार[9]

दल्लु लाल (1790-1860)
कमलापति लाल (1760-1838)
फूलचंद (1830)
मूलचंद
चुन्नी लाल
मून्नी लाल
बिहारी लाल

अन्य भागों की कम्पनी शैली के समान बनारस की कम्पनी शैली का विषय भी वही था। ये लोग कुछ विषयों में अधिक रूचि लेते थे और कुछ में कम। शबीह चित्रकारी में बनारस के चित्रकारों की दक्षता देखते ही बनती है, जिसका चित्रण दो श्रेणियों में हुआ, सामान्य एवं विशिष्ट व्यक्तिगत तथा व्यवसायिक। विशिष्ट वर्गीय शबीहों में राजा, महाराजा, दरबारियों तथा उनके इष्ट मित्रों की है, जो व्यवसायिक वर्ग की शबीहों की तुलना में श्रेष्ठ है।[10] महाराज ईश्वरी नारायण की शबीह कई रूपों में देखने को मिलती है जिसमें से एक वृद्ध शासक के रूप में बनी शबीह भारत कला भवन में संग्रहीत है। (चित्र सं0 1) जो बनारस की कम्पनी शैली की उत्कृष्ट कृति है।

अन्य चित्रों में हुक्का बरदार, चिलमपोश, जमादार, नर्तक, गवैया, सैनिक, हकीम आदि विविध पेशों से संबंधित चित्र भी बने

चित्र सं. 1

हैं, जो तड़क-भड़क रंगों में है। पशु-पक्षियों में नीलकण्ठ, चुड़क्का, बाज तथा कठफोड़वा आदि देखने को मिलते हैं।

महाराज ईश्वरी नारायण सिंह के कला प्रेम को देखकर रायकृष्ण दास ने उन्हें 'जहाँगीर' की उपाधि से विभूषित किया है।[11]

शास्त्रीय चित्रकला

काशी में चित्रकला की एक विशिष्ट शैली विद्यमान थी जिसको एक विशिष्ट वर्ग में रेखांकित करना चाहिए। इस शैली पर राजस्थानी शैली का प्रभाव दिखता है। ऐसा लगता है कालांतर में राजस्थानी कलाकार आये होंगे और यहाँ पर उनसे प्रभावित होकर चित्रकारों ने उनकी शैली अपनी निजिता के साथ ग्रहण कर ली होगी। राजस्थानी चित्रकारों में मौजी सिंह का नाम उल्लेखनीय है।[12]

केदारनाथ शर्मा का उललेख करना चाहिए जो बनारस की एक धरोहर थे। इनके शिष्यों में श्री रमाकान्त कण्ठाले, केशव दुहाड़ी, कार्टूनिष्ट विरेश्वर और बैजनाथ गुप्त आदि है। बैजनाथ गुप्त का इस शैली का एक चित्र 'गंगा पुजईया' (चित्र सं0 2) दृश्य कला संकाय के प्रवेश द्वार के बरामदा की दीवार पर देखा जा सकता है।

चित्र सं. 2

जगन्नाथ मुरलीधर अहीवासी के बनारस आने पर यहाँ के चित्रकारों ने उनकी शैली को आत्मसात किया। इस तरह एक अलग विशिष्ठ शैली प्रचलित हो गयी।

लोक चित्रकला

काशी में लोक चित्रकला की एक समृद्धशाली परम्परा थी। इसको तीन भागों में बाँटा जा सकता है-

1. मंदिरों तथा रईसों के आवासी भवनों से प्राप्त चित्र।
2. मांगलिक अवसरों पर भवनों पर बनाये जाने वाले चित्र।
3. विभिन्न अवसरों पर स्त्रियों द्वारा स्वयं बनाये जाने वाले चित्र।

प्रथम वर्ग के चित्र मंदिरों और हवेली, कोठियों की शोभा बढ़ाते है (चित्र सं0 3)। वहीं दूसरी श्रेणी के चित्र रईसों तथा सामान्य श्रेणी के लोगों के भवनों पर मांगलिक कार्यों में बनाये जाते हैं लेकिन दोनों ही वर्गों के चित्रों में भिन्नता देखी जा सकता है। प्रथम वर्ग के चित्रों में जहाँ शास्त्रीयता और पारम्परिकता का दर्शन होता है वही दूसरे वर्ग के चित्र स्थानीयता तथा लोक जीवन से प्रभावित है। इन दोनों वर्गों के चित्रों के विषय में भिन्नता दिखलाई पड़ती है। सम्भ्रान्त व्यक्तियों के आवासों पर सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों, पौराणिक दृश्यों, देवी-देवताओं से सुसज्जित है, वही दूसरे वर्ग के चित्रों में देवी-देवताओं के अलावा जाति-सूचक चित्र देखने को मिलते हैं। उदाहरण-मल्लाह के घर पर-मछली लिये नारी आकृति, अहीर के घर पर –दही वाली, ग्वालिन, गदा फेरते हुए पहलवान (चित्र सं0 4), कुश्ती लड़ते हुए पहलवान, धोबी के घर पर-कपड़ा

चित्र सं. 3

धोती आकृति का अंकन या गधे का अंकन, ब्राह्मण के आवास पर पूजा-पाठ करती आकृति तथा क्षत्रिय के घर पर शिकारी का अंकन।

चित्र सं. 4

इसके अतिरिक्त कुछ पक्षियों का अंकन भी मिलता है। जैसे-हाथी, हिरन, हिरन, तोता, मोर, खरगोश, हंस आदि। (चित्र सं0 5,6)

काशी में जो लोक चित्रकला परम्परा प्रचलित है उसे दरवाजा रंगाई कहते हैं क्योंकि किसी भी मांगलिक अवसरों पर लोग अपने घरों की रंगाई-पुताई के बाद भवन के मुख्य द्वार के अगल-बगल तथा दीवारों पर चित्रकारी करवाते हैं। इसके पीछे लोगों की ऐसी मान्यता भी रही है कि ऐसा कर देने से घर से भूत-प्रेत भाग जाते हैं और जीवन आनन्दमय और मंगलकारी हो जाता है।[13]

काशी की लोक चित्रकला का बारीकी से पड़ताल करें तो इसको दो भागों में बाँटा जा सकता है एक वह जो पेशेवर लोगों द्वारा किया जाता है और दूसरा वह जो घर की स्त्रियों द्वारा विभिन्न अवसरों पर किया जाता है।

जो पेशेवर लोग चित्रकारी करते थे वे मुख्यतः कुम्हार जाति के लोग होते थे। कुछ ऐसे भी लोग चित्रकार थे जो अहीर जाति के थे। वैसे देखा जाय तो कुम्हार लोग ही इस कार्य को सदियों से करते आ रहे हैं।

विवाह के अवसरों पर बनने वाले चित्र

इस अवसर पर बनाये जाने वाले चित्रों में मुख्य द्वार के ऊपर गणेश, मीन युगल, द्वार के दोनों ओर प्रहरी पुरुष आकृतियाँ, बारात का दृश्य, हाथी या गज सवार घुड़सवार खरगोश, मयूर, तोता, केले के स्तम्भ, लता-बल्लरी, पूर्णघट आदि। इसके अतिरिक्त

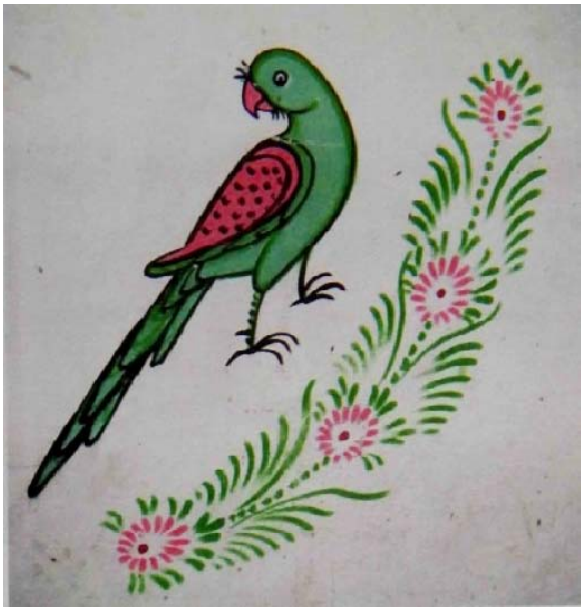

चित्र सं. 5

चित्र सं. 6

देवी-देवताओं की आकृतियाँ होती थी जिनका चुनाव गृहस्वामी की इच्छानुसार होता था।

अन्य विषय

देवी-देवताओं की आकृतियों के अलावा अन्य विषयों का जैसे कुछ पौराणिक कथाओं तथा ऐतिहासिक घटना का भी चित्रण हुआ है जैसे रामायण, महाभारत, गीता, तुलसी, कबीर तथा नगर के जन-जीवन से जुड़े चित्र।

मृदभाण्डों पर चित्रण-काशी में मृदभाण्डों को चित्रित करने की पुरानी परम्परा रही है। इन मृदभाण्डों का प्रयोग सगे-संबंधियों द्वारा वर-वधू के परिवार को मीठे बताशे, आटे या बेसन के लड्डू भरकर एक वस्त्र के साथ देने की प्रथा है। इन कुण्डों को पहले चूने खड़ियों से सफेद रंग दिया जाता है। फिर उस पर विभिन्न रंगों से सुन्दर पुष्प पत्तियों के साथ स्त्री पुरुष, तोता तथा अन्य आकृतियों के साथ अलंकृत किया जाता है। इन चित्रों को भी मांगलिक अवसरों पर प्रयुक्त किये जाने वाले रंगों से चित्रित किया जाता है जिसमें मुख्यतः लाल, नारंगी, पीला, नीला, हरा, काला आदि रंग मुख्य होते हैं। चित्रों के काले रंग से वाह्य रेखांकन किया जाता है। इसकी शैली भी भित्ति चित्रों के समान ही है।

स्त्रियों द्वारा बनाये जाने वाले चित्र-काशी में विभिन्न मांगलिक अवसरों, त्यौहारों तथा व्रतों पर स्त्रियों द्वारा चित्रकारी करने की परम्परा रही है।

कोहबर-विवाह के समय कोहबर की परम्परा है। कोहबर सामान्तया घर के पूर्वी भाग के पूर्वी दीवार पर ब्राह्मण द्वारा बताये गये स्थान पर बनाया जाता है। विवाह की प्रारंभिक रस्में यहीं से प्रारम्भ होती हैं और यहीं पर समाप्त भी होती हैं। यहाँ पर देव की स्थापना की जाती है। कोहबर के सामने मिट्टी के पात्र में प्राकृतिक विपदाओं को एक वस्त्र में बाँधकर रख दिया जाता है। इन रंगों को स्त्रियाँ स्वयं तैयार करती थी। रंगों को पहले पानी में भिगा दिया जाता था फिर उसे सूती कपड़े से छानकर प्रयोग किया जाता था।

चौक पूरना-काशी में स्त्रियों द्वारा विभिन्न मांगलिक अवसरों पर गेहूँ के आटे से चौक पूरने की प्रथा है। सामान्यतः यह नाईनों के द्वारा या कुछ विशेष रिश्ते की स्त्रियों द्वारा बनाया जाता है जो अवसरानुसार भिन्न-भिन्न होता है।

करवा चौथ-कार्तिक मास की चौथ को स्त्रियाँ गोबर से लीपी दीवार पर चावल में हल्दी मिलें ऐपन से चित्र बनाती थी जिसमें करवा, अर्ध्य देती स्त्री, बहन को चन्द्रमा दिखाता भाई, देवरानी, जेठानी, तुलसी, शिवलिंग, गाय, हाथी, तोता, स्वास्तिक आदि आकृतियाँ अंकित होती थी।

पिड़िया-पिड़िया भैया दूज से प्रारम्भ होकर 21 दिन तक चलता है इसमें स्त्रियाँ गोबर से दीवार पर गौरी, गणेश की आकृति बनाती है और रात में वहाँ पर जाकर गीत गाती हैं। अन्तिम दिन उसका विसर्जन करती हैं।

इस तरह काशी की चित्रकला परम्परा अपनी विशिष्टता और मौलिकता के साथ एक अलग पहचान रखती है। कुछ प्रमाण नहीं मिलने से यह नहीं कहा जा सकता है कि काशी में कला की प्राचीन परम्परा नहीं थी। आज जरूरत है तो सिर्फ उसके पड़ताल, मूल्यांकन और प्रतिस्थापना की। आज भी काशी के गली-मुहल्लों में इसके कला वैभव को देखा जा सकता है। काशी विभिन्न धर्म,

सम्प्रदाओं की संगम स्थली है। इसमें एक चुम्बकीय आकर्षण है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी फिल्मकार ने फिल्मांकन के लिए सेट लगा रखा हो।

सन्दर्भ सूची

1- मोतीचंद, 'काशी का इतिहास', हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, 1962, पृ0 3।

2- वही, पृ0 1।

3- राय कृष्णदास, उत्तर प्रदेश मासिक, वर्ष 1, अंक 9, सन् 1973, पृ0 9।

4- वही।

5- तेज नारायण मिश्र, बनारस की कम्पनी चित्रकला, कला प्रकाशन वाराणसी, 1992, पृ0 20।

6- मिल्डर्ड आर्चर, कम्पनी ड्राइंग्स इन द इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन, 1972, पृ0 133।

7- सरला चोपड़ा, उत्तर प्रदेश काशी अंक, लखनऊ, 1984, पृ0 13।

8- वही।

9- तेज नारायण मिश्र, 'बनारस की कम्पनी चित्रकला', वाराणसी, 1992, पृ0 27।

10- सरला चोपड़ा, उत्तर प्रदेश काशी अंक, लखनऊ, 1984, पृ0 14।

11- वही, पृ0 15।

12- रामचन्द्र शुक्ल, उत्तर प्रदेश काशी अंक, 1984, पृ0 4।

13- कौशल कुमार राय (सम्पा0), उत्तर प्रदेश काशी अंक, लखनऊ, 1984, पृ0 5।

●

संगीत चिकित्सा

चन्द्र भूषण एवं प्रो0 शारदा वेलंकर***

संगीत वह ललित कला है, जिसके माध्यम से हम अपने मनोभावों को विशिष्ट रंजकता के साथ प्रकट करते हैं। संगीत का सम्बन्ध हमारी आत्मा से है तथा संगीत हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू से जुड़ा हुआ है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत, प्रत्येक संस्कार एवं कार्यों के साथ अपना गहरा सम्बन्ध स्थापित किए हुए है। यदि संगीत चिकित्सा के सम्बन्ध में बात करें तो जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के चिकित्सा जैसे-एलोपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेदिक इत्यादि विभिन्न चिकित्सा पद्धति की खोज की गई है, उसी प्रकार ''संगीत चिकित्सा'' पद्धति की विधि भी खोज ली गई है। वस्तुतः संगीत चिकित्सा पद्धति की विधि पर दृष्टिपात करें तो यह पद्धति वैदिक कालीन चिकित्सा पद्धति ही है। हमारे भारतीय संगीत का जनक सामवेद को माना जाता है, जिसमें रोगों के निवारण के लिए राग-गायन का विधान मिलता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में निहित वैदिक मन्त्र में 'उपचार शक्ति' होती है, और बहुत सारी बीमारियाँ इन मन्त्रों तथा वैदिक ऋचाओं के उच्चारण से ठीक हो जाती हैं। जिसका एक कारण यह है कि एक निश्चित पटल पर ध्वनि की आवृत्तियाँ वातावरण में एक निश्चित प्रभाव डालती हैं, जो बदले में मनुष्य पर अपना प्रभाव डालती है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में नाद की सर्वोच्च शक्ति पर बल दिया गया है, जिसके माध्यम से एक उपचार पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ जो सामान्य रूप से ''संगीत चिकित्सा'' पद्धति के नाम से जानी जाती है। पं0 अहोबल ने अपने ग्रन्थ 'संगीत पारिजात' में 22 श्रुतियों (संगीत में प्रयुक्त ध्वनि का सूक्ष्म रूप) का सम्बन्ध मानव शरीर की 22 नाड़ियों से बताया है। अतः स्पष्ट है कि जब कोई सांगीतिक ध्वनि निनादित होगी तो उसका प्रभाव मानव पर अवश्य ही पड़ेगा। सांगीतिक ध्वनियों के माध्यम से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं। उसका प्रभाव मनुष्य के सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम पर पड़ता है।

यदि हम प्रतिदिन थोड़ी देर संगीत का आनन्द लेते हैं तो हल्का-फुल्का दर्द होने पर दर्द निवारक गोलियों को लेने की आवश्यकता नहीं रहती, नींद जल्दी आ जाती है, जैसा कि हम सब इसका अनुभव करते हैं। संगीत से राग-द्वेष नष्ट हो जाता है।[1]आज आधुनिक चिकित्सा शास्त्री विभिन्न रोगों को मनो-शारीरिक स्वीकार करते हैं। बहुत सी बीमारियों के मूल में चिकित्सा शास्त्री रोगों की उत्पत्ति का कारण शरीर को न मानकर मन को स्वीकारते हैं। जैसे-रक्तचाप की बीमारी, तनाव से उत्पन्न विभिन्न शारीरिक दोष इत्यादि के कारण जिन शारीरिक बीमारियों का शरीर में उदय होता है। उन सारी बीमारियों को मनो-शारीरिक माना जाता है। इसलिए 'एलोपैथी' के समर्थक चिकित्सा शास्त्री भी मन को प्रसन्न रखने के माध्यम के रूप में 'संगीत चिकित्सा' पद्धति के महत्व को स्वीकारते हैं। यदि मन स्वस्थ होगा तो अनेक बीमारियों पर आसानी से नियन्त्रण पाया जा सकता है। संगीत चिकित्सा का सफल प्रयोग ALZHEIMER के रोगियों पर किया गया है। इन रोगियों पर संगीत चिकित्सा का प्रयोग कर देखा गया कि उन्हें पूर्व बातें स्मृत हो आती है, जबकि ALZHEIMER के रोगी को यह भी याद नहीं रहता है, कि उसने दोपहर का भोजन किया है कि नहीं? पर उन्हें गीतों की पंक्तियाँ याद रहती थीं। इलिनाय मेडिकल सेन्टर के एक तन्त्रिका विज्ञानी जान हूम्स ने मिर्गी के गम्भीर रोगियों पर मोजार्ट का प्रभाव जानने के लिए अध्ययन किया। इन रोगियों को इतने गम्भीर दौरे पड़ते थे कि वे लगभग बेहोश हो जाते थे। उन्होंने 36 रोगियों पर एक साथ मोजार्ट का प्रयोग किया, परिणामस्वरूप देखा गया कि 36 में से 29 रोगियों की दिमागी लहरें मोजार्ट संगीत सुनने के कुछ देर बाद काफी स्थिर हो गई, जबकि उन्हीं रोगियों पर किसी दूसरे काफी लोकप्रिय संगीत का कोई असर नहीं दिखा। वस्तुतः संगीत चिकित्सा का प्रभाव मनः रोगियों पर ज्यादा प्रभावी होता है। वर्ष 1933 ई0 में सारी दुनिया संगीत के चमत्कार से चकित हो गई थी। भीषण नर संहार करने के बाद इटली के शासक मुसोलिनी को इतनी ग्लानि होती थी कि उसे नींद नहीं आती थी। दुनिया की सारी चिकित्सा पद्धति इस अनिद्रा के लिए निष्क्रिय हो गई थी। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत प्रदर्शन कला विभाग के अध्यक्ष पद को प्रतिष्ठित कर चुके पं0 ओंकार नाथ ठाकुर वहाँ विद्यमान थे। मुसोलिनी के आग्रह पर उन्होंने मुसोलिनी को अपना गायन सुनाया और इतिहास बताती है कि पं0 ओंकार नाथ ठाकुर ने राग पूरिया गाना प्रारम्भ किया और उसका आलाप सुनते ही मुसोलिनी को नींद आ गई। इसके अतिरिक्त अनेक संगीत चिकित्सा सम्बन्धी उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। बाइबिल में यह विवरण मिलता है कि डेविड ने राजा सायोल के सामने संगीत का प्रदर्शन किया जिससे राजा को स्वस्थता और शान्ति का अनुभव हुआ। यह भी वर्णन मिलता है कि 'लायर' नामक वाद्य यन्त्र सुनने से सिकन्दर की अचेतनावस्था दूर हो गई थी।

वैज्ञानिकों द्वारा एक विशेष शोध में पाया गया कि संगीत महिलाओं के गर्भावस्था के दौरान अत्यधिक लाभकारी होता है। यदि महिलाएँ गर्भावस्था में शास्त्रीय और कर्णप्रिय संगीत सुनती है, तो

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोध निर्देशिका, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गर्भ में पल रहे शिशु में परिपक्वता सुचारू रूप से और सही समय पर होने लगता है। भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (AIMS) के एनाटामी विभाग में हुए एक शोध में पाया गया कि संगीत के प्रभाव से गर्भ में पल रहे शिशु के दिमाग की कोशिकाओं का अच्छा विकास होता है, उसके न्यूरान्स भी ज्यादा सक्रिय होते है। गर्भावस्था में स्त्री यदि सन्तूर (सौ तारों वाला वाद्य) और सितार सुने तो स्त्री के भ्रूण में चमत्कारिक प्रभाव देखने को मिलता है। यह खुलासा मुम्बई विश्वविद्यालय के कुलपति ख्याति प्राप्त प्रो0 एस0एस0 देशमुख बालरोग विशेषज्ञ ने किया। प्रो0 देशमुख ने बताया कि संगीत चिकित्सा गर्भ में पल रहे शिशु के विकास में अत्यधिक कारगर होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्री अर्थात् 'एलोपैथी चिकित्सक भी संगीत द्वारा चिकित्सा को स्वीकारते हैं। डॉ0 लुई पेरमोन के अनुसार ''थायराइड ग्रन्थि न केवल रक्तचाप को नियन्त्रित करती है। वरन प्रेम व सहानुभूति बढ़ाने एवं असामान्य व विकृत स्थिति में ईर्ष्या, द्वेष उभारने में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, थायराइड से निकलने वाला रसस्राव थायराक्सीन का अनुपात सही हो, इसके सन्तुलन बिगड़ने से न केवल रक्त उष्मा और गति में गड़बड़ होती है, वरन् तरह-तरह की भावनाओं सम्बन्धी विकृतियों का भी मनुष्य शिकार बन जाता है।''[2] संगीत द्वारा थायराक्सीन के स्राव को नियन्त्रित किया जा सकता है। थायराइड ग्रन्थि को आधार मानकर संगीत चिकित्सा पद्धति विकसित करने का दिशा संकेत उपर्युक्त उद्धरण से प्राप्त होता है।

आस्ट्रिया के साल्जवर्ग में एक अस्पताल में लगातार एक वर्ष तक परीक्षण किया गया। 18 वर्ष से 65 वर्ष तक की आयु के लोगों में दर्द से पीड़ित एक ग्रुप को दवा देकर एक ऐसे कक्ष में बैठा दिया गया जहाँ विभिन्न प्रकार का संगीत बजता रहता था जबकि दूसरे ग्रुप के लोगों को केवल दवा देकर सामान्य कक्ष में बैठा दिया गया। कुछ समय के पश्चात् लोगों का परीक्षण करने से पता लगा कि जिन लोगों ने संगीत का आनन्द लिया था, उन्हें दर्द से जल्दी छुटकारा मिल गया जबकि अन्य ग्रुप लम्बे समय तक दर्द से पीड़ित बने रहे। संगीत के द्वारा रोगी के शरीर में उत्पन्न एड्रीनल की मात्रा में कमी हो जाती है, जिससे रोगियों के दर्द को एकदम शान्त किया जा सकता है।''[3]

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के समर्थक भी संगीत चिकित्सा पद्धति को सहर्ष स्वीकारते हैं। ''शब्द कौतूहल'' नामक ग्रन्थ में 4000 श्लोक है, इसके पहले प्रकरण में रोगी के शब्द से रोग निदान, वीणा, पणव, शंख, भेरी, वंशी आदि बाजे को सुनाकर रोगोपहरण, हर एक रोग के लिए पृथक बाजों के शब्द, कौन किसके लिए प्रधान है, इसका भलीभाँति विवेचन किया गया है।'' प्रस्तुत उद्धरण से अवगत होता है कि 'शब्द कौतूहल' नामक ग्रन्थ में विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग औषधि के रूप में किया गया है। ''संगीत'' पत्रिका के अनुसार आयुर्वेदिक संगीत चिकित्सा पद्धति में संगीत का विशेष महत्त्व बताया गया है। आरोग्य के लिए संगीत के स्वरों का उपयोग किया जाता है। विद्वानों के अनुसार ''शरीर में वात, पित्त और कफ़ में असन्तुलन ही रोग की उत्पत्ति का कारण माना जाता है। संगीत के स्वरों द्वारा इनमें सन्तुलन पैदा कर रोगों का उपचार किया जाता है।''[4] शब्द कौतूहल ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में विभिन्न रोगों को अलग-अलग प्रकार के श्रवण, मनन से रोगोपचार का उल्लेख है। इसी तरह 'देवल सूत्र' में भी संगीत चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। 'देवल सूत्र' में तीन प्रकरण है। तीसरे प्रकरण में वात, पित्त और कफ़ के अनुसार औषधि प्रयोग और प्रवेश विधि वर्णन है। विभिन्न विद्वानों ने आयुर्वेद को आधार मानकर संगीत चिकित्सा पद्धति पर चिन्तन किया है। पं. गणेश भागवत शास्त्री जो आयुर्वेद और संगीत के मर्मज्ञ हैं, का मानना है कि ''क्रोध के आवेश में मन प्रक्षुब्ध से ज्वर आता है, चित्त व्याकुल होने से शरीर आकुल हो जाता है।''

आयुर्वेद और संगीत चिकित्सा पद्धति पर विचार करने से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि जिस प्रकार आयुर्वेद मानव शरीर में 22 नाड़ियाँ स्वीकारता है, उसी प्रकार संगीत में 22 श्रुतियाँ मानी गई है। आचार्य श्री राम शर्मा के अनुसार ''इन्हें 22 श्रुतियों के द्वारा उत्पन्न होने वाले भौतिक एवं चेतनात्मक प्रभाव ही समझना चाहिए। औषधियाँ जिस प्रकार मूल द्रव्यों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त प्रभाव के कारण विभिन्न रोगों पर अपना प्रभाव डालती हैं, उसी प्रकार इन 22 श्रुतियों के सम्मिश्रण का वस्तुओं तथा प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।''[4]''रवीन्द्रनाथ टैगोर आयुर्विज्ञान महाविद्यालय'' के प्रमुख नेत्र चिकित्सक डॉ0 एस0आर0 जैन ने अपने शोध में यह तथ्य प्रस्तुत किया कि संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ नेत्र-रोगियों को आनन्द देने के साथ-साथ उनके घावों को भी शीघ्र भरने में सहायक होती है। संगीत के द्वारा 25 प्रतिशत नेत्र शक्ति बढ़ सकती है, स्मरण शक्ति पुनः लौट सकती है, जिद्दी प्रकृति वाले व्यक्ति को सरल प्रकृति का बनाया जा सकता है।''[5]

मनुष्य के अच्छे स्वास्थ्य के लिए संगीत साधना भी एक उच्चकोटि का साधन माना जाता है। संगीत की साधना से शरीर की विभिन्न क्रियाओं एवं श्वास नियन्त्रण से स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। गायन के अभ्यास से शरीर के विभिन्न अंगों में प्रतिक्रिया होती है तथा रक्त का संचार बढ़ता है। विभिन्न लयों का प्रयोग भी प्रभावी समझे गये हैं, विलम्बित लय के गायन से श्वास लम्बी होती है। गायन द्वारा श्वास पर अच्छा नियन्त्रण होता है, जिससे प्राणायाम का सहज अभ्यास संगीत साधना करते समय स्वतः होता रहता है। प्राणायाम स्वस्थ रहने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपादान माना जाता है। 'गायन' मृदु व्यायामों में एक उत्तम प्रकार का व्यायाम माना गया है। इसके अभ्यासियों के फेफड़े का बड़ा सुन्दर और उपयोगी व्यायाम हो जाता है, जिससे वे रोग रहित हो जाते हैं।

संगीत साधना के सम्बन्ध में उस्ताद चाँद खाँ से सम्बन्धित कुछ उक्तियाँ इस प्रकार है-''बाल्यावस्था में आप जब किसी रोग से ग्रसित हो जाते थे तो आपके पिताजी संगीत मार्तण्ड उ0 मम्मन खाँ, उस रोग के अनुसार सांगीतिक क्रियाएँ आपसे करवाकर उस व्याधि से निजात दिलाते थे। जैसे-खाँसी होने पर 'गमक की तान' तथा उदर में कुछ विकृति होने पर 'नाद की तान' आदि का अभ्यास कराते थे, जिससे आप पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे।'' वस्तुतः संगीत की साधना करने वाले लोगों को बहुत कम बीमार होते देखा गया है, क्योंकि भारतीय गायक सबसे पहले ओंकार ध्वनि यानि नाद ब्रह्म की साधना करते हैं। नाद ब्रह्म की साधना चाहे वह गायन द्वारा की जाये या वादन द्वारा दोनों में शारीरिक एवं मानसिक श्रम साधक को सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक करना ही पड़ता है। नृत्यकला में उल्लास और हाथ पैरों का संचालन योग और शारीरिक अभ्यास का सुन्दर उदाहरण है। अतैव स्वस्थ रहने के लिए संगीत साधना भी एक महत्त्वपूर्ण उपादान है।

कुछ विशिष्ट रोगों में संगीत अत्यन्त प्रभावकारी होता है, जैसे मनुष्य की शारीरिक पीड़ा को कम करने में संगीत अत्यन्त लाभकारी होता है, रोगोपचार के दौरान रोगी का ध्यान उसकी बेचैनी अथवा पीड़ा को संगीत के माध्यम से हटाया जाता है, संगीत के द्वारा रोगी के आचरण को सकारात्मक मार्ग पर लाया जा सकता है, मस्तिष्क एवं स्नायु रोग सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में संगीत एक प्रमुख स्त्रोत है, संगीत व्यक्ति की शारीरिक क्रियाशीलता को उत्तेजित करता है और स्नायु तंत्रों की उत्तेजना से रोगी को फिजियोथेरिपी के कार्यों में भी सहायता मिलती है। अतः संगीत चिकित्सा प्रमुखतः निम्न रोगियों के लिए अधिक उपयोगी मानी गई है-

1. मानसिक रोगी,
2. अपंग व्यक्ति (द्विव्यांग)
3. मस्तिष्क के चोट के रोगी,
4. जीर्ण व्याधियों से ग्रसित रोगी।

संगीत चिकित्साा में विभिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय संगीतकारों ने प्रयोगों द्वारा प्रमाणित किया है कि-मलेरिया, मिर्गी, अनिद्रा, छयरोग, कब्जियत, टायफाइड और अन्य रोगों के लिए क्रमशः 'हिण्डोल', 'मारवा', 'पूरिया', 'बिलावल', 'तिलंग', 'रामकली', 'मुल्तानी', 'कान्हणा' इत्यादि रागों द्वारा ठीक किये जाते हैं, 'शिवरंजनी' स्मरण शक्ति बढ़ाने में सहायक है, 'तोड़ी राग' से तनाव एवं उच्च रक्तचाप को नियन्त्रित किया जाता है। हृदय रोग में 'बहार', कुण्ठित मन के लिए 'काफी' राग, धीमा सुनने में 'मालकोंश' राग लाभकारी होते हैं, 'मल्हार', 'सोरठ' तथा 'जयजयवन्ती' शरीर की ऊर्जा को बढ़ाते हैं, मस्तिष्क को शान्त कर क्रोध को दूर करते हैं, 'आसावरी राग' रक्त, वीर्य, कफ इत्यादि के रोगों को दूर करता है, ''सारंग राग'' पित्त और सिर दर्द के रोगों को दूर करता है। भीमपलासी, मुल्तानी, पटदीप और पटमंजरी नेत्र रोग दूर करते हैं, दरबारी हृदयरोग तथा गठियारोग को दूर करता है।

प्रभुशरण मेहता के अनुसार ''ऋषभ एड्स के उपचार हेतु निम्न स्वरावली का वर्णित क्रम में दीर्घ स्वरोच्चार तुरन्त रोगी को शान्ति प्रदान करेगा। उक्त प्रयोग समय के चारों प्रहर लाभकारी है- 'म रे ग, प नि ध।''[6]

पं0 रविशंकर ने 25 मिनट का एक सांगीतिक रिकार्ड आबद्ध किया है, जिसमें ''काफी'', ''मिश्रमांड'', ''पूरिया-धनाश्री'' एवं ''रागेश्वरी'' रागों का सम्मिलित वादन है। उस टेप रिकार्ड को 20 से 30 वर्ष के आयु वाले 37विद्यार्थियों के समक्ष सुनाया गया, इन सभी विद्यार्थियों को अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करनी थी, उनके द्वारा व्यक्त प्रतिक्रियाओं के अनुसार रागेश्वरी संध्या वेला का गहन एवं शांत प्रभाव पैदा करने वाली रागिनी है, जबकि राग काफी से आनन्द एवं भक्ति रस की अभिव्यक्ति होती है एवं राग पूरिया धनाश्री शारीरिक थकान को कम कर शान्ति का प्रभाव पैदा करती है।''[7]

मुम्बई के पं0 शशांक कट्टी ने 'सुर-संजीवनी' नामक संगीत चिकित्सा का प्रारम्भ किया है जिसके चार मुख्य अंग हैं-

(A) Modern Medical Inventions
(B) Traditions of Indian Classical Music
(C) Mood Elevation Theory
(D) Fundamental Principles from Ayurveda.

''संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका वर्तमान समय में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहा है। सन् 1950 ई0 में अमेरिका ने "National Association for Music Therapy"की स्थापना भी की और इसके द्वारा संचालित पाठ्यक्रम अनेक विश्वविद्यालयों में चल रहे हैं। इस Association में 3400 सदस्य हैं, जो Psychiatric Hospitals Rehabilitation Centres, Medical College, Day Care Treatment, Nursing Home इत्यादि सामुदायिक केन्द्रोंपर कार्य कर रहे हैं।''[8]

वर्तमान में भारतीय चिकित्सक भी संगीत चिकित्सा का प्रयोग बहुतायत मात्रा में कर रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संगीत एवं मंच कला संकाय के ओंकारनाथ ठाकुर प्रेक्षागृह में 2015 के दिसम्बर माह में एक व्याख्यान के अन्तर्गत एक चिकित्सक ने संगीत चिकित्सा के दौरान कुछ ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला, जो अत्यन्त आवश्यक है। संगीत चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व रोगी के एलर्जी एवं नेचर की जाँचकर लेनी चाहिए, तदोपरान्त संगीत चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। संगीत चिकित्सा के दौरान रोगी को दवाओं का सेवन करना आवश्यक होता है। जब संगीत चिकित्सा प्रारम्भ कर दी जाए तो रोगी को दवा की मात्रा धीरे-धीरे कम कर देनी चाहिए। फलस्वरूप रोगी के स्वास्थ्य में तेजी से

परिवर्तन होता दिखाई देता है। यदि रोगी 10 दिनों में स्वस्थ होने वाला होता है तो वह 5 दिनों में ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा। दवाओं का सेवन भी कम करना पड़ेगा जिससे रोगी को आर्थिक-तंगी का सामना भी नहीं करना पड़ेगा। ''जिन अस्पतालों में संगीत चिकित्सा का प्रयोग होता है, वहाँ रोगी को यथोचित 'राग' को तीन से पाँच मिनट सुबह, दोपहर तथा शाम को हेडफोन से सुनाया जाता है जिसका प्रभाव रोगी पर अतिशीघ्र परिलक्षित होने लगता है।'' सांगीतिक ध्वनियों के माध्यम से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं, उसका प्रभाव मनुष्य के सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम पर पड़ता है। अतः संगीत चिकित्सा का रोगियों पर प्रभावशाली परिणाम होता है।

पं0 ओंकार नाथ ठाकुर संगीत चिकित्सा पर सहमति व्यक्त करते हुए कहते है ''नाद के भौतिक परिणाम के अतिरिक्त उसके मनोवैज्ञानिक परिणाम भी है, जिसका उपयोग पहले हमारे यहाँ किया जाता था, जिसे हम भूल बैठे है, उसे नये सिरे से जगा दे और उतिष्ठित करके प्रतिष्ठित कर दें।''[9]

विभिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न राग-रागनियों का प्रयोग किया जाता है। संगीत चिकित्सा के दौरान चिकित्सक को ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभी रागों का प्रभाव व्यक्तियों पर एक समान नहीं पड़ता। अतः चिकित्सक को चाहिए कि रोगों के निवारण के लिए व्यक्ति की भावनाओं की जाँच कर ही रागों का चयन करना चाहिए।

अतः उक्त तथ्यों से पूर्णतः स्पष्ट है कि संगीत चिकित्सा अन्य चिकित्सा पद्धतियों की भाँति बहुत ही महत्त्वपूर्णएवं उपयोगी सिद्ध हो रहा है। संगीत चिकित्सा के प्रति संगीतज्ञ, चिकित्सक एवं वैज्ञानिक सभी आश्वस्त हैं । वैज्ञानिकों के अनुसार, यदि संगीत का प्रयोग विभिन्न सार्वजनिक स्थलों पर जैसे-अस्पतालों के प्रतीक्षा कक्षों तथा प्रसवकक्ष इत्यादि में किया जाय तो उसके अपेक्षाकृत अधिक सकारात्मक परिणाम दृष्टिगत होते हैं जिसके तहत केन्डी, लीलावती, बंगलौर के नारायण हृदयालय तथा दिल्ली के अपोलो अस्पताल आदि ने सराहनीय कदम उठाये हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं संगीत चिकित्सा पद्धति हमारे पूर्ण समाज को निरोगी बना सकती है, और यह हमारे जीवन के लिए एक वरदान साबित हो सकती है।

सन्दर्भ सूची

1- बृहस्पति, आचार्य कैलाश चन्द्रदेव, संगीत चिन्तामणि, संगीत कार्यालय हाथरस, उत्तर प्रदेश, 1999, पृ0 390

2- अखण्ड ज्योति, मई 1989

3- शर्मा, प्रो0 स्वतन्त्र बाला, सौन्दर्य, रस वं संगीत, अनुभव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 2010, पृ0 274

4- संगीत (मासिक) फरवरी 1969

5- शर्मा, आचार्य श्रीराम, सामवेद संहिता. 2009

6- अग्रवाल, डॉ0 वन्दना, भारतीय संगीत, शलभ पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ, पृ0 122

7- शर्मा, डॉ0 उमाशंकर, संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में, ईस्टर्न बुक कम्पनी, पृ0 195

8- शर्मा, प्रो0 स्वतन्त्र बाला, सौन्दर्य, रस एवं संगीत, अनुभव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद, 2010, पृ0 271

9- शर्मा, डॉ0 उमाशंकर शर्मा, संगीत का योगदान, मानव जीवन के विकास में, ईस्टर्न बुक कम्पनी

●

मंच प्रदर्शन में रस एवं सौन्दर्य निष्पत्ति – गज़ल गायकी के सन्दर्भ में

स्मृति शुक्ला एवं प्रो0 के0 शशि कुमार***

संगीत एक ललित कला है अर्थात सुन्दर और मनोहर। 'संगीतं कं न मोहयेतु' अर्थात् संगीत से कौन मोहित नहीं होता। संगीत एवं सौन्दर्य दोनों अविभाज्य है। संगीत का सौन्दर्य दिव्य है, जहाँ संगीत है, वहाँ ईश्वर का वास है। संगीत की परम्परा वेदों से ही आरम्भ हो जाती है। संगीत का आधार है नाद और नाद में कला सौन्दर्य की सृष्टि का रहस्य है। संगीत में सौन्दर्य की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है, इसलिए सच्चा कवि संगीत का आश्रय लेकर ही सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य का शब्दों के माध्यम से प्रेषण करता है।[1]

"Music is the purest form of arts and therefore the most direct expression of beauty. Therefore the true poets seek to express the universe in terms of music."[2] *(Ravindra Nath Tagore, Sadhana)*

संगीत का माध्यम है ध्वनि। सूक्ष्म कला एवं ध्वनि प्रधान होने के कारण संगीत कला से विविध रसों की अनुभूति एक नियमित रूप में ही संभव है। संगीत का सम्बन्ध रंजकता, आकृष्टता, संवेदना, स्निग्धता से है और ये तत्व ही मिलकर सौन्दर्य तत्व सार्थक करते हैं। संगीत सार्वभौम है इसका क्षेत्र अति व्यापक है एवं लौकिक तथा अलौकिक, दोनों जगत को सरलता से मंत्रमुग्ध करने का साधन है।[3]

संगीत का उद्देश्य धार्मिक होने के साथ-साथ ऐहिक भी है। उसका प्रभाव देवता, मनुष्य, नर-नारी व अबोध शिशु व पशु-पक्षियों तक व्याप्त है वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का तो साधन है ही देश के जनसमाज का भी हृदय रंजन करता है। संगीत सौन्दर्य उस रस में निहित है जो रजोगुण, तमोगुण को उभार कर चेतना विशेष में परिवर्तित कर देता है और उन क्षेत्रों में मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ तथा चिंता से मुक्त होकर ब्रह्मानंद सहोदर संगीत आनन्द में अवगाहन करने लगता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार 'नाद सौन्दर्य मनुष्य योनि प्राणियों को प्रभावित करने के साथ-साथ जड़ प्रकृति को भी प्रभावित करता है। नाद सौन्दर्य जनित आनन्द है और उसकी अभिव्यक्ति के साधन अनन्त है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक संगीत के ग्रन्थों में राग, स्वर और लय की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं उनसे स्पष्ट है कि संगीत का सम्बन्ध, रंजकता, आकृष्टता, संवेदना, स्निग्धता से है और ये तत्व ही मिलकर सौन्दर्य तत्व सार्थक करते है।[4]

संगीत से केवल आनंदानुभूति ही नहीं होती। ध्वनियाँ मानसिक स्थितियों की भी सूचक होती हैं साथ ही ये हमारे मनोभावों को भी प्रभावित करती है। इसमें एक गति है और हमारी क्रियाएँ भी गत्यात्मक होती हैं।[5]

कोई भी स्थान हो या कोई भी कार्य हो सब जगह आकाश के धुन्ध की भांति संगीत का प्रसार होता रहता है। रेडियो, टेप रिकार्डर, टीवी, सिनेमा एवं मंच प्रदर्शन आदि माध्यमों के द्वारा संगीत का विकास तेजी से हो रहा है। इसमें से मंच प्रदर्शन एकमात्र सजीव एवं जीवात्मक माध्यम माना गया है आज मंच पर शास्त्रीय संगीत से लेकर गज़ल, भजन, लोकसंगीत आदि का साम्राज्य है।[6]

मंच, जिसे शास्त्र में 'रंग' कहा गया है, श्रोता तथा कलाकार के बीच ऐसा पुल है जो दोनों को आपस में मिलाता है लेकिन यह तभी संभव है जब कलाकार संगीत का रस-सिक्त प्रदर्शन करे और सहृदय श्रोता उसका श्रवण करे। देशकाल तथा सामाजिक स्थिति का ध्यान रखते हुए, परम्परा की रूढ़ियों का परित्याग करते हुए, नव-उत्कर्ष में से कुछ ग्रहण करते हुए, कलाकार मंच-प्रदर्शन को सशक्त बना सकता है। मंच-प्रदर्शन से समाज एवं श्रोताओं में जागरूकता आई तथा संगीत को भारतीय संस्कृति का गौरव समझा जाने लगा।[7]

मंच पर सफलता प्राप्त करने के लिए कलाकार को अपने प्रदर्शन की तैयारी बड़ी सूझ-बूझ के साथ करनी चाहिए। कितना समय किस प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है, इसका ध्यान रखते हुए श्रोताओं के स्वभाव और उनकी आकांक्षा का ध्यान भी सदैव रखना चाहिए। गायक और गायन के गुण-दोषों का अध्ययन करके अपने संगीत को बहुत परिष्कार के साथ मंच पर प्रस्तुत करना चाहिए। मंच पर प्रस्तुत की जाने वाली कला को भरत ने यज्ञ बताया है। 'नाट्यशास्त्र' में मंच-पूजन और मंच-प्रवेश का विस्तृत वर्णन दिया है

* शोध छात्रा, (यू0जी0सी0/नेट), गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोध निर्देशिक, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

[1] शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली भारत, प्रथम संस्करण-2005, पृ0 139
[2] वही, 142
[3] वही, 142
[4] शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली भारत, प्रथम संस्करण-2005, पृ0 56
[5] 'बसंत, संगीत विशारद, पृ0 32
[6] 'बसंत, संगीत विशारद, पृ0 701
[7] वही, पृ0 702

और कहा है कि आंधी से प्रज्जवलित अग्नि भी इतनी शीघ्रता से भस्म नहीं करती जितनी तेजी से कला का अशुद्ध (दूषित) प्रयोग प्रयोक्ता को नष्ट कर डालता है। अरूचि उत्पन्न करने वाली या श्रोताओं को उबाने वाली हरकतों से कलाकार को बचना चाहिए। कार्यक्रम के आरम्भ तथा अन्त में प्रणतभाव से मंच-स्पर्श एवं श्रोताओं को प्रणाम करना भी कलाकार के लिए एक आवश्यक अंग बताया गया है। श्रोता से ही कला तथा कलाकार की शोभा है। संगीत यदि वास्तव में संगीत है तो वह मनुष्य ही नहीं पशु को भी आकर्षित करने की क्षमता रखता है। अच्छे गायक, वादक और नर्तक का कर्तव्य है कि वह संगीत के मर्म को समझकर श्रोताओं के हृदय में स्थित उन भावों को उभारे जो सोए पड़े रहते हैं।[8]

संवेग, संवेदन एवं सिद्धान्त का ज्ञान रखने वाला कलाकार सदैव सफल रहता है क्योंकि उसका संगीत श्रोता का तन्मय चित्त शान्त रहता है। मंच प्रदर्शन के वक्त कलाकार को ध्यान रखना चाहिए कि उसका संगीत यथोचित रस प्रदान करते हुए निश्चित अवधि में समाप्त हो जाए। आज समय का अभाव है और जीवन गतिशील है। मंच पर आने से पूर्व साजों को मिला लेना चाहिए ताकि प्रदर्शन के बीच रस-भंग ना हो।[9]

सौन्दर्य, कलाकृति में श्रोता की अनुभूति में या रचनाकार के मन में है जो विचारक सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं वे रचनाकार और श्रोता को महत्व देते हैं तथा जो सौन्दर्य को वस्तुगत मानते हैं उनके अनुसार कलाकृति ही महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य स्थूल है, सूक्ष्म है, आन्तरिक भी और वाह्य थी। रसानुभूति एवं सौन्दर्यबोध दोनो पर्यायवाची हैं। मनुष्य के हृदय में स्थाई भाव सदा विद्यमान रहते हैं, उन भावों के उद्दीपन से ही रस उत्पन्न होता है और उस रस से कलाजन्य सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इसे अंग्रेजी भाषा में Aesthetic Value of Art कहते हैं। संगीत की सौन्दर्य शक्ति के द्वारा प्राणी के स्थाई भावों को जगाकर उसे रसमग्न कर देना कलाकार का लक्ष्य होता है। सौन्दर्य नाद तथा लय के सूक्ष्म तत्वों पर आधारित होता है। मंच प्रदर्शन में सौन्दर्य उस रस में निहित है जो रजोगुण एवं तमोगुण के समाप्त होने पर अन्तःकरण के सत्वगुण को उभारकर चेतना विशेष में परिणित कर देता है और उन क्षणों में मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ तथा चिंता आदि से मुक्ति पाकर ब्रह्मानंद सहोदर संगीत आनंद में अवगाहन करने लगता है। प्रदर्शन में भाव अर्थात उच्चारण के अन्तर्गत ध्वनि का विशिष्ट प्रयोग, स्वरों का विशिष्ट लगाव आदि से सम्बन्धित विशिष्ट तकनीकों का समावेश होता है।[10]

पाश्चात्य विचारकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि कला का लक्ष्य तभी पूरा होता है जब हम कलाकार के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति कलाकारों के मन में तो होनी ही चाहिए साथ ही आश्रय या दर्शक के मन में भी होनी चाहिए। रस संगीत का प्राण है, रस ना हो तो संगीत का आनन्द ही श्रोताओं को ना मिले। किसी प्रदर्शन में कलाकार या श्रोताओं के बीच जो तादात्य स्थापित होता है उसका आधार ही रस है। रसात्मक एकता के कारण कोई कलाकार इतने सहज एवं स्वाभाविक रूप में अपनी सामग्री प्रस्तुत करता है कि श्रोताओं को श्रेष्ठ रसानुभूति होने लगती है। आज भी जिन कलाकारों के गायन में काव्य और संगीत के भाव तथा कलापक्ष दोनों का महत्व है उनकी संगीत अभिव्यक्ति श्रोताओं को रस एवं आनन्द प्रदान करती है।[11]

वैसे तो संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों का प्रदर्शन देखा गया है जिसमें भारतीय संगीत में गायन विधा ने अपनी अमिट छाप छोड़ी। गायन विधा के अन्तर्गत कई शैलियाँ हैं जिसका प्रदर्शन विभिन्न कलाकारों द्वारा किया जाता रहा है जिसमें अमीर खाँ, अब्दुल करीम खाँ, गिरिजा देवी, बड़े गुलामअली खाँ, विलायत हुसौन खाँ, गंगूबाई हंगल, मुश्ताक हुसैन खाँ आदि तथा मुख्य रूप से हैं अगर सिर्फ ग़ज़ल गायकी के क्षेत्र में कलाकारों का प्रदर्शन देखा जाय तो गुलाम अली, फरीदा ख़ानम, जगजीत-चित्रा, मेंहदी हसन, बेगम अख़्तर, तलत महमूद आदि ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर ग़ज़ल गायकी को प्रसिद्धि प्रदान की। कोई भी सांगीतिक अभिव्यक्ति अपने आप में तब तक अपूर्ण ही रहती है जब तक कि नाद की नाद के इन तीनों स्वरों का उसमें समावेश नहीं होता अर्थात तब तक प्रभावशाली नहीं बन पाती जब तक कि मन्द्र, मध्य और तार सप्तक, नाद के इन तीनों स्तरों को अपनी प्रस्तुतिगत काया में आवश्यकतानुसार समाहित ना कर लें। ग़ज़ल सांगीतिक अभिव्यक्ति की इस अनिवार्यता को अपने सांगीतिक प्रस्तुतिगत कलेवर में समाहित किए हुए रहती है। ग़ज़ल की प्रस्तुति में सामान्यतः प्रस्तुति का अधिकांश प्रसार मध्य सप्तक में होता है और भाव-संप्रेषण और अनुभूति को अधिक गहराई एवं तीव्रता प्रदान करने के लिए मन्द्र सप्तक तथा तार के स्वर संयोजनों को उपयोग में लाया जाता है। ग़ज़ल की प्रस्तुतियों में अधिकांशतः सम्बद्ध राग के वादी-संवादी के पारस्परिक संवादों को उभारने की चेष्टा सहज रूप से होती है। ग़ज़ल गायकी में आलापों के प्रयोग से कसरत होता है।

ग़ज़ल में शब्दों से अभिव्यक्त भाव केवल स्थूल रूप से ही सामने आते हैं परन्तु स्वर व लय के माध्यम से कलाकार उन शब्दों में निहित गुढ़ार्थ को स्वयं अनुभव करके उसका रस रूप आस्वादन रसिकों को कराता है।[12]

---

[8] 'बसंत', संगीत विशारद, पृ0 703

[9] वही, पृ0 704

[10] शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली भारत, प्रथम संस्करण-2005, पृ0 57

[11] शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली भारत, प्रथम संस्करण-2005, पृ0 100

[12] शर्मा मृत्युञ्जय, त्रिपाठी रामनारायण, संगीत मैनुअल, पृ0 409

सिर्फ ग़ज़ल की काव्य शैली ही एक ऐसी शैली है जिसमें सीमित शब्दों का प्रयोग होता है और उस सीमित शब्दों को सांगीतिक प्रस्तुति में संयोजित कर प्रस्तुत करने पर किसी भाव अथवा विचार की एक रस धारा फूटती है जो हमें भावों और रसों के गहरे समुद्र की ओर ले जाती है। उदाहरण के लिए ग़ज़ल का निम्नलिखित मतला प्रस्तुत है-

''दुनिया जिसे कहते हैं जादू का खिलौना है।
मिल जाय तो मिट्टी है खो जाय तो सोना है।।''

शायर ने जिंदगी की हकीकत को इतने सही रूप में जाहिर कर दिया है कि जिसे कई-कई पृष्ठों के तार्किक विवेचन में भी समझाया-बुझाया नहीं जा सकता। शेर के पहले मिसरे में दुनिया की हकीकत को 'जादू के खिलौने' मात्र दो शब्दों में बयान कर दिया गया है। इससे दुनिया की नश्वरता का विचार साफ-साफ समझ में आता है। इस शेर के दूसरे मिसरे में 'मिट्टी और सोना' मात्र दो शब्दों के प्रतीकात्मक प्रयोग आदमी की अन्दर की सच्चाई को बहुत साफ तौर पर उजागर करके रख दिया गया है। ग़ज़ल-गायकी वह काव्यात्मक संगीतात्मक अभिव्यक्ति है जो सांगीतिक स्वरों के आसन पर बैठकर सीमित शब्दों में, श्रोताओं को भावों और रसों के सागर में सराबोर कर देती है। स्वर, लय तथा ताल मनुष्य के विचारों, भावों तथा रसों को प्रदर्शित करने के सबसे सशक्त माध्यम हैं। शब्द से पहले व्यक्ति के भावों और रसों को व्यक्त करने का मूल माध्यम स्वर अर्थात् ध्वनि है। लय भी भावों और रसों की उत्पत्ति करती है। किसी व्यक्ति की साधारण या थकी-थकी चाल उसके थके होने अथवा दुखी या मजबूर होने का संकेत करती है तथा किसी व्यक्ति की तेज चाल उसके सुखी, स्वस्थ और उत्साहित होने का आभास कराती है।[13]

स्वर तथा लय वह सीढ़ी है जिस पर शब्द चढ़कर भाव और रस की मंजिल पाता है। ग़ज़ल-गायन शैली में भावाभिव्यक्ति और रसानुभूति के लिये उचित स्वर संयोजनों, तालों और लयों का प्रयोग होता ही है परन्तु साथ में गायक अपनी आवाज के आरोह-अवरोह, आवाज को गम्भीर अथवा चपल बनाकर, शब्दों को अपनी आवाज में दुख और सुख के साथ उच्चारित करके ग़ज़ल की भावाभिव्यक्ति और रसानुभूति को सरल और सटीक बनाकर श्रोताओं के कानों तक पहुँचाने का यत्न करते हैं, फलस्वरूप श्रोता गायक के द्वारा प्रस्तुत किये गये भावों और रसों की उत्पत्ति को अधिक सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

ग़ालिब की ग़ज़लें शब्दों और भावों के संदर्भ में बड़ी पेचीदा और कठिन हैं। उसकी भाषा सरल और सुबोध नहीं है, उनमें निहित भावों को समझने में भी बड़ी कठिनाई जनसाधारण को होती है।

आह को चाहिये इक उम्र असर होने तक।
कौन जीता है तिरी जुल्फ के सर होने तक।।

हजारों ख्वाहिशें ऐसी के हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहोत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।।

ग़ालिब की तरह ही मोमिन, जौक, मीर दर्द, मीर, दाग, आतिश लखनवी, डॉ0 इक़बाल आरै जफ़र जैसे अन्य कई शायरों की मुश्किल ग़ज़लें जब गायकों द्वारा संगीत में ढ़ाली गईं तो उन ग़ज़लों को भी जनसाधारण में खूब लोकप्रियता मिली।

सरकती जाए है रुख से नकाब आहिस्ता-आहिस्ता।
निकलता आ रहा है आफ्ताब आहिस्ता-आहिस्ता।।

गायक- जगजीत सिंह
शायर- अमीर मीनाई

चुपके चुपके रात दिन आंसू बहाना याद है।
हमको अपनी आशकी का वो जमाना याद है।।

गायक- गुलाम अली

उपर्युक्त दोनों ग़ज़लें बरसों पहले अमीन मीनाई और हसरत मोहानी द्वारा लिखी गई थीं तथा उन ग़ज़लों को मुशायरों में श्रोताओं ने सुना भी होगा फिर भी ये जनसाधारण की जुबान पर चढ़कर तभी बोलने लगीं जब इन ग़ज़लों का स्वातन्त्र्योत्तर कालीन ग़ज़ल-गायक जगजीत सिंह एवं गुलाम अली ने इनमें निहित भावों के अनुरूप स्वर-संयोजन और रसों के अनुरूप ताल, लय और शब्दों के अनुरूप आवाज दी।[14]

ग़ज़ल को सांगीतिक आधार मिलने पर ग़ज़लों में भावाभिव्यक्ति और रसानुभूति की अभिवृद्धि होती है और इसके लिए गायक अपनी आवाज, स्वर और ताल का सहारा लेता है और संगीत के भाव और संगीत के रस के निकट आता है। गज़ल एक काव्यात्मक संगीतात्मक अभिव्यक्ति है और उसमें साहित्य कला और संगीत कला दोनों के रस सरल-सहज रूप में विद्यमान रहते हैं। ग़ज़ल की इसी साहित्य-संगीत मिश्रित विशेषताओं से ग़ज़ल-गायकी के प्रति पिछले दो तीन दशकों से आम आदमी की रुचि बढ़ती जा रही है और उसके माध्यम से आम जनता साहित्य के साथ गज़ल में सन्निहित हिन्दुस्तानी शास्त्रीय-संगीत के सामान्य एवं विशिष्ट तत्त्वों से

[13] भण्डारी, डॉ0 प्रेम, हिन्दुस्तानी संगीत में ग़ज़ल गायकी, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1992, पृ0 129

[14] भण्डारी, डॉ0 प्रेम, हिन्दुस्तानी संगीत में ग़ज़ल गायकी, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1992, पृ0 129

अनायास परिचय प्राप्त कर शास्त्रीय-संगीत के प्रति रुचिवान बनती जा रही है।[15]

ग़ज़ल-गायकी ने देश से राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकता के दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के साथ आदर्श, नैतिकता, निरपेक्षता, देश प्रेम, त्याग इत्यादि जीवन-मूल्यों को जनसाधारण के व्यवहार का अंग बनाने में मदद की है। ग़ज़ल न तो एक शुद्ध साहित्यिक बौद्धिकता है और न वह मात्र सांगीतिक औपचारिकता है, बल्कि वह तो मनुष्य के अन्दर की गहराइयों में हमेशा विद्यमान उस अलौकिक संगीत को पहचान में लाने का विनम्र प्रयास है जिसको पहचानने की लालसा में हर इन्सान के काम उन्मुख रहते हैं।[16]

इस नये दौर में संगीत और शब्द (ध्वनि व काव्य) क्षेत्र ही समान महत्त्व प्राप्त कर आगे बढ़ने लगे। आधुनिक काल की ग़ज़लों में शब्दों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। शब्द उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि स्वर। स्वतंत्रता के पश्चात् ग़ज़लों में ग़ज़ल की बंदिश, उसमें ताल का प्रयोग, राग का चयन, तान व आलाप का सही स्थान पर प्रयोग, इसके साथ ग़ज़लों के चयन पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा।[17]

शायर फ़िराक गोरखपुरी के अनुसार ''जब कोई शिकारी जंगल में हिरन का पीछा करता है और हिरन भागते-भागते झाड़ी में फँस जाता है और निकल नहीं पाता तब उसके कंठ से दर्द भरी आवाज निकलती है उसी करुण आवाज को ग़ज़ल कहते हैं इसलिए विवशता का दिव्यतम रूप में प्रकट होना व स्वर का करुणतम होते जाना ही ग़ज़ल है।''[18]

वस्तुतः काव्य के मूल भाव के अनुरूप ग़ज़ल में भी तकनीकि की अपेक्षा भाव प्रभावोत्पादकता व प्रवाह ही अच्छी ग़ज़ल की पहचान है जिसमें मौलिकता हो।[19]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली भारत, प्रथम संस्करण-2005
2. 'बसंत', संगीत विशारद।
3. शर्मा मृत्युञ्जय, त्रिपाठी रामनारायण, संगीत मैनुअल।
4. भण्डारी, डॉ0 प्रेम, हिन्दुस्तानी संगीत में ग़ज़ल गायकी, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1992
5. www.rachanakar.org/2013/07/blog.post

●

[15] वही, पृ0 127

[16] भण्डारी, डॉ0 प्रेम, हिन्दुस्तानी संगीत में ग़ज़ल गायकी, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1992, पृ0 184

[17] वही, पृ0 72

[18] www.rachanakar.org/2013/07/blog.post

[19] वही, पृ0 72

भारतीय चित्रपट तथा उसके संगीत के सौ वर्ष

अनुभव पाण्डेय एवं प्रो0 संगीता पंडित***

चित्रपट बीसवीं शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण देन है। आज चित्रपट ही एक ऐसी विधा है जिसकी ओर प्रत्येक व्यक्ति आकर्षित है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इसके सम्मोहन और प्रभाव से परिचित है। चित्रपट, एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो जनसाधारण के जीवन का सम्पूर्ण दर्पण है। अतः यह देखना आवश्यक है कि यह इतना प्रभावशाली क्यों है? यूँ तो कोई भी कला हो, जैसे चित्रकला, नाट्यकला, काव्यकला, कथा-साहित्य अथवा गीत-संगीत हो, इनमें से कोई भी कला मानव को अभिभूत और आनन्दमग्न करने की क्षमता रखती है, परन्तु चित्रपट तो अपने आप में सम्पूर्ण विधा है क्योंकि इसमें उपरोक्त सभी कलाओं का समावेश रहता है तो भला इसमें आनन्द और सम्मोहन का जादू क्यों नहीं होगा? चित्रपट जो आज हमारे सामने है वह सरल और सुलभ मनोरंजन है। आज हम जो चित्रपट देखते हैं वह हमारे सामने प्रत्येक प्रकार से विकसित और परिष्कृत रूप में है परन्तु यह रूप जो आज हमारे सामने है यह कोई दिन महीना या वर्ष में होने वाला चमत्कार या कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं है। यह छोटे-छोटे शोध कार्यों के वर्षों की मेहनत और लगन का फल था जो बाद में फिल्म व्यवसाय को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम बनकर सम्मुख आया।

इसमें कोई संशय नहीं कि चित्रपट पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा का विकसित रूप है यह सेल्यूलाइड (पालिथिन) पर अंकित एक ऐसी अत्याधुनिक विद्या है जिसमें अनेक लालित्यपूर्ण कलाओं का कलात्मक, साहित्यिक, काव्यात्मक श्रेष्ठतम संगम उपस्थित है।[1]

''जिस शाश्वत सत्ता तक मैं पंखों के सहारे कदापि नहीं पहुँच सकता था, वहाँ गान के माध्यम से सरलता से पहुँच गया।''[2]

-रवीन्द्रनाथ टैगोर

चलचित्र एक संश्लेषित माध्यम है जिसमें चित्रकला, शिल्पकला, संगीत और साहित्य जैसी कलायें आपस में न केवल मिल पाती हैं बल्कि ढ़ाँचों, परिदृश्यों व क्रमों के रूप में अनेक टुकड़े यांत्रिक ढ़ंग से ऐसे जुड़ जाते हैं कि उनका अन्तिम रूप तैयार हो जाता है। बड़ी संख्या में अनेक तत्त्व एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं जो हमारे संवेदनशील व्यवहार में निरन्तर परिवर्तन लाते हैं। फिल्म संगीत का रूप उस कच्चे माल से तैयार होता है जो संगीतकार के पास होता है। वो लोकधुनों, शास्त्रीय संगीत के विश्वसनीय और परखे हुए सूत्रों, राग-ताल की संकल्पना और धुनों आदि का प्रयोग करता है जिनका हमारी संस्कृति में बहुत लम्बे समय से प्रयोग होता रहा है।[3]

संगीत और सिनेमा का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह एक तथ्य है कि जब सिनेमा को वाणी का वरदान नहीं मिला था और पर्दे पर गूंगी आकृतियाँ अपने मनोभाव संकेतों एवं मुद्राओं से व्यक्त करती थीं, तब भी संगीत अभिन्न रूप से सिनेमा से जुड़ा हुआ था। संगीत को भारतीय फिल्म कला की आवश्यक शर्त माना जाता रहा है। यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतीय सिनेमा के इतिहास के प्रथम पृष्ठ से लेकर आजतक की गाथा संगीत के ताने-बाने से बुनी गयी है। आम भारतीय सिनेमा प्रेमी की मनोवृत्ति सदा से फिल्म और संगीत को साथ जोड़कर देखने की रही है। इस तथ्य की वास्तविकता और संगीत की आवश्यकता इस परिप्रेक्ष्य में आँकी जा सकती है कि यह फिल्म के भावों को सूक्ष्म स्तर पर सम्प्रेषित कर उन्हें नये अर्थ देने की कोशिश करता है। संगीत को फिल्मों से गायब कर देने पर उनमें संवेगों की तीव्र अनुभूति कदाचित हो ही नहीं सकती।

फिल्म संगीत के इतिहास के अध्ययन से यह तथ्य परिलक्षित होता है कि फिल्म व संगीत एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। किसी फिल्म की संगीत के बिना कल्पना करना सम्भव नहीं है। प्राप्त तथ्यों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि जब किसी फिल्म निर्माता ने संगीत विहीन फिल्म बनाने का दुस्साहस किया, तो उसे निराशा का मुँह देखना पड़ा। वस्तुस्थिति यह है कि संगीत फिल्म की आत्मा है। संगीत के बिना फिल्म निष्प्राण होती है। निःसन्देह संगीत के बिना किसी चित्र का निर्माण होना और सफलता पाना मुश्किल है। इस सत्य के प्रतिपादन के लिए फिल्म 'नौजवान', 'तूफानी सवार', 'मुन्ना', 'ऊँचेलोग', आदि को लिया जा सकता है जिनमें संगीत के बिना सफलता पाने का सपना संजोया गया, लेकिन ऐसा प्रयोग निराशापूर्ण मात्र सिद्ध हुआ। सच्चाई यह है कि संगीत पर ही फिल्मों का सुखद भविष्य निर्भर है।[4]

मूक सिनेमा युग

1896 में सिनेमा ने भारत में प्रवेश किया। 7 जुलाई, 1896 को बम्बई से प्रकाशित होने वाले 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में एक विज्ञापन छपा कि वे वाटसन के होटल में पहुँच कर इस सदी का चमत्कार अर्थात् विश्व का आश्चर्य देखें। यहाँ लुनेयेरे बन्धुओं के दो कर्मचारियों (वेयरे व मोरियस सेस्टियर) ने एक फिल्म के कुछ टुकड़े दिखाये। जिस देश में रासों, स्वांगों व त्योहारों का जोर था, वहाँ चुनिंदा लोगों के समक्ष ऐसा प्रदर्शन निःसंदेह एक ऐतिहासिक

* शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * शोध निर्देशिका, प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

घटना थी। यह प्रयास इतना लोकप्रिय हुआ कि इस प्रदर्शन को एक स्थानीय थियटर के मंडप में ले जाया गया जहाँ अंधेरे में कई अंग्रेजी फिल्में दिखाई गई। इसने थियटरों में लगे उद्यमशील लोगों को प्रोत्साहित किया जो अब सिनेमा की ओर आकृष्ट हुये। बम्बई में ऐसा करने का श्रेय दो हरेलियनों (कर्ललस तथा कोरनेसालिया) को जाता है, जबकि कलकत्ता में ये काम एक अंग्रेज स्टेपिलटन ने किया। एडवर्ड हेल्ड ने 1897 में ऐसा प्रयास मद्रास में किया।[5]

पर्दे पर बिना बोले पात्रों को वाणी का वरदान मिल जाये इसका प्रयास इस शताब्दी के साथ ही शुरू हो गया था। 1902 के अन्त में पेरिस में फ्रेंच फोटोग्राफिक एसोसिएशन की बैठक में 12 दिसम्बर को गेमाऊंट ने एक लघु फिल्म दिखाई जिसके पात्र बाकायदा बोलते थे। इस अजूबे के लिए उन्होंने रिकार्ड का प्रयोग किया था। इसके अतिरिक्त हाव-भावों को वाणी देने और दृश्यों को प्रभावशाली बनाने के लिए विदेशी मूक फिल्मों के प्रदर्शन के समय बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में सिनेमाघर में पर्दे के निकट कुछ एंग्लो-इंडियन बालायें बैठकर पियानों बजातीं और दृश्य के अनुसार धुनें बदलती रहती थीं। विदेशी फिल्मों के प्रदर्शन के समय मात्र एक पियानों से काम चल जाता था लेकिन भारतीय फिल्मों के प्रदर्शन के समय सिनेमाघरों में पूरा आर्केस्ट्रा लाना पड़ता था।[6]

जोसफ फ्रान्सिस नजारेथ मूक फिल्मों के लिए पियानो या हारमोनियम बजाते थे। उनका संगीत फिल्म के साउंड ट्रैक पर नहीं होता था, बल्कि पर्दे पर चलती फिल्म के साथ-साथ थियटर में बजाया जाता था। फिल्म पूरी तरह गूँगी होती थी। अपने घर पर आराम से बैठे नाजारेथ कहते थे-''न मालूम ये लोग लगातार क्या बातें पर्दे पर करते रहते हैं। मुझे एक भी चीज समझ में नहीं आती। इन बोलती फिल्मों से तो खामोश फिल्में मुझे ज्यादा पसंद थीं। लिखी हुई चीज मुझे समझने में कहीं ज्यादा आसान लगती है।[7]

1920 के दशक में सिनेमा हॉलों की हालात की आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिल्म प्रोजेक्टर तथा दर्शन को 'साउंड प्रूफिंग' के द्वारा अलग नहीं किया जाता था उन्हें प्रोजेक्टर की निरंतर घरघराहट सुननी पड़ती थी। पर्दे पर रोशनी भी एक जैसी नहीं रहती थी। सबसे ज्यादा जो चीज दर्शकों को परेशान करती थी, वह थी लादी हुई ख़मोशी। हॉल में सिर्फ खॉसने, छींकने, पहलू बदलने और यदा-कदा सीटी बजाने की आवाजें सुनने को मिलती थीं। वातावरण में सिगरेट के धुएं के साथ एक तरह का भारीपन और बेचैनी भरी रहती थी। इन हालात के कारण निर्माताओं तथा थियटर मालिकों ने मूक फिल्मों के लिए संगीत का इंतज़ाम किया। दरअसल मूल फिल्मों में खामोशी और तरह-तरह की आवाजों को दबाने के लिए संगीत की व्यवस्था की गई। इसके लिए थियटर वाले आमतौर से एक पियानों तथा एक वायलिन वादक रखते थे। ये संगीतकार आमतौर से गोआ वासी होते थे। वहाँ छात्रों को विद्यालयों में 'स्टाफ नोटेशन' (पाश्चात्य संगीत की संकेत लिपि) पढ़ना और बजाना सिखलाया जाता था। पियानों ऐसा वाद्य था जिस पर घोड़े की टाप से लेकर घड़ी की घंटों की आवाज तक निकाली जा सकती थी। वायलिन स्वर लहरियाँ पैदा करने के काम में आता था।[8]

अपितु भारतीय फिल्मों के लिए हारमोनियम व तबला वादकों को इसके अलावा और भी अजीबो गरीब क्रियाएँ करनी पड़ती थी। यदि पर्दे पर नायक और खलनायक की मारपीट चलती थी, तो उन्हें कई बार पैरों को पटक कर आवाजें पैदा करनी पड़ती थीं तथा कई बार 'मारो' तथा 'ख़ामोश' जैसी आवाजें भी करनी पड़ती थी। संगीत बजाने वालों को न केवल संगीत निर्देशक का काम करना पड़ता था, बल्कि वे संवाद लेखकों तथा 'डबिंग' की जिम्मेदारी भी निभाते थे। पियानो और हारमोनियम के प्रति फिल्म वालों के इस आकर्षण के अवशेष बोलती फिल्मों के आ जाने के बाद भी नज़र आते हैं। लगभग हर फिल्म में नायक या नायिका को पियानों पर बैठे गाते हुए दर्शाया जाता था। मुजरों और भिखारियों के साथ हारमोनियम हमेशा नजर आता रहा है। आज भी संगीत-निर्देशक और गायक पियानो या हारमोनियम के साथ अपनी तस्वीरें खिंचवाना पसंद करते हैं।[9]

मूक-चलचित्रों में पार्श्व संगीत का प्रयोग

मूक काल की फिल्में वस्तुतः मूक नहीं हुआ करती थीं। पर्दे पर फिल्म के चलते समय कोई कमेंटेटर पर्दे पर चल रहे दृश्य की व्याख्या करता जाता था। चलचित्र के प्रारम्भ के पूर्व तथा प्रदर्शन के समय वृन्दवादन होता था। दर्शकों को संगीत से दृश्य कला का विशेष आनन्द मिलता था। यदि हम हिन्दी सिनेमा में संगीत के अध्ययन के लिए थोड़ा पीछे लौटें, तो हम देखेंगे की संगीत सिनेमा के जन्म से ही जुड़ा हुआ था। यह सिनेमा का अनिवार्य अंग था, बाद में इसमें संगीत व कविता शामिल होती गयी। कुछ निरर्थक ध्वनियों के अतिरिक्त सिनेमा हॉल के एक कोने में, जिसे 'मंचीय भाषा' में पिट कहा जाता है, रखे वाद्य यंत्रों की सांगीतिक ध्वनियाँ भी होती थी। इनमें हारमोनियम और तबला के अतिरिक्त कभी-कभी सारंगी और घुँघरु का भी उपयोग होता था। इनका उपयोग पर्दे पर दिख रहे दृश्यों में नाटकीयता और प्रभाव पैदा करने के लिए किया जाता था। इनके वादक पेटी मास्टर और तबला मास्टर कहलाते थे। पार्श्व संगीत के लिए भी प्रयत्न किया जाता था। उदाहरणार्थ-तेज दौड़ते हुए घोड़ों के साथ स्क्रीन के सामने नीचे बने हुए 'पिट' में बैठे वादकों में से कोई तबले पर 'रेला' बजाता था, तो दुखात्मक प्रसंग में सितार या बेला पर करूण राग में स्वर छेड़े जाते थे। नृत्य प्रसंगों में पर्दे पर थिरकती नर्तकी के अनुसार स्टेज के पास बैठा वादक घुँघरु खनखनाता था। साज़िन्दे 'पिट' में बैठकर संगीत देते थे, इसीलिए पिट के पास बैठने वाले दर्शकों को 'पिट क्लास' कहा जाता था।[10]

भारतीय सिनेमा में सवाक् फिल्मों के आगमन से पूर्व कई तकनीकी समस्यायें सामने खड़ी थीं। प्लेबैक, मिक्सिंग,

सिंक्रोनाईजिंग यानि दृश्यों और आवाज के अलग-अलग निगेटिव तैयार करके जोड़ना जैसी आगे चलकर विकसित हुई तकनीकों का इस समय कोई आभास तक नहीं था। ध्वनिमुद्रण के उपकरण साधारण थे, तकनीकी ज्ञान अधूरा था। सबसे बड़ी समस्या माइक्रोफोन की थी। संवाद हो या गाने या कोई अन्य ध्वनि, फिल्म पर ध्वनि आलेखन का काम कैमरे से दृश्य उतारे जाने के समय ही साथ-साथ चलता था। संवादों और गाने के लिए माइक्रोफोन का इस्तेमाल एक जटिल समस्या थी। माइक को किस तरह छुपाया जाये, विभिन्न प्रकार के लिए बहुत समस्या जनक था। एक ही माइक्रोफोन पर गायक, आर्केस्ट्रा सभी को शामिल करने में बड़ी असुविधा होती थी।

उन दिनों शूटिंग के साथ सजीव रिकार्डिंग हुआ करती थी। कैमरा चलने के साथ-साथ अभिनय तथा गायन-वादन सभी का काम चलता था। अतः वादकों को कैमरे की नजर से छुपाना पड़ता था। मौसम सम्बन्धित कठनाइयों का सामना का सामना भी करना पड़ता था। कुछ लोकगीत भी गाये जाते थे। कुछ गीत दृश्यों के साथ जुड़ जाते थे और वे दर्शकों को भी आते थे। दर्शक बार-बार सिनेमा हॉल में आते थे और उन्हीं गीतों को सुनने के लिए दबाव भी डालते थे। अतः फिल्म का प्रदर्शन संगीत गोष्ठी की तरह होता था। संगीतकार को तत्काल संगीत तैयार करके देना पड़ता था।

सवाक् सिनेमा का सूत्रपात

''फिल्म मनोरंजन का उत्तम माध्यम है लेकिन यह ज्ञानवर्धन के लिए भी अत्यंत बेहतरीन माध्यम है।''[11]

-दादा साहब फाल्के

भारतीय सिनेमा के इतिहास में तीन तिथियों का विशेष महत्त्व है। 7 जुलाई, 1896 के दिन मुंबई के वाटसन होटल में लुमियर बन्धुओं की फिल्म दिखाई गई।[12]

दूसरी महत्त्वपूर्ण तिथि थी-3 मई, 1931। इस दिन दादा साहब फाल्के की पहली वास्तविक फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र रिलीज़ हुई थी। इस का प्रेस शो 21 अप्रैल को हुआ था। फाल्के सच्चे अर्थों में पहले स्वदेशी फिल्मकार थे। भारतीय सिनेमा के जन्मदाता दादा साहब फाल्के ने 1919 में एक भेंट वार्ता में उपर्युक्त बात कही थी। ऊपर से देखने में यह बात सुपरिचित और साधारण है लेकिन गहराई से विचार किया जाये, तो भारतीय सिनेमा के सौ साल के इतिहास में फिल्म विधा का सम्पूर्ण विकास इन दोनों चीजों-मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन पर टिका हुआ है। इन सौ सालों में जाहिर है कि मनोरंजन का अर्थ भी कई बार बदला है और ज्ञानवर्द्धन की भी बाक्स आफिस पर कई बार बलि दी गई है।[13]

तीसरी महत्त्वपूर्ण तिथि 14 मई 1931, इस दिन मुम्बई के मैजेस्टिक सिनेमा में भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' रिलीज हुई थी। इतिहास में इंपीरियल फिल्म कम्पनी की 'आलम आरा' को पहली वास्तविक हिन्दी फिल्म कहलाने का गौरव प्राप्त है।[14]

'आलम आरा' की कामयाबी से भारतीय सिनेमा में सवाक् युग का सूत्रपात हुआ। फिल्मी जगत में 'आलम आरा' ने जो क्रान्ति पैदा की जिससे प्रभावित होकर कई कम्पनियाँ इस होड़ में शामिल हो गई। सिनेमा में भाषा का प्रयोग होने से जनता का जुड़ाव और गहरा हो गया। 1931 की समाप्ति तक 27 सवाक् फिल्में और बनी इसमें 22 फिल्में हिन्दी में थी।[15] उस समय फिल्म के नाम के पंजीकरण का क्रम चलन में नहीं था। अतः एक ही नाम से तथा एक ही कहानी पर कई निर्माता एक ही समय में अलग-अलग फिल्में बना सकते थे। हिन्दी फिल्मों के अंग्रेजी नाम रखने का चलन शुरु हो गया था। फिर साल दर साल सवाक् फिल्मों की संख्या बढ़ती गई, मूक फिल्मों की कमी होती चली गई। 1935 के बाद मूक फिल्में बनाने का अन्त हो गया।[16]

भारत में फिल्मों का निर्माण बड़ी तेजी से हुआ। पंजाब तथा अन्य स्थानों पर नये-नये प्रयोग प्रतिदिन होते चले गये और फिल्मों में सुधार होने लगा। सवाक् सिनेमा के प्रारंभिक वर्षों में ऐसे रंगमंचीय कलाकारों की माँग फिल्मी दुनिया में ज्यादा रही जो संवाद भी बोल सकें और अपना गीत भी ख़ुद गा सकें।[17]

यद्यपि 1935 से पार्श्व गायन शैली शुरु हो गई, अगले दशकों में इससे निरन्तर सुधार होता गया। पार्श्व गायन के क्षेत्र में अनेक प्रतिभाओं का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ। इस प्रकार सवाक् युग के प्रथम दशक की समाप्ति तक फिल्म संगीत ने अपना विशिष्ट स्वरूप विकसित कर लिया। जनसाधारण में फिल्मी गीत सहृदयता से अपनाये जाने लगे कुन्दन लाल सहगल, सुरेन्द्र, पंकज मलिक, के0सी0डे, पहाड़ी सान्याल, कमलदास गुप्ता आदि के गाये गीत तथा कानन वाला, खुर्शीद, जहाआरा कज्जन, राधारानी, शान्ता आप्टे, राजकुमारी पारुल घोष और उमा शशि के भजन, गीत और ग़ज़लें घर-घर गुनगुनायीं जाने लगीं। अब संगीतकारों के लिए नयी-नयी विधाओं का प्रयोग करने का अवसर मिला मँजे हुए गायक-गायिकाओं तथा विविध प्रकार के साजों का प्रयोग एक-दूसरे में घुल मिल गये। शास्त्रीय संगीत की दिशा में रुचि बढ़ने लगी, क्योंकि पर्दे पर काम करने वाले नायक-नायिकाओं के लिए शास्त्रीय संगीत गाना असम्भव था, जबकि पार्श्व गायन प्रणाली ने उसे सम्भव बना दिया।[18] आगे के स्वर्णिम दशकों, में नौशाद, सी. रामचन्द्र, हेमन्त कुमार, मदन-मोहन, शंकर जय किशन,लक्ष्मीकान्त प्यारे लाल, राहुल देव वर्मन, सचिन देव वर्मन, ऊषा खन्ना, सलिल चौधरी, जयदेव, रवीन्द्र जैन, जैसे संगीतकारों ने रफी, किशोर, मुकेश, मन्नाडे, लता मंगेशकर, आशा भोसले, हेमलता, कविता कृष्णमूर्ति, अलका याग्निक, जैसे कुशल गायक-गायिकाओं की प्रतिभा से उच्चस्तरीयसंगीत का निर्माण किया। कला समीक्षक विनोद भारद्वाज के अनुसार ''शोले के बाद सिनेमा हिंसक होता चला गया। 1990 में 'मैंने प्यार किया' की अप्रत्याशित सफलता ने प्रेम कथाओं और

संगीत आदि को प्रतिष्ठा दिलाई। तब से मुम्बई का हिन्दी फिल्म प्रेम और हिंसा के बीच में बँटा हुआ है। संगीत ने रिकार्डिंग उद्योग को शक्तिशाली बना दिया है। जहाँ तक तकनीकी दक्षता और कल्पनाशक्ति का सवाल है दक्षिण के फिल्म निर्माता, कैमरामैन आदि हिन्दी सिनेमा से अधिक पेशेवर हैं। तमिल फिल्मकार मणिरत्नम् जैसी प्रतिभायें मुंबई में नही हैं। सुभाष घई या महेशभट्ट दिलचस्प फिल्में तो बना रहे हैं पर 'श्री 420', 'प्यासा', 'मदर इण्डिया' का स्वर्ण युग कहीं दिखाई नहीं दे रहा। दादा साहब फाल्के के उद्धरण को याद करें तो मनोरंजन भी सस्तेपन का शिकार हो गया है, ज्ञानवर्धन तो खैर बहुत दूर की चीज़ है।''[19]

आज विज्ञान के युग में कला प्रस्तुतिकरण के नये आयाम सामने आये हैं। कलाकार की सूक्ष्मतम अभिव्यक्तियों को कैमरे और माइक्रोफोन ने निकट ला दिया है। सभागृह और रिकार्डिंग कक्षाओं में सुई के गिरने तक की ध्वनि को सुना जा सकता है। इसी वैज्ञानिक प्रगति का नवीन क्षितिज पार्श्व गायन है। सरल, मधुर और लोकरंजक होने के कारण पार्श्वगायन की कला अद्‌भुत रूप से विकसित होती चली आ रही है। कभी-कभी जब मुख्य गायक या गायिका किसी कारणवश रिकार्डिंग की निश्चित तिथि पर स्टूडियों नहीं पहुँच पाते तो डुप्लीकेट गायक या गायिका द्वारा रिकार्डिंग पूरी करा ली जाती है और बाद में मुख्य गायक या गायिका के उपलब्ध होने पर उसकी आवाज को रिकार्ड करके डुप्लीकेट की पूर्व-रिकार्डिंग के स्थान पर जोड़कर काम पूरा करा लिया जाता है। इस प्रक्रिया को 'डबिंग' कहा जाता है। रिकार्डिंग अलग-अलग ट्रैक पर रिकार्डिंग करके डबिंग का काम आसानी कर लेते हैं। संगीतकार उत्तम वाद्यवृन्द व पार्श्व गायक-गायिका तथा कोरस के सहयोग से तीन-चार मिनट में ऐसा संगीत प्रस्तुत कर देते हैं जो करोड़ों संगीत प्रेमियों का दिल जीत लेता है। आवाज में गूंज, प्रतिध्वनि या अन्य प्रभाव पैदा करने में आज की रिकार्डिंग प्रणाली पूर्ण रूप से सक्षम है और उसमें नित नई विशेषतायें या सम्भावनायें जुड़ती चली जा रही है।

सन्दर्भ सूची

1- डॉ0 विमल, 'हिन्दी चित्रपट एवं संगीत का इतिहास', पृ0 2
2- जौहरी, डॉ सीमा, 'भारतीय चलचित्र संगीत का इतिहास (1900-1947), पृ0 01
3- वही
4- वही, पृ0 02
5- वही
6- वही, पृ0 03
7- वही
8- वही
9- वही
10- वही, पृ0 10
11- भारद्वाज, विनोद, 'सिनेमा कल', आज, कल, पृ0 188
12- वही
13- वही
14- वही
15- जौहरी, डॉ0 सीमा, 'भारतीय चलचित्र संगीत का इतिहास (1990-1947)', पृ0 14
16- वही
17- वही, पृ0 15
18- वही, पृ0 18-19
19- भारद्वाज, विनोद, 'सिनेमा कल', आज, कल, पृ0 196-197

●

भारतीय संगीत वाद्यों का वर्गीकरण

अमित कुमार शुक्ल एवं डॉ0 संगीता सिंह***

संगीतात्मक ध्वनि उत्पन्न करने वाली वस्तु को संगीत में वाद्य कहते हैं। भारतीय संगीत हमारी संस्कृति का गौरव है जो शास्त्रों पर आधारित एवं पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है।

संगीत रत्नाकर में 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते' कहकर पं0 शारङ्गदेव ने बताया है कि संगीत में तीनों विधाओं का समावेश है। भारतीय संगीत विशाल है उसी प्रकार इसमें प्रयुक्त होने वाले वाद्य भी बहुतायत में हैं। इतने सारे वाद्यों को एक साथ जानना सम्भव नहीं है। अतएव वाद्यों की विशेषता के आधार पर हमारे विद्वानों ने वाद्यों का वर्गीकरण किया।

वाद्य वर्गीकरण को जानने से पूर्व हमें वाद्यों के विषय में जानना अति आवश्यक है। प्राचीन काल के संगीत वाद्य बहुत ही साधारण थे। धीरे-धीरे वाद्यों के स्वरूप में परिवर्तन आता गया और लोगों के वादन में कुशलता आती गई, क्रमशः संगीत का विकास होता गया। संगीतशास्त्र में वाद्यों को जो स्थान प्राप्त हुआ। वह कई वर्षों के परिश्रम व संशोधन का परिणाम है।

हमारा देश विविध संस्कृतियों का देश है। अतएव हमारे देश के वाद्यों में विविधता स्वाभाविक है। किसी विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करने अथवा समझने के लिए विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। वाद्यों को समझने के लिए हमें वाद्यों के प्रकारों में विश्लेषित करना होगा, जिसको हम वाद्य वर्गीकरण भी कहते हैं।

वर्गीकरण की सहायता से हम किसी वाद्य के विविध अंगों-उपांगों का ज्ञान अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म और तुलनात्मक रूप में प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि ने अपने अट्ठाइसवें अध्याय में वाद्यों को आतोद्य कहकर पुकारा है-तथा वाद्यों के चार प्रकार बताये हैं।

ततश्चैवावनद्धञ्च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधन्तु विज्ञेयं आतोद्यं लक्षणान्वितम्॥[1]

अर्थात्-आतोद्य के चार प्रकार है तत्, अवनद्ध, घन तथा सुषिर।

वाद्यों के चार प्रकारों को एक नाम भरत ने अतोद्य कहा है, ठीक उसीप्रकार पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में तूर्य शब्द का प्रयोग पाया जाता है जिसमें सभी वाद्यों का अर्न्तभाव है।

'हरिवंश पुराण' में तत्, घन, सुषिर आदि वाद्य-वर्ग का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही वाद्यों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता था।

ततो घनं ससुषिरं मुरजानकभूषितम्।
तन्त्री स्वरगणैर्विद्धानतौद्यानन्दवादयन्॥[2]

वहीं कोहल में पाँच प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया है-

पञ्चधा च चतुर्धा च त्रिविधं च मते मते
कोहलस्य मते ख्यातं पञ्चधा वाद्यमेव च॥[3]

'संगीत मकरंद' में पंचविध नाद बताया है। नख और वायु, चमड़े, लोहे तथा शरीर द्वारा उत्पन्न होने वाला नाद।

''अनाहतः आहतश्चेति द्विविधोनादस्तत्र।
सोऽप्याहतः पंचविधो नादस्तु परिकीर्तितः॥
नखवायुज चर्माणि लोह शारीरजास्थथा॥''[4]

(1) वीणा आदि नखज (2) वंश आदि वायुज (3) मृदंग आदि चर्मज (4) ताल आदि लोहज (5) तथा 'शरीरज' पाँच नाद होते हैं। इस पंचविध नाद में वीणा को नाखून द्वारा बजाने की ओर संकेत मिलता है 'लोह' शब्द से कांस्य, ताँबे आदि धातु को ही समझना चाहिए।

वाद्यों के वर्गीकरण में वाद्यों का स्थान निश्चित करते हुए भरतमुनि ने कहा है।

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवद्धन्तु पौष्करम्।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते॥

अर्थात् वीणा आदि 'तत', पीटे जाने वाले पुष्कर (मृदंग) आदि 'अवनद्ध', कांस्य आदि धातुओं के बने हुए तालार्थ वाद्य 'घन' तथा फूँककर हवा भरते हुए बजने वाले (बाँसुरी आदि) 'सुषिर' वाद्य कहलाते हैं।

प्रत्येक वाद्य में अपनी कुछ अलग विशेषताएँ होती हैं। जिससे वह अपने विशेष वर्ग में प्रतिष्ठित होता है।

वाद्यों का वर्गीकरण प्रायः वाद्यों के स्वरूप तथा उसकी वादन प्रक्रिया पर निर्भर करता है। प्राचीन काल से ही वाद्यों के नाम व रूप में अनेक परिवर्तन हुए। आधुनिक काल में कुछ नये-नये वाद्य शास्त्रीय संगीत में प्रयोग होने लगे हैं और नये वर्गीकरण भी किये

* शोधार्थी, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**एसोसिएट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गये फिर भी वे पूर्णतः मान्य नहीं हो सके नवीन वाद्यों का शास्त्रीय संगीत में प्रवेश हो जाने से वर्गीकरण की समस्या उत्पन्न हो गई है।

भारतीय संगीत शास्त्र में उपलब्ध वाद्य वर्गीकरण में भरत मुनि वाद्य-वर्गीकरण ही सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वश्रेष्ठ है। महर्षि भरत द्वारा निर्धारित वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण तथा उनके नाम को ही सभी आधुनिक आचार्यों ने स्वीकार किया।

वाद्यों के बारे में लिखे हुए प्रथम ग्रन्थकर्ता नारद और स्वाति मुनि है यह तथ्य भरत मुनि के द्वारा ही नाट्यशास्त्र में स्पष्टतया बताया गया है।

गान्धर्वञ्चैव वाद्यञ्च स्वातिना नारदेन च।
विस्तारगुण सम्पन्नमुक्तं लक्षण कर्मतः।[7]

व्याख्या-''स्वाती और नारद के मृदंग पणव दर्दुर आदि अवनद्ध वाद्यों, तन्त्री और अन्य वाद्यों के भी विस्तारपूर्वक सुस्पष्ट लक्षण और वादन-क्रम बताये हैं। उनका अनुसरण करने में भी पुष्कर (तीन मुख युक्त अवनद्ध वाद्य) आदि वाद्यों की उत्पत्ति, बनाने का क्रम और वादन बताऊँगा।'' इससे स्पष्ट है कि भरत भी स्वाति और नारद का अनुकरण कर रहे थे।

डॉ0 अरुण कुमार सेन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन' में ताल वाद्यों की विभिन्नता के फलस्वरूप उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार हैं।[8]

1. तत्, घन व सुषिर श्रेणी के तालवाद्य
2. अवनद्ध तालवाद्य
3. एक ध्वनि अथवा अनेक ध्वनि वाले तालवाद्य।
4. स्वर में मिलाये जाने वाले एवं स्वरों में न मिलाये जाने वाले तालवाद्य।
5. बजने वाले मुखों के आधार पर
6. प्रचलित व अप्रचलित तालवाद्य
7. वादन की भिन्नता के आधार पर
8. खुले अथवा बंद मुख की वादन क्रिया के आधार पर आदि

इस तरह से डॉ0 सेन ने कई वर्गीकरण बताये हैं जो प्रत्येक अपने-आप में प्रासंगिक है।

बौधकालीन जातक कथाओं में से विश्वंतर जातक में (547) वाद्यों के पाँच प्रकार बताये गये हैं। आतत, वितत, आतत्-वितत, घन और सुषिर।[9]

पूर्वोल्लेखित 'भरत' कथन के समर्थन में 'आचार्य पार्श्वनाथ' अपने 'संगीत समय सार' नामक ग्रन्थ में 'षष्ठाधिकरण' में लिखते हैं।

ततं ततोऽवनद्धञ्च धनञ्च सुषिरं तथा।
चतुर्विधमिदं प्राहुरातोद्यं वाद्य वेदिनः।।

ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम्।
कास्यं धनमिति प्रोक्तं सुषिरं सुषिरात्मकम्।। [10]

अर्थात्-वाद्यज्ञों ने चतुर्विध वाद्य, 'तत', 'अवनद्ध', 'घन' और 'सुषिर' कहा है। तन्त्रीयुक्त 'तत' पुष्कर वाद्य 'अवनद्ध' कांसे का बना हुआ 'घन' और छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाता है।

वीणा चालावणी चैव किन्नरी लघुपूर्विका।
वृहत्किन्नरिका चैव शकनीत्यादिकं ततम्।।

पटहश्च हुडुक्का च ढ़क्का च तदनन्तरम्
मृदङ्ग करटेत्याद्यमवनद्धमुदाहृतम्।।[11]

अर्थात् वीणा, अलावणी, लघु किन्नरी, बृहत्किन्नरी, शकनी इत्यादि 'तत' हैं। पटह, हुडुक्का, ढ़क्का, मृदङ्ग, करटा इत्यादि अवनद्ध हैं।

वर्तमान में अनेक वाद्य ऐसे भी हैं जो इन वर्गीकरण में होते हुए भी कुछ इनसे भिन्न है जैसे-जलतरंग घन वाद्य के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु इसमें जल की मात्रा तथा पात्र के आकार से सुर निश्चित किये जाते हैं तथा रागों का वादन तरंग के माध्यम से होता है। वहीं तबला-तरंग चमड़े का मुख होने के कारण कोई इसे अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में रखता है कोई इसे अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में रखता है। ये वाद्य किस वर्ग के हैं। ऐसा स्पष्ट करना संभव नहीं होता इसलिए एक नये वाद्य वर्गीकरण की आवश्यकता महसूस होती है। प्राचीन काल से अब तक वाद्यों के आकार वादन विधियों में परिवर्तन होते आ रहे हैं। ऐसे कई वाद्य हैं जिनका वर्गीकरण चतुर्विध वाद्य वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं हो सकता, परन्तु वाद्यों के गुणों के आधार पर इन्हीं चारों वर्गों में शामिल कर लिया जाता है।

प्राचीन काल का उपंग वाद्य ऐसा वाद्य था जिसकी बनावट से चमड़ा एवं तार दोनों का प्रयोग होता था पर इसे अवनद्ध वाद्य वर्ग के अन्तर्गत रखा गया। इसी प्रकार सारंगी, रावणहत्था, इसराज आदि वाद्यों में बनावट में चमड़ा एवं तंतु दोनो का प्रयोग हुआ परन्तु ये स्वर प्रधान होने की वजह से इनको तत वाद्यों की श्रेणी में रखा गया। इस तरह के कई विवाद वाद्य वर्गीकरण में आते हैं महर्षि भरत ने तत्कालीन अनुसार वाद्यों का वर्गीकरण किया जो आज तक प्रभावी है, परन्तु समयान्तराल पर जिस प्रकार गायन शैलियों में परिवर्तन हुआ नये वाद्यों का निरन्तर आविष्कार तथा उनके स्वरूप में परिवर्तन हुए, इससे वाद्यों के वर्गीकरण की भी आवश्यकता है।

शोधकर्ता के अनुसार इसका वर्गीकरण इस प्रकार से भी हो सकता है, वर्तमान में कलाकारों के द्वारा आवागमन की सुविधा को देखते हुए विद्युत से चलने वाले उपकरणों का भी प्रयोग बहुतायत में होने लगा है। इस प्रकार वाद्यों के वर्गीकरण में एक और वर्ग शामिल हो जाता है जिसे हम विद्युत चालित वाद्य कह सकते हैं जिसको चार्ट के द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है-

वाद्य (वर्गीकरण)

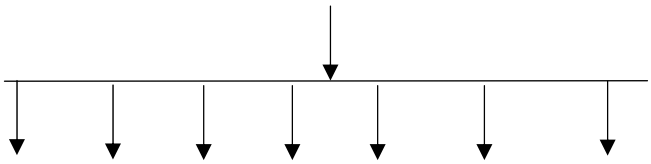

तत् अवनद्ध तातावनद्ध घन सुषिर तरंगवाद्य विद्युतचालित

आधुनिकता के दौर में हमारे भारतीय संगीत में ''पाश्चात्य वाद्यों'' का भी अत्यधिक प्रयोग होने लगा है। जिसको वाद्य वर्गीकरण में प्रदर्शित करना अत्यन्त आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

1. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, भाग-4, 2012 अध्याय 28, श्लोक सं0-1, पृ0 3
2. हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय 93 श्लोक
3. रामकृष्ण कवि, भरतकोष, तिरुपति, तिरुमलाई, पृ0 599
4. संगीत मकरन्द, संगीत चूड़ामणि, बड़ौदा संस्करण, पृ0 68
5. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, बाबूलाल, शुक्ल शास्त्री, चतुर्थ भाग, अध्याय-28, श्लोक सं0 2
6. शर्मा, स्वतन्त्र : भारतीय संगीत : एक ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ0 24-25
7. भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र, अध्याय-33, श्लोक सं0 2-3
8. सेन, डॉ0 अरुण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
9. मराठे मनोहर भालचन्द्र राव, ताल-वाद्य शास्त्र : एक विवेचन, निबन्ध, पृ0 35
10. आचार्य, पार्श्वदेव कृत, संगीत समयसार, षष्ठाधिकरणम्, श्लोक-2-3।
11. पार्श्वदेवकृत, संगीतसमयसार, षष्ठाधिकरणम् श्लोक, सं0 4-5

●

संगीत शिक्षा में दार्शनिक चिन्तन एवं योग के तत्व

श्वेता राय एवं प्रो0 शारदा वेलंकर***

अध्यात्म की पृष्ठभूमि बुद्धि और चिन्तन पर प्रतिष्ठित है इसीलिए उसका दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक विकास का सम्बन्ध आत्म संतोष से होता है। विशुद्ध वाद्य संगीत, हमारी इंद्रियों को गति प्रदान करता है, इसलिए उसका दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दार्शनिक चिन्तन का भी अंतिम लक्ष्य 'आत्मानं विधि' अर्थात् आत्मा को जानने का प्रयास है। दर्शन का प्रारम्भ ब्रह्म जिज्ञासा से होता है। आत्मा, ब्रह्म, जीवन और जगत तथा जीवन के पुरूषार्थ को पहचानना एवं उस पुरूषार्थ की साधक पद्धतियों के द्वारा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम ही दर्शन के प्रमुख विषय हैं। इन विषयों की छानबीन के लिए आत्मा की शुद्धि, आत्म दर्शन, आत्मानुभूति का अभ्यास, साधना, चिंतन, मनन आदि ही आध्यात्मिक क्षेत्र है और उस लक्ष्य अध्यात्म तक पहुँचने का सरल एवं सहज माध्यम है संगीत। जिस तरह से संगीत एक अथाह सागर है। उसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी एक अगाध समुद्र है। संगीत एवं दर्शनशास्त्र के समन्वय से दोनों क्षेत्र विशेष प्रकार से लाभान्वित होते हैं।

अंग्रेजी में Philosophy शब्द के कई सूक्ष्म भेद हैं। विद्वानों की दृष्टि में परमानंद प्राप्ति, परमानुभूति के अस्तित्व की अनुभूति को शब्दों में बांधना ही Philosophy है। दूसरे शब्दों में अनुभूति क्या है? कहाँ है? कब है? किसके लिए है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की खोज ही Philosophy है। सदियों से मानव की खोज रही है कि अनुभूति कैसे प्राप्त की जाए, इसे कैसे समझा जाए। इसके लिए अनगिनत मार्ग बतलाए गए हैं, और सभी मार्गों में परमानुभूति प्राप्त सद्गुरू के मार्ग दर्शन की आवश्यकता रही है, ऐसे गुरू को पाना आसान नहीं है। आज के समय में समाज क़ाफी परिवर्तित हो चला है और सभी क्षेत्रों में स्वयं सीखने करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस क्षेत्र में (मोक्ष मार्ग में) भी सब के मन में ऐसा ज्वलंत प्रश्न है कि क्या कोई ऐसा मार्ग हो सकता है जो सरल हो, सुलभ हो, जिसकी विधियाँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित हो तथा जिसे किसी गुरू की सहायता द्वारा अपने आप साधा जा सके। इसमें संगीत सबसे सरल एवं अच्छा सहायक सिद्ध हो सकता है। यह कला भौतिक उत्कर्ष एवं यश के अलावा आध्यात्मिक सुख-संतोष का भी साधन मानी जाती रही है।

संगीत और आध्यात्म का सम्बन्ध निरूपण करने से पूर्व भारतीय प्राचीन अध्यात्म साधना विषयक ग्रंथों में संगीत को कितना महत्व दिया गया है, इसका सर्वेक्षण भी अति आवश्यक है।

नाद ब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म-

प्राचीन ऋषिमुनियों ने विश्व की समस्त प्रक्रियाओं में अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया है। यज्ञों के अंतर्गत सामगान का उद्देश्य ज्ञानानुरंजन न होते हुए विश्व को संचालित करने वाली अव्यक्त शक्ति की आराधना ही था। ऋग्वेद की ऋचाओं का उच्चारण तथा सामगान की संगीत परम्परा परमतत्व के अनुसंधान का लक्ष्य लेकर ही चली। सामवेद का गान केवल गान कौशल तक ही सीमित न था अपितु उदात्त भावनाओं को आंदोलित करने वाला भी था। वैदिक संस्कृति में भक्ति और संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सामवेद में गेय छन्द थे और इन छन्दों को तीन स्वरों उदात्त, अनुदात्त व स्वरित में निहित स्वर विन्यास के साथ गाने की परम्परा थी। स्वर को ब्रह्म की उपासना के समान साध्य मानकर स्वरों के ऋषि देवता आदि का भी निरूपण किया गया। स्वर के आधारभूत तत्व नाद को उपास्य तत्व व उपासना का साधन स्वीकार करके वेद, तन्त्रशास्त्र, उपनिषदों आदि में नाद की अपार महिमा गाई गई है, जिनमें शब्द, वाक्, नाद, प्रणव, ओंकार, साम, तथा उद्गीय आदि के माध्यम से संगीत के आध्यात्मिक व दार्शनिक पक्ष की विशद व्याख्या तथा उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

संगीत-रत्नाकर' के रचयिता पं0 शारंगदेव ने ग्रंथ के मंगलाचरण में कहा है.....

''ब्रह्म ग्रन्थि जमारूतानुगतिना चित्तेन हत्पंकजे
सूरीणामनुरंजकः श्रुतिपंद यो डयं स्वयं राजते।

यस्माद् ग्रामविभाग वर्णरचनाडलंकार जातिक्रमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धरजगद्रीतं मुदे शंकरम्।''[1]

''मैं नित्य, जगत के द्वारा उत्कट रूप से गाये गये नाद अथवा शब्द ब्रह्म जिसका शरीर है, उस आनन्दमय शिव को जिससे ग्राम, विभाग, वर्ण, रचना, अलंकार, जाति, क्रम आदि उत्पन्न होते हैं, जो अन्य किसी के ज्ञान आदि की अपेक्षा के बिना

---

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोध निर्देशिका, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

1 संगीत शिक्षण के विविध आयाम, डॉ0 कुमार ऋषितोष, पृ0सं0 74

स्वयं प्रकाशित होता है, उस ईश्वर को नमस्कार है।''

इस प्रकार हम देखते है कि 'संगीत रत्नाकर' में नाद को शिव-स्वरूप कहा गया है। यहीं से नादब्रह्म की अवधारणा का विकास प्रारम्भ होता है। संगीत रत्नाकर में सृष्टि क्रम के अंतर्गत सविस्तार बतलाया गया है कि किस प्रकार नाद ब्रह्म से सृष्टि का विकास हुआ।

इसी संदर्भ में पं0 शांरगदेव ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मानव शरीर में ही नाद ब्रह्म का वास होता है। भारतीय संगीत की यह अपूर्व और अनुपम कल्पना है। किसी अन्य देश के संगीत में नाद की इतनी महिमा देखने को नहीं मिलती है। 'संगीत-रत्नाकर' में तो सम्पूर्ण जगत को ही नादात्मक बताया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विगत कुछ वर्षों पहले 'संगीत एवं दर्शन' पर परिचर्चा हुई थी। जिसमें डॉ. प्रेमलता शर्मा, डॉ. एन. राजम, डॉ. सुभद्रा चैधरी, एवं डॉ. इकबाल जैसे- दर्शन शास्त्री एवं संगीतशास्त्री की उपस्थिति में यह परिचर्चा सम्पन्न हुई थी। विद्वतजन की संगोष्ठी में हुई 'संगीत एवं दर्शन' परिचर्चा के प्रमुख अंश की प्रस्तुति देना चाहुँगी-

''हमारे जितने बड़े-बड़े शास्त्रकार हुए हैं उन्होंने नाद को ब्रह्म कहा है। 'नाद-ब्रह्म' अथवा 'शब्द ब्रह्म'। आचार्य भर्तृहरि ने उसको 'शब्द ब्रह्म' कहा है। आज विज्ञान हमारे सामने बतलाता है कि जितनी शक्ति है वह विद्युत की शक्ति है, हमारे यहाँ के चिंतको ने हमें बताया है कि विद्युत से भी परे एक नाद शक्ति है। आज का विज्ञान, पहले तो मोटे तौर पर ATOM तक, परमाणु तक पहुँचा था और परमाणु का विघटन असम्भव है। ATOM के माने ही यही है 'अ' का अर्थ 'नहीं' तथा Tomeny से बना है 'TOM' जिसको हम आगे तोड़ नहीं सकते वह ATOM था। विज्ञान आज से सौ वर्ष पूर्व ATOM तक पहुँचा था और रदरफोर्ड ने जब अपनी प्रयोगशाला में ATOM को तोड़ डाला तब Atomic Physic समाप्त हो गया। Atomic Energy यानि शक्ति पर उस शक्ति का स्वरूप क्या है? विज्ञान कहता है, शक्ति का स्वरूप विद्युत है- Electron, Proton इत्यादि। हमारे चिंतक शक्ति का अंतिम स्वरूप नाद को मानते हैं।''

स्वभावतः भारतीय चिंतकों का नाद एवं नादात्मक अभिव्यक्ति के प्रति दृष्टिकोण वैज्ञानिकों से भिन्न रहा है। नाद ध्वनि से भिन्न है, यद्यपि गुणात्मक दृष्टि से दोनों परस्पर पर्याय है। वैज्ञानिक की दृष्टि में ध्वनि पदार्थ का एक गुण है। नाद इस भौतिकीय व्याख्या से परे एवं स्वयं ब्रह्म स्वरूप, सृष्टि का आदि और अंत है। नाद ब्रह्म के लिए कहा गया-

''चैतन्य सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना,
नाद ब्रह्म तदानन्द मद्वितीयमुया स्महे।''[2]

उसी नाद से वर्ण, वर्ण से पद और पद से वाणी की अभिव्यक्ति होती है जिसके अन्तर्गत पूरा विश्व है। कबीर ने कहा था, ''निझर झरै अनहत बजै तब उपजे ब्रह्मज्ञाना, जब अनहत बाजा बाजै तब साई संग विराजै।'' नाद, जिसकी साधना से सहज ही मोक्ष मिल जाता है, महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में ''मोक्ष मार्ग निगच्छति।'' संगीत आनंद प्रमोद की अपेक्षा अर्चना मोक्ष का सहज मार्ग, आनंद में डूबने का अनिवार्य परिणाम एवं रसात्मक अनुभूति हैं परंतु संगीतज्ञ का अंतिम लक्ष्य यह नहीं है। यह दृष्टि भेद भारतीय संगीतज्ञों, वैज्ञानिकों तथा अन्य देशों के संगीत से अलग करता है।

नाद के प्रकार

जिस प्रकार ईश्वर के सगुण और निर्गुण परम्पराओं के आधार पर साकार और निराकार ये दो रूप हैं, वैसे ही नाद भी दो प्रकार का माना गया है।

- आहत नाद
- अनाहत नाद

भारतीय परम्परा में नाद तत्व की जो अपार महिमा गाई गई है वह सम्भवतः विश्व की किसी अन्य विचार धारा में नहीं। संगीत का आधारभूत तत्व नाद है जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। इसलिए नाद को ब्रह्म कह कर उपास्य तत्व व उपासना का साधन स्वीकार किया गया है।

आहत नाद स्थूल है, इसे हम कर्णेन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर सकते है। यह ईश्वर के साकार रूप के समान है, जबकि अनाहत नाद को कर्णेन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती। वह ईश्वर का निराकार रूप है। अनाहत नाद का अनुभव अर्न्तज्ञान से ही हो सकता है। संगीत तो जनसामान्य के लिए भी है और युग-द्रष्टा ऋषियों के लिए भी इसलिए आहत नाद को संगीत की अभियक्ति का माध्यम कहा गया है। आहत नाद जनरंजक तो है ही, उपयुक्त परिस्थितियों तथा नियत प्रयोग से यह भवभंजक भी हो जाता है। यहाँ 'नियत' शब्द महत्वपूर्ण है, 'नियत' का तात्पर्य उन नियमों के नियन्त्रित प्रयोग से है, जिनका प्राचीन संगीताचार्यों ने संगीत साधना के संदर्भ में उल्लेख किया है। कोई भी प्रयोग अनियत होने से वांछित मार्ग से डगमगा जाता है। इसलिए संगीत में भी वांछित फल (आत्मिक विकास) के लिए आहत नाद की नियत प्रयोग ही अभिष्ट है। आहत नाद के संदर्भ में संगीत रत्नकर' में कहा गया है ''सगुण (आहत नाद की) उपासना से भोग और निर्गुण (अनहत नाद की) उपासना से मोक्ष प्राप्त होता है, किन्तु अनाहतनाद गेय न होने के कारण इस

2. संगीत शिक्षण के विविध आयाम, डॉ. कुमार ऋषितोष, पृ0सं0 87

पर चित्त को एकाग्र करना कठिन है। इसलिए जनरंजन और भवभंजक आहत नाद की उपासना की जाती है।

संत तथा सद्ग्रन्थों से पता चलता है कि आदि सृष्टि की रचना शब्द के आधार पर हुई, जिसे 'ऊँ', 'नाद ब्रह्म' या 'प्रणव' कहा जाता है तथा जिसका प्रादुर्भाव प्रकाशपुँज के साथ हुआ। इस शब्द अथवा ध्वनि से ही सृष्टि की रचना, स्थिति एवं संहार होता रहता है। यह शब्द सर्वप्रथम कारण अर्थात् अव्यक्त अवस्था में था, जिसे 'आदि' या 'परा' शब्द भी कहा गया, क्योंकि यह अनुभव बुद्धि विचार तथा अभिव्यक्ति के परे था। इसके पश्चात् इसका अनुभव अंतर हृदय में सूक्ष्म रूप में आया और इसे 'अनाहत' या 'अनहद' नाद की संज्ञा दी गई जो केवल अनुभवगम्य होकर 'पश्यन्ति' के स्थान पर अंतःहृदय में स्थित हुआ।

नादात्मिका वाक् एवं वर्णात्मिका वाक्-

'आहत नाद' से ही संगीत और काव्य दोनों की उत्पत्ति होती है पंचमहाभूतों में से प्रथम और सबसे सूक्ष्म आकाश का गुण 'शब्द' ही 'वाक्' तत्व है, जो संगीत और काव्य दोनों का आहार है। इसी वाक् के दो रूप भारतीय विचारधारा में माना गया है- पहला नादात्मिका वाक् और वर्णामिका वाक्। इन्हीं दोनों से क्रमशः संगीत और कव्य की सृष्टि होती है। हमारे यहां 'काव्य' के अन्तर्गत कविता, कहानी, नाटक, गद्य, पद्य सभी प्रकार की रचनाएँ आती है। इस अवस्था में संगीत या शब्द अर्द्ध स्थूल रूप में कंठ में स्थित होकर 'मध्यमा' की स्थिति प्राप्त कर लेता है। यह आहत नाद की मौलिक अर्थात् प्रथम पृष्ठभूमि है। इस नाद अथवा शब्द ने कंठ से बाहर आकर जिह्वा, तालु, दांतों तथा होंठों के संघर्षण से निकलकर संगीत अथवा साहित्य का रूप धारण कर लिया और 'वैखरी' अवस्था में चला आया तथा व्यक्त होकर 'आहत नाद' कहलाया।

दूसरे सरल शब्दों में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि हर्ष, क्रोध, प्रसन्नता, विषाद, भय आदि चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम नादात्मिक वाक् है, जो ईश्वर प्रदत्त है। पशु-पक्षी, मनुष्य सभी चेतन प्राणी किसी न किसी प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करके अपने मनोवेगों को निश्चित रूप से अभिव्यक्ति करते हैं। पशु की ध्वनि सुनकर भी इतना तो जरूर समझ में आता है कि वह हर्ष की अथवा कष्ट की स्थिति में है। मनुष्य भी किसी विशिष्ट प्रकार के आवेग को ध्वनि-विशेष द्वारा व्यक्त करता है। हँसने-रोने, क्रोध करने इत्यादि में उनकी विशिष्ट ध्वनियों के कारण ही यह अनुभव होता है कि अमुक व्यक्ति हंस रहा है, रो रहा है अथवा क्रोध कर रहा है। दो व्यक्ति कुछ दूरी पर बातकर रहे हो किन्तु उनकी भाषा भी समझ में न आए अथवा शब्द सुनाई न पड़े, तो भी हम समझ लेते हैं कि वे आपस में लड़ रहे है, या प्रेमपूर्ण संवाद हो रहा है। इस प्रकार के चित्तवृत्ति बोध के मूल में नादात्मिक वाक् ही होती है। संगीत के मूल में भी यही नादात्मिका वाक् है। इसलिए संगीत को भावाभिव्यक्ति की भाषा कहा जाता है। इस प्रकार नाद ने अपने उद्गम स्थान आत्मा ('परा'- आनंदमय की स्थिति) से उतरकर ज्ञानमार्ग ('पश्यन्ति'- विज्ञानमय) से होते हुए मन ('मध्यमा'-मनोमयकोष) के माध्यम से वाणी ('बैखरी'-प्राणमय तथा अन्नमय अवस्था) द्वारा व्यक्त रूप में प्रस्फुटित होकर संगीत की उपाधि धारण कर ली।

वर्णात्मिक वाक् के द्वारा निश्चित भावों की, विचारों की अभिव्यक्ति होती है, जो ईश्वर प्रदत्त वाणी के मनुष्य कृत विकास का सूचक है। वर्णों से पद अर्थात् 'शब्द' बनते हैं और शब्दों से भाषा बनती है, जो सभी प्रकार के लौकिक व्यवहार का आधार है। लेकिन काव्य का मूल आधार पद् अर्थात् सार्थक शब्द ही है। यद्यपि संगीत और काव्य का दृश्य क्षेत्र है, अलग आधार है, अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न है और प्रभाव भी बिल्कुल अलग है, फिर भी दोनों के संयोग होने पर सोने में सुगन्ध जैसा प्रभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार एक ही कंपन तत्व अनेक रूपों

यह निर्विवाद है कि ध्वनि, शब्द या नाद का मूल कारण है कंपन। कंपन ही अनाहत ना हो के आहतनाद, ध्वनि या शब्द में परिवर्तित करता है। कंपन या आघात के बिना नाद या ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती। धूप को देखकर जिस प्रकार अग्नि का अस्तित्व निर्विवाद हो जाता है, उसी प्रकार ध्वनि या शब्द के श्रवण से कंपन का अस्तित्व भी संदिग्ध हो जाता है। वेद के अनुसार-

''वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत सर्वममृतंभर्त्यच''[3]

अर्थात्- शब्द ही निखिल ब्रह्मांड के निर्माण का कारण है, अतः सम्पूर्ण मृत्य एवं अमरलोक वाणी के ही विकार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि संपूर्ण सृष्टि और उसके अंतर्गत होने वाले सभी व्यवहारों के मूल में कंपन है।

वागेवार्थ पश्यति वाग् ब्रबीती वागे वार्थ सन्निहितनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धन्त देतदेकंप्रविभज्योपभुडक्ते।।[4]

अर्थात्- शब्द ही अर्थ को देखता है, कहता है और उस पदार्थ में निहित आशय को स्पष्ट करता है। शब्द के द्वारा ही यह सृष्टि अनेक रूपों में निर्मित है।

इस प्रकार एक ही कंपन तत्व अनेक रूपों में अभासित है और शब्द, नाद या ब्रह्म में मूलतः अभेद सम्बन्ध है। अतः कहा जा सकता है कि ब्रह्मांड, नादमय या शब्दमय है और इसके मूल में कंपन है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अनुभूतियाँ कंपन पर आधारित है। इस नादब्रह्म के तात्विक ज्ञाता हैं भगवान् शंकर, जिन्होंने नाद ब्रह्म के मूल स्वरूप में लीन होकर तांडव नृत्य किया था और उस नृत्य के अंत में भाव विभोर होकर अपने डमरू को चौदह बार बजाया था, जो व्यवहारिक तथा स्थल ध्वनि का मूलाधार माना जाता हैः-

---

[3] संगीत शिक्षण के विविध आयाम, डॉ0 कुमार ऋषितोष, पृ0सं0 79

[4] वही पृ0सं0 80

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवजंच वारम्।
उद्धर्त्तुकामःसनकादि सिद्धानेतद्विमर्षे शिवसूत्रजालम्।।[5]

यह स्मरणीय है कि गीत के साथ नृत्य और वाद्य, ये दोनों भी संगीत के अंग है; क्योंकि- 'गीतं', वाधं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते' अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों को संगीत कहा जाता है। इनमें नृत्य और वाद्य, ये दोनों मूलतः शंकर जी के तांडव में विद्यमान है। संगीत आंतरिक विषय है। नृत्य और वाद्य का सम्बन्ध बाह्य कंपन से है, और संगीत का आंतरिक कंपन से है। स्पष्ट है कि कंपन के साथ संगीत का अन्योन्याश्रित तथा अभेद सम्बन्ध है। इस नादमय ब्रह्म का परम उपासक श्री गणेश जी को भी माना जाता है। इसीलिए प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए उनका स्मरण आवश्यक माना जाता है और इसी कारण व्यास जी को भी उनकी सहायता लेनी पड़ी थी।

उपर्युक्त आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के मूल में कंपन या स्पंदन है, अतः स्पंदन ही जीवन है। इसके बिना शरीर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस शरीर में कंपन या स्पंदन का अभाव है, वह शरीर मृत या निर्जीव है। उसमें शीघ्र ही विकार होना प्रारम्भ हो जाता है अतः स्पंदन के बिना न तो जीव का अस्तित्व संभव है और न जीवन का, स्पंदन या कंपन ध्वनि या शब्द का उपादान कारण है। बच्चे के जन्म का कारण है कंपन एवं स्पंदन और जन्म के बाद से मृत्युपर्यन्त क्षणमात्र के लिए भी उसमें स्पंदन का अभाव नहीं होता। इसी स्पंदन के कारण बच्चा इन्द्रियों रूप कारणों पर अधिकार प्राप्त करता है। यही अधिकार आगे चलकर स्थूल ध्वनि का कारण बन जाता है तथा उसमें स्पष्ट वर्णों की अभिव्यक्ति होने लगती है।

'नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मतः परः।
नादानुसंध परः पूजा नहि तृप्तः परं सुखम्।।' [6]

अर्थात्- नाद से बड़ा कोई मंत्र नहीं है, अपनी आत्मा से बड़ा से बड़ा कोई देवता नहीं है, नादानुसंधान से बड़ी कोई पूजा नहीं है और तृप्ति से बड़ा कोई सुख नहीं है। इस प्रकार यहां स्पष्ट हो जाता है कि मन को भौतिक तुच्छ इच्छाओं से पराङ्मुख कर परब्रह्म के चिन्तन की ओर अग्रसर करना व उसी में मन को एकाकार करने में 'नाद' सर्वोपरि है। भारत में भक्ति या उपासना के जो भिन्न-भिन्न मार्ग रहे उन सबमें संगीत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्राचीन काल से उपासना के दो मुख्य प्रकार माने गए है। प्रथम वैदिक उपासना, दूसरा तान्त्रिक उपासना। वैदिक उपासना उच्चवर्गीय संगीत साधकों के बीच विशेष रूप से सीमित रही। इसमें बुद्धिमता और अधिक धन की आवश्यकता होने के कारण यह मार्ग सामान्य जनता के लिए सुलभ न हो सकी। तांत्रिक उपासना में जनसाधारण अपनी रूचि और प्रवृत्ति के कारण शिव एवं शक्ति जैसे देवताओं की पूजा-आराधना किया करते थे। इन दोनों ही प्रकार की उपासनाओं में संगीत का विशिष्ट स्थान था। तांत्रिक दोनों परम्पराओं से बना हुआ है। प्रथम के आदि ब्रह्मा से निर्मित माना है। दूसरी को शिव के द्वारा प्रसारित माना जाता है। एक को वैदिक परम्परा एवं दूसरे को आगम परम्परा माना है। संगीत के महत्वपूर्ण ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में इन दोनों ही मतों का समावेश हुआ है। इस प्रकार वैदिक काल से ही संगीत को भावाभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन स्वीकार किया है। सामवेद की रचना से इसका स्पष्ट प्रमाण परिलक्षित किया है। छान्दोग्य उपनिषद से लेकर आधुनिक समय तक संगीत कला का दार्शनिक विवेचन किया गया है।

संगीत में प्रयुक्त होने वाले सात स्वर 'सा रे ग म प ध एवं नि' तथा इनके पांच उप स्वर एवं बाइस श्रुतियां अपना अलग-अलग अस्तित्व, प्रकृति, रंग, रस तथा प्रभाव रखती है। जिनके अलग-अलग सांमजस्य से विभिन्न प्रकार की इमारते खड़ी की जाती हैं, जिन्हें 'राग' की संज्ञा दी गई है 'लगाव' या 'आसक्ति' अर्थात् संगीत की वह कड़ी जो उस परमात्मा से हमारा लगाव या राग पैदा कर सांसारिक विषय-वासनाओं से वैराग पैदा कर दे, जिसके फलस्वरूप हमारा अंतःह्रदय विनम्र और प्रेममय होकर विश्वप्रेमरूपी अनुराग को सहज रूप से धारण कर ले। इसी प्रकार विभिन्न तालो की अलग-अलग प्रकृति एवं प्रभाव है। उदाहरणार्थ- चौताल, मत्ततात, रूद्रताल, गणेशताल आदि गम्भीर एवं तीनताल झपताल, रूपकताल आदि अर्द्धगंभीर तथा दादरा, कहरवा, दीपचंदी आदि चंचल प्रकृति के ताल है। इन तालों की प्रकृति बहुत हद तक विभिन्न लयों पर भी आधारित है तथा लय में परिवर्तन होने के साथ ही तालों की प्रकृति पर भी उसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः लय के तीन प्रकारों 'विलम्बित' 'मध्य' तथा 'द्रुत' की अलग -अलग प्रकृति एवं प्रभाव है। विलम्बित लय गंभीर प्रकृति (सतोगुण प्रधान) मध्य लय अर्द्धगंभीर (रजोगुण प्रधान) तथा द्रुतलय चंचल (तमोगुण प्रधान) है।

संगीत अनुपम कल्पनाओं का एक भव्य प्रसाद है, जिसे स्वरों, तालों एवं लयों की विभिन्न रचनात्मक कल्पनाओं द्वारा भिन्न-भिन्न रंग-ढंग से निर्मित कर प्रस्तुत किया जाता है। यह मानी हुई बात है कि हमारे चित्त में किसी प्रकार के अच्छे या बुरे विचार के भाव होते ही हमारे चिदाकाश में कंपन पैदा होता है, जिसका प्रभाव तत्क्षण बाह्य आकाश पर पड़ता है तथा सारे वायुमंडल को प्रभावित कर देता है। इसी सिद्धान्त पर हमारे चित्त में सुंदर स्वर विन्यासों का जन्म होते ही हमारा चिदाकाश तथा बाह्य आकाश प्रभावित होता है तथा ज्यों ही हम उसे कंठ द्वारा, वाध द्वारा अथवा नृत्य द्वारा मूर्त्त रूप देते है त्यों ही उसका मधुर प्रभाव आस-पास के सभी सजीव तथा निर्जीव पदार्थों पर पड़ता है। हमारे पूर्वजतों द्वारा इस प्रकार की स्वर संरचनाओं द्वारा स्थापित रागों को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है, जिनमें प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक स्वर की स्थापना षड्ज-मध्यम तथा षड्ज-पंचम भाव से उनमें

[5] वही पृ0सं0 87

[6] संगीत शिक्षण के विविध आयाम, डॉ0 कुमार ऋषितोष, पृ0सं0 87

तादात्म्य सम्बन्ध कायम करके उन्होंने आधुनिकतम वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। यदि हम गहराई से देखे तो जितने भी संत महापुरुष अथवा महान आत्माएँ इस धराधाम पर अवतरित हुई। सभी ने संगीत की महत्ता को समझते हुए इसे ईश्वरोपासना की श्रेष्ठतम कड़ी समझा तथा इसे अपने साथ रखा। व्यक्तित्व के विकास हेतु भी संगीत के दार्शनिक पक्ष को समझना अति आवश्यक है। जिससे उनमें सद्गुणों का विकास सुचारू रूप से निरंतर हो सके। जब चर्चा हम दार्शनिक विचारों की करते हैं तो योग विषय अपने आप ही इसमें समाहित हो जाता है।

योग साधना व संगीत साधना की प्रक्रिया में भेद होते हुए भी दोनों में कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। मूलभेद तो यही है कि योगसाधना, अनाहत नाद की साधन आहत नाद की साधन है। गायक के गुणों में कुछ ऐसे गुण है जो कलाकार की वैयक्तिक प्रतिभा से अर्थात् ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा से सम्बन्धित है, परंतु कुछ गुण ऐसे हैं जिन्हें साधना से परिपुष्ट किया जा सकता है। स्वर की मधुरता, सुशरीर अर्थात् कण्ठध्वनि का लचीलापन, आयत्त कण्ठ, अजस्त्र लयता, सुन्दरता आदि गुणों का सम्बन्ध मूलतः शरीर, कण्ठ व कण्ठ तन्त्रियों से है। यह गुण जन्मजात भी होते हैं और यम, नियम, आसन व प्राणायाम द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं, क्योंकि आधारभूत में जा सकते हैं। गायक को एकाग्रचित व सावधान होना चाहिए। यह दोनों वृत्तियाँ करने पर भी थकान का अनुभव न हो यह मानसिक गुण तब तक संभव नहीं है, जब तक मन की चंचलता को वश में नहीं किया जाए। मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम, प्रत्याहार सम्बन्धित है।

संगीत ज्ञान के अभाव में सुंदर शरीर, मधुरकण्ठ व चित्त एकाग्रता होने पर भी अभ्यास का लक्ष्यपूर्ण नहीं होता है। अतः स्वर साधना द्वारा योग्य गुरु से प्राप्त किया हुआ ज्ञान फलीभूत होता है। संगीत संबंधी नियम, राग-रागांग आदि का ज्ञान, प्रबंध आदि गेय विद्याओं का ज्ञान, गमक, काकु आदि का प्रयोग संगीत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने से ही संभव है। प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्ण के विचारों में- ''मनुष्य को अध्यात्म की ओर ले जाना ही भारतीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है। शिक्षार्थी ब्रह्म में विचरण करने वाला (ब्रह्मचारी) होता है और विद्यार्थी जीवन ब्रह्म में विचरण करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। शिखा ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है। भगवत् शक्ति का श्वास-प्रश्वास ज्ञान है। सर्वशक्तिमान से ही ज्ञान का पूत प्रभाव प्रवाहित होता है ज्ञान का अर्थ विद्या नहीं है वह यथार्थ आत्मानुभूति है, यद्यपि ज्ञान की प्राप्ति विद्या, चिंतन और तपस्या का फल है। अतः जिस प्रकार योगी को गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार संगीत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य गुरु के मार्ग निर्देशन व अभ्यास की आवश्यकता होती है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय सभ्यता संस्कृति एवं संगीत- मित्तल, अंजली, मदन सचदेव कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 11002
2. भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण- शर्मा, डॉ0 स्वतंत्र, टी0एन0 भार्गव एण्ड सन्स, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2010
3. संगीत शिक्षण के विविध आयाम- ऋषितोष, डॉ0 कुमार, कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 110002

●

मानव-आचरण, क्रिया और थकावट पर संगीत का प्रभाव

निर्मल कुमार एवं डॉ0 संगीता सिंह***

भारतीय संगीत की आत्मा, उसकी राग-रागनियाँ केवल बाह्य स्वर पर व्यक्ति के चेतन को उद्वेलित करके ही अपना कर्तव्य नहीं समाप्त करती, बल्कि व्यक्ति में अंतर्निहित सूक्ष्मताओं और वैशिष्ट्यों को, उसके हृदय के प्रत्येक तार को झंकृत करती हुई शरीर और मन के प्रत्येक अणु को अपने स्वर में बदल देती है, अपने रूप में समाहित कर लेती है। राग विविध मनोदशाओं के द्योतक होते हैं और इसी कारण वे अपनी भावदशा के अनुरूप व्यक्ति के आचरण, क्रिया और थकान पर अपना प्रभाव डालते हैं। संगीत के विषय में कोई मनोवैज्ञानिक तर्क नहीं दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि संगीत के राग केवल मनुष्य को ही प्रभावित नहीं करते, अपितु समस्त जीव-जंतु एवं वनस्पति जगत पर इसका प्रभाव पड़ता है। आदिम काल से संगीत जन-जीवन के आत्मिक उल्लास और सुखानुभूतियों की ललित अभिव्यक्ति का मधुरतम माध्यम रहा है। विश्व के कण-कण में संगीत ईश्वर के अंश कीतरह व्याप्त है। प्राचीन काल में ही जब पुस्तकों और चलचित्रों का अभाव था। दैनिक परिश्रम नर-नारी जब शान्तचित्त होकर सामूहिक सामवेद गायन में तल्लीन हो जाते थे तो उस समय उनके हृदय के तार-तार झंकृत हो उठते थे। यही नहीं सामवेद के मंत्रों के गायन द्वारा असाध्य रोगों का उपचार भी किया जाता था। संगीत की चरम सिद्धि ने रागों की प्रभावशीलता को इतनी आलौकिक सामर्थ्य से संप्रकृत कर दिया था कि रागों के द्वारा दीप प्रज्ज्वलित करने तथा वर्षा को न्योतने की सम्भावनाओं के क्षितिज मनुष्य ने छू लिये थे। उत्तम कृषि के लिए भी सामवेद के मंत्रों का गायन किया जाता था। धीरे-धीरे आज के वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि संगीत के माध्यम से मनुष्य और प्रकृति को वशीभूत किया जा सकता है। जगदीश चन्द्र बसु ने संगीत का प्रभाव वनस्पति पर सिद्ध कर दिखाया था। सिद्ध रागिनियों का प्रभाव जड़-चेतन पर निर्विवाद रूप से एक सा होता है। लंदन की स्वास्थ्य पत्रिका, ''हॉस्पिटल एवं हेल्थ-मैनेजमेंट'' में प्रकाशित लेख में अगर रोगी व्यक्ति को हर रोज अगर मधुर संगीत सुनाया जाए तो वे शीघ्र ही आरोग्य लाभ कर सकते हैं। न्यूयार्क के डॉ0 एडवर्ड पोरेलास्की और इंग्लैण्ड के डॉ0 मिथु ने अपने अनुभवों के आधार पर बताया है कि संगीत के स्वर मनुष्य के शरीर पर एक विशेष प्रकार का कंपन पैदा करते है, जिससे रक्त संचरण तेज हो जाता है, फलस्वरूप विषैले एवं विजातीय तथ्य विचलित होकर निसर्ग-मार्गों से होकर निकल जाते हैं जिससे मनुष्य को स्वस्थ्य होते देर नहीं लगता है। इसी प्रकार वाल्टर एच0 बोल्स ने भी पांडु, यकृत एवं अपच जैसे रोगों ने संगीत का औषधियों से अधिक गुणकारी सिद्ध किया है। डॉ0 जार्ज स्टीवन्सन और डॉ0 विन्सेंट पील ने संगीत का सभी मानसिक तनावों के निराकरण की अचुक औषधि कहा है। उनका कहना है कि संगीताभ्यास के समय चित्र को विश्रांति ही नहीं अपितु आत्म प्रसार भी उपलब्ध होता है।

स्वयं भगवान श्री कृष्णा श्री गीता में कहे हैं-

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदय न चा।
मदभक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारदा।

प्लेटो ने जो कहा है वो तो शानदार अभिव्यक्ति है, 'आत्मा के लिए संगीत उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार शरीर के लिए व्यायाम।''

संगीत चिकित्सक डॉ0 बी0सी0 देव ने संगीत और उसके प्रभाव तथा मनुष्य के मानसिक व शारीरिक रोगों पर चर्चा करते हुए बतलाया है कि संगीत चिकित्सक का अपना व्यक्तित्व भी रोगी के इलाज से काफी सीमा तक उपयोगी होता है। डॉ0 देव का कहना है कि अनेक मानसिक रोगियों को, जिन्हें असाध्य घोषित कर दिया गया था, संगीत के प्रयोग से रोग मुक्त किया जा चुका है।

संगीत का प्रभाव क्यों और कैसे होता है इस बात पर विश्लेषण करने के पूर्व यह स्पष्टतया समझना होगा कि ध्वनि तरंगों का प्रभाव (जो वायु के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती है।) उन समस्त स्थानों पर समान रूप से होती है, जिन्हें कि वे स्पर्श करती हुई जाती है। इस सन्दर्भ में संगीत की परिभाषा का ध्यान करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, ''स्वरों के उस लय युक्त रचनाको संगीत कहते हैं, जो चित्त को प्रसन्नता प्रदान करें'' नियमित आंदोलन वाली ध्वनि ही 'स्वर' है और नाद का काल ही उसकी 'लय' है कोई भी नाद बिना काल के तो उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इसलिए संगीत में प्रभाव उत्पन्न करने वाली जो विचारणीय वस्तु रह गई है। वह है 'स्वर' या 'नियमित आंदोलन वाली ध्वनि' अब यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि जब वायु के माध्यम से नियमित आंदोलन वाली संख्याओं की नाद लहरें एक स्थान से दूसरे स्थान तक जायेगी तो जहाँ-जहाँ वे स्पर्श करेंगी, उन सब स्थानों पर नियमित एवं नियम के अंतर्गत होने वाले आंदोलनों का ही प्रभाव होगा। नियमित आंदोलनों का प्रभाव उन अनियमित आंदोलनों से

* शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * शोध निर्देशिका, एसोसिएट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भिन्न होगा, जो किसी नियम के अन्तर्गत न होने से अस्त-व्यस्त सा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। नियमित आंदोलनों की ध्वनि तरंगों का प्रभाव जीव-मात्र पर, उनकी प्रकृति के अनुरूप होगा अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रिय होगा तथा अनियमित आंदोलनों की ध्वनि का प्रभाव प्रतिकूल होगा अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तरंग अप्रिय होगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व संगीतकार के मन की अनुभूति के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति और फिर उससे श्रोता के मन में होने वाली भावानुभूति ही है। संगीत द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने में संगीत के स्वरों का विशेष महत्त्व है। आचार्य निःशंक शारङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' के स्वराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से सम्बन्धित स्नायुओं का सम्बन्ध होता है वैज्ञानिक ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, कि विभिन्न स्वरों के उच्चारण से शरीर अंगों का व्यायाम होता हैं। एक आस्ट्रियन वैज्ञानिक बी0एम0 लैजर लैजरियों ने लिखा हे कि 'अट्ठारह वर्ष की अवस्था में उन्हें गठिया हो गया था। एक दिन उनकी एक पड़ोसन अपने बच्चे को लाकर उनके पास छोड़कर किसी काम से चली गई। बच्चा लेटा हुआ 'ला.ला.ला.ला.' गा रहा था, गाते समय बच्चे के ऊपर की पसलियाँ चलती थीं, मैंने 'स्वयं भी 'ला' अक्षर को कहा तो वही प्रभाव मेरी पसलियों पर भी हुआ, उसी प्रकार बच्चे द्वारा अन्य अक्षर जैसे 'पू' आदि कहने से बच्चे के पेड़ू में उत्तेजना होती थी, मैंने इस घटना के उपरांत कई स्वरों और अक्षरों का उच्चारण किया। धीरे-धीरे अभ्यास होने पर गठिया आरंभ में आराम होने लगा और मैंने तब से यह महसूस किया कि स्वरों के उच्चारण से मेरे मनोभावों पर प्रभाव पड़ रहा है, साथ ही रूधिर संचार तथा सहायक तंतुओं के परिवर्तन को अपने वश में कर सकता है, इन उच्चारणों के द्वारा शरीर के दुर्बल भागों में रक्त का संचार हो सकता है।''

संगीत द्वारा रोगों को दूर करने की बात पुरानी है। सामवेद में रोगों के निवारण हेतु राग गायन का विधान मिलता है।

पाश्चात्य जगत् में संगीत के रोग शामक रूप का विवरण भी प्राप्त होता है, मिश्र के 'मेडिकल पेपटी' ग्रंथ में बताया गया है कि संगीत का प्रभाव स्त्रियों पर उनकी प्रजनन क्षमता को बढ़ने के रूप में किये जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं। 'बाइबल' में विवरण है कि डेविड ने राजा साझोल के सामने संगीत प्रदर्शन किया, जिससे राजा को स्वास्थ्यता और शांति का अनुभव हुआ। टिमाथियस ने एक और घटना का विवरण दिया है, जिसमें उन्होंने 'लायर' नामक वाद्ययंत्र बजाकर सिकंदर की अचेतानावस्था दूर कर चेतना अवस्था प्रदान कर दी। तानसेन, बैजू बावरा और हरिदास के बारे में भी अनेक ऐसे विवरण हमें सुनने को मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है संगीत का प्रभाव मानव आचरण क्रिया और रोगों पर पड़ता है।

मानव पर संगीत के प्रभाव को भिन्न-भिन्न पक्षों में आँका जा सकता है। शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में निहित पत्रों का प्रयोग मनुष्य की शारीरिक गतिविधियों एवं बीमारियों के उपचार हेतु किया जाता था। आदिकाल से मनुष्य औषधि एवं चिकित्सा पद्धति का समन्वय कर संगीत से मनुष्य का उपचार करता रहा है। संगीत के साथ स्वरों की संरचना मनुष्य के शरीर के सात प्रकृतियों से की जा सकती है। उचित रागों का प्रयोग मस्तिष्क से नकारात्मक भावनाएँ जैसे अकेलापन, तथा पराश्रित रहने को दूर करती है। मस्तिष्क और स्नायु रोग संबंधी समस्याओं के समाधान में संगीत एक श्रोत है। व्यक्ति की शारीरिक क्रियाशीलता को यह उत्तेजित करता है एवं स्नायु तंत्रों की उत्तेजना से रोगी की फिजियोथेरेपी के कार्यों में भी सहायता मिलती है। संगीत के अन्य उपचार शक्तियों में शंखनाद द्वारा पेट की कमजोर मांसपेशियों को मजबूत किया जा सकता है। पियानों बजाने से वादक की ऊँगलियों का संयोजन सुधरता है। दिव्यांग बच्चे संगीत की आवृत्तियों पर अपने शारीरिक संचालन द्वारा शारीरिक सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। वैज्ञानिक संगीत की लय और धुन का प्रयोग मस्तिष्क को सुधारने, शारीरिक कष्ट को कम करने एवं उच्च एवं निम्न रक्तचाप को नियंत्रित करने में करते हैं। तेज धुनों से निम्न रक्तचाप को नियंत्रित किया जाता हैं जबकि उच्च रक्तचाप को नियंत्रित करने की दिशा में मंद गति की धुने, जिसमें कोमल स्वरों को समावेश होता है, सहायक सिद्ध होती है, कोमल, शुद्ध और तीव्र सांगीतिक स्वर मनुष्य के हृदय गति को बढ़ा सकते हैं या घटा सकते हैं। रक्त प्रवाह या रक्तचाप में संगीत की ध्वनियाँ बहुत प्रभावी होती हैं। शास्त्रीय संगीत के रागों का मानव शरीर पर प्रभाव पड़ता है-इस विषय में अनेक अनुसंधान हुए हैं। पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने अपने गायन द्वारा कई दिनों से जगते रहने वाले मुसोलिनों को सुला दिये इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त संगीतकार और डॉ0 मिलकर अनिद्रा से पीड़ित रोगियों को सुला सकते हैं और रागों का मानव शरीर और मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति जब भी राग कलिंगड़ा को सुनता था तो बहुत अस्त व्यस्त हो जाता था और उसके दिल की धड़कन बढ़ जाती थी। इसी प्रकार भी कई व्यक्तियों को भावुक या रुला देने में सक्षम है किन्तु सभी रागों का एक सा प्रभाव प्रत्येक व्यक्तियों पर नहीं पड़ता है, राग हिंडोल द्वारा श्रोता के मन में ताजगी का अहसास कराया जा सकता है राग श्री शांति एवं नीरवता का प्रतीक है, जब राग मल्हार वर्षा ऋतु का भाव पैदा कर श्रृंगारिक भावनाओं को जगाने में समर्थ है। राग भैरव सुनकर मनुष्य को ब्रह्म मुहूर्त एवं प्रातःकाल की भव्यता का अनुभव होता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है। कि पं0 रविशंकर द्वारा चार रागों क्रमशः काफी, मिश्रमांड, पुरिया धनाश्री एवं रागेश्वरी रागों के सम्मिलित वादन को 25 मिनट के एक टेप में आबद्ध किया गया था, 37 विद्यार्थियों को जो 20 से 30 वष्र के आयु वर्ग के थे, सुनवाया गया। इन विद्यार्थियों ने जो प्रतिक्रियायें व्यक्त की वह इस प्रकार थी कि राग रागेश्वरी संध्या बेला के गहन एवं शांत प्रभाव को पैदा करती है, राग काफी आनन्द एवं भक्ति रस से ओतप्रोत करती है, राग पूरिया धनाश्री शारीरिक थकान कामना तथा शान्ति का प्रभाव पैदा करता है। यह भी देखा गया है कि राग शंकरा, पटदीप

एवं हिंडोल द्वारा 8 वर्ष से 1/8 वर्ष तक के आयुवर्ग के बच्चों में व्यावहारिक बदलाव लाने में मदद मिली है। बड़ौदा में एम0एस0 विश्वविद्यालय द्वारा कुछ प्रयोग उन रोगियों पर किये गये जो हृदय रोग, कुंठित मन एवं कम सुनते थे। यह पाया गया कि रागों में विहाग, काफी, मालकौंस, रामकली, हिंडोल, बहार, देशकार, ललित और जयजयवंती इन रोगियों के उपचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। विभिन्न वैज्ञानिकों ने इस ओर भी अनुसंधान किया है कि मलेरिया, अनिद्रा, मिरगी, क्षयरोग, कब्ज, टायफायड और अन्य बहुत से रोग विभिन्न रागों जैसे हिंडोल, मारवा, बिलावल, तिलंग, रामकली, मुल्तानी, खमाज इत्यादि के गायन-वादन से ठीक किये जा सकते हैं। इसी प्रकार अड़ाना, दरबारी कान्हणा, कलिंगड़ा आदि राग भी विभिन्न रोगों के उपचार में सहायक है। राग जैजेवंती का गायन भी रोग निवृत्ति में विशेष प्रभावी है। राग भैरवी अच्छी निद्रा और रोगियों को शांति प्रदान करती है। स्मरण शक्ति बढ़ाने में राग शिवरंजनी, तनाव काम करने में तोड़ी, सहायक सिद्ध हुई है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने स्वरों के चक्र का कोशिका, स्नायुतंत्र, धमनियों एवं मनुष्य की शारीरिक संरचना से सम्बन्ध बताया है। पं0 अहोबल ने भी अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में भारतीय संगीत की 22 श्रुतियों का मनुष्य के शरीर की 22 धमनियों से सम्बन्ध बताया गया है। इसी प्रकार नारद ने अपने संगीत ग्रन्थ संगीत मकरन्द में कहा है कि दीर्घायु, धर्म, चातुर्य, सम्पदा, अच्छी फसल, लाभ, समृद्धि एवं संतान षाडव रागों का प्रयोग युद्ध में विजय प्राप्त करने, सौन्दर्य प्राप्त करने, यौवन एवं वीर पुरुषों की गाथा गान में विशेष प्रभावी होता है जबकि औड़व राग रोगों के निदान में, शत्रु विजय में, दुख एवं भय पर विजय प्राप्त करने एवं निर्धनता तथा खराब स्वास्थ्य ठीक करने में विशेष प्रभावी सिद्ध होती है।

सामवेद के गान विधान में बहुत सारे रोगों के उपचार हेतु ऋचाओं को दिया गया है। ऋषभ प्रधान राग थकान, कमजोरी और निम्न रक्त चाप के उपचार में सहायक होते हैं। इन रागों का प्रयोग संगीत चिकित्सा के रूप में किया जाता है। संगीत मकरंद के संगीताध्याय के चतुर्थ पाद में नारद ने लिखा है।

आयुधर्मयशोबुद्धिः धनधान्यफलः लभेत्।
रागाभिवृद्धि सन्तानं पूर्णराजाः प्रतीयते्।।

संग्राम रूप लावण्यं, विरहं गुणकीर्तनम्।
षाडवेन प्रगातव्यं लक्षणं गदितं यथा।।

व्याधि नाशे, शत्रुनाशे भयशोक विनाशनो
व्याधि दारिद्रय संतापे, विषम ग्रह मोचने।।

कायाऽम्बरनाशे च मंगल विषसंहते।
औडवेन प्रगालव्यं ग्रामशान्त्यघंकर्मणि।।

अर्थात् आयु, धर्म, यश, बुद्धि धन, धान्य, फल, लाभ, संतान की अभिवृद्धि इत्यादि के लिए पूर्ण रागों का गायन करना चाहिए। संग्राम, रूप लावण्य, विरह और किसी के गुण-कीर्तन की दशाओं में शाडव रागों का गायन करना चाहिए किसी व्याधि को दूर करने, शत्रु नाश करने और भय-शोक के विनाश में किसी व्याधि या दारिद्रय के संताप या विषम गृह मोचन करने के लिए शारीरिक अस्वास्थ्य और मंगल के लिए औडव रागों का गायन करना चाहिए जो ग्राम के शान्ति कर्मों में भी प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार संगीत मकरन्द में विभिन्न दशाओं में इन रागों के गायन-वादन का निर्धारण किया गया है। क्या इन रागों के प्रयोग से वस्तुतः वे फल होते हैं, जिनका निर्देश इन ग्रंथ में किया गया है।

प्राचीन भारत में संगीत के द्वारा रोगों की चिकित्सा होती रही होगी, इन ग्रन्थों के द्वारा हमें एक स्थूल आधार मिलता है। आज भी भारतवर्ष में राग-रागिनियों का प्रयोग मानव के विभिन्न रागो के उपचार के लिए किया जा रहा है। मुम्बई के श्री नारायण अग्रवाल द्वारा रचित एवं निर्मित ऑडियो कैसेट का एलबम बहुत लोकप्रिय हुआ है, जिसमें सर्वप्रथम उन्होंने चार कैसेट बनायें, उसमें बाँसुरी, सितार, तबला एवं गिटार जैसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया गया है। विशेष रूप से कैसेट 'जीवन' 'तनाव' 'विश्राम' 'निद्रा' इन नामों से उपलब्ध है। कैसेट ''जीवन'' में जीने के लिए संगीत को प्रस्तुत किया गया है। पं0 विश्वमोहन भट्ट, पं0 तरूण भट्टाचार्य, पं0 रोनू मजुमदार एवं पं0 रमेश मिश्र द्वारा इस कैसेट में गिटार, बाँसुरी, तबला, सारंगी पर जो संगीत दिया गया है, वह भावनात्मक असंतुलन, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप दुःखी हृदय एवं उत्तेजित भावनाओं के लिए संगीत प्रदान करता है। इनका प्रयोग आशाओं को बढ़ाने एवं स्फूर्ति के प्रतिपादन के लिए किया जा सकता है। संगीत का प्रयोग अस्पतालों में, नर्सिंग होम में, गर्भावस्था के दौरान एवं बीमारियों के उपचार के लिए किया जा सकता है।

भारतीय संगीत के सैकड़ों राग-रागिनियाँ हैं पर प्रत्येक का दिन के निश्चित प्रहर के लिए प्रयोग होता है और इस प्रकार कलाकार और श्रोता को यह गायन के समय एक विशिष्ट प्रकार के समय और प्रकृति से जोड़ देता है। हिन्दुस्तानीरागों के विशाल धरोहर में राग नट भैरव हाल ही में जोड़ा गया। दुःखी हृदय पर राग नट-भैरव मलहम का काम करता है। शुद्ध ऋषभ का स्वर व्यक्ति की अंतर चेतना को स्पर्श करता है और आशा का संचार करता है।

दूसरा कैसेट 'तनाव' मन्त्रोचारण के साथ प्रारम्भ होता है, जो तनाव दूर करता है। प्रख्यात बाँसुरी वादक एवं रचयिता रघुनाथ सेठ ने दुःखी हृदय के तारों को छू देने वाली संगीत का निर्माण किया है जिनकों उन्होंने दो रागों के सामान्य आलाप और तानों के द्वारा प्रस्तुत किया है। यह कैसेट तनाव को कम करता है और व्यक्ति के मानसिक संतुलन को ठीक करता है। तीसरा कैसेट 'विश्राम' व्यक्ति के चैतन्य एवं स्नायु तंत्रों को स्पर्श करता है। संगीत के वाद्य यंत्रों

में संतूर एक ऐसा वाद्य यंत्र है, जो पीड़ित हृदय को आराम पहुँचाने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। संतुर के तारों के मधुर स्वर लहरी का शीतल प्रभाव पड़ता है जो बीमार व्यक्ति के भय एवं तनाव को दूर करने में सहायता प्रदान करता है।

इस कैसेट में पं0 तरूण भट्टाचार्य ने राग परमेश्वरी, जन सम्मोहिनी और कुछ ऐसी अन्य धुने बजाई है जो भैरवी पर आधारित है। शुद्ध धैवत और कोमल गंधार का राग परमेश्वरी में सम्मिश्रण टुटे हुए हृदय को आराम की अनुभूति कराता है। पं0 तरूण भट्टाचार्य और उस्ताद साबीर खाँ की जुगलबन्दी से उत्पन्न संगीत शीतलता और आराम पहुँचाता है। चौथा कैसेट निद्रा, नींद में सुलाने के लिए मधुर संगीत उपलब्ध कराता है। पं0 रघुनाथ सेठ का बांसुरी वादन श्रोता के मस्तिष्क को शांति देता है राग मिश्र पीलु का प्रत्येक आलाप और मधुर धुन 'धीरे से आना' और सो जारी सो जा'' जो राग बहार में है, श्रोता को इतनी शांति प्रदान करता है कि उसे अर्द्ध चेतन में पहुँचा देता है। उसी प्रकार आलाप, राग विहाग और राग, मलय, मारूत्तम निद्रा का अहसास कराता है। इस कोलाहल के संसार में यदि ऐसा प्रयोग सफल होते हैं तो निश्चित ही यह भारतीय संगीत के लिए एक बड़ी उपलब्धि होगी।

भारतीय संगीत के अनेक ऐसे राग हैं जो कई बीमारियों की चिकित्सा में बड़े प्रभावी सिद्ध हुए हैं। कुछ सांगीतिक क्रियाएँ जैसे लयकारी पर नृत्य, व्यायाम, कसरत, चित्रकला और संगीत चिकित्सा की अन्य क्रियाएँ तनाव दूर करने एवं आनंद प्रदान करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। गीत संचार एवं ध्वनियाँ भावनाओं पर सीधे प्रभाव डालती है। युवा वर्ग को संगीत शिक्षा द्वारा अधिक क्रियाशील बनाया जा सकता है। उनमें कलात्मक अभिरूचि तथा व्यावसायिक गुणों का विकास किया जा सकता है। यह पाया गया है कि बालक के विद्यालय एवं विद्यालय के परिवेश के बाहर के वातावरण में उसकी शैक्षिक उपलब्धियों में संगीत का बड़ा प्रभाव रहता हैं। संगीत का यह प्रभाव वैज्ञानिक एवं चिकित्सीय आवश्यकताओं पर आधारित है।

इसी सन्दर्भ में मैं कुछ अपना अनुभव बताना चाहता हूँ कि मेरे ऊपर संगीत का क्या प्रभाव हैं जब भी मैं अभ्यास के पूर्व कुछ अच्छे संग्रह जो मेरे पास जैसे शास्त्रीय संगीत पर आधारित भजन मेरे प्रिय राग जैसे, भीमपलासी, चारूकेसी, केदार, हेमन्त, मारवा, सोहनी इत्यादि जब सुनकर अभ्यास करने बैठता हूँ तो दो-चार घण्टे ज्यादा अभ्यास कर लेता हूँ। इसी सन्दर्भ में जब मैं सन्तूर पर राग किरवानी, पहाड़ी, इत्यादि सुनता हूँ तो मैं बेहद शान्तिपन का अहसास करता हूँ और जब मैं कभी बेहद थकावट या बुखार इत्यादि से पीड़ित रहता हूँ तो तबला वादन का श्रवण करता हूँ और देखते ही देखते मैं सामान्य स्थिति में आ जाता हूँ।

रूसी वैज्ञानिक और संगीतज्ञ डॉ0 बेरिवनिस्की ने अपने प्रयोगों से यह पाया कि कुछ रागात्मक बंदिशों से अनिद्रा हो गई। यह भी पाया गया है कि ये बंदिशें रोगियों के दर्द को भी घटा देती थीं। डॉ0 हर्बट स्पेन्सर ने कुछ और प्रयोग किये और पाया कि द्रुत गति से बजती धुनें और तीव्र स्वरों के प्रयोग वाली धुनों से निम्न रक्तचाप से पीड़ित रोगियों को लाभ पहुँचा। रूसी वैज्ञानिक डॉ0 गोजिएल ने पाया कि संगीत रक्त संचार को प्रभावित करता है। इससे रक्तचाप कभी बढ़ता है कभी घटता है, हृदय की धड़कन साधारणतया बढ़ जाती है और यह वृद्धि तथा रक्तचाप स्वरों की तारता तीव्रता और ध्वनि-गाम्भीर्य पर निर्भर करती हैं। जिन-जिन रोगियों पर ये तथा इस प्रकार के अन्य प्रयोग किये गये हैं। उनसे पता चलता है कि सभी रोगी शांत हो जाते हैं और कुछ पूर्ण रूप से आरोग्यता लाभ करते।

आयुर्वेदाचार्यों ने व्यक्ति की प्रकृति के तीन प्रधान भेद बताये हैं-कफ-वात और पित्त। व्यक्ति का शरीर और व्यक्ति ही क्यों, सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं तीन विकृतियों, जिन्हें आयुर्वेद के शब्दों में त्रिदोष भी कहते हैं में विभाजित है। संगीताचार्यों ने भी कंठ नाद के भेद कफ, बात, पित्त के आयुर्वेदीय सिद्धान्त पर स्थिर किये हैं। कफ की अधिकता से उत्पन्न नाद, श्रुति, स्वर पर शब्द स्निग्ध, गुरु, गाम्भीर्य युक्त, स्थिर तथा मधुर होता है। उस स्वर या श्रुति समूह को 'काहुल' या 'कफज' स्वर कहा जाता है। पित्त की अधिकता से उत्पन्न नाद तीव्र सुनाई पड़ता है। वह कर्कश प्रकार का होता है। इसे माधुर्य नाम मात्र का भी नहीं होता है। इसमें प्रकार के नाद को 'नारट' कहते हैं। वात आधिक्य होने पर स्नेह और माधुर्य रहित ऊँची स्वर सुनाई देती है। गायक इस समय चाहकर भी श्रुतियों पर स्थिर नहीं रह सकता है। कभी भी स्वर ठीक श्रुति पर नहीं लगते। तारता गुण के कारण उस नाद की 'बोंवट' कहते हैं।

इसी तरह वात पित्त, वात्त कफ और कफ के प्रकार के नाद या शब्द भेद भी होते हैं जिस प्रकार ये वात, पित्त और कफ-तीन धातु गति चेतन और मंदता के भौतिक गुणों के द्योतक है, वैसे ही वे स्वरों की तारता, तीव्रता और माधुर्य के लिए प्रयुक्त होते हैं। पिंड से ब्रह्मांड तक के सभी पदार्थ व घटनाएँ इन तीन गुणों के साम्य या वैषम्य से जो स्थिति पैदा होती है उसका असर हृदय की नाड़ियों या स्नायु-तंतुओं पर पड़ता है, जिसके झंकार या आंदोलन को श्रुति या स्वर कहते हैं।

इस प्रकार संगीत से मानव शरीर पर अनेकों प्रकार से प्रभाव पड़ता है, अच्छे संगीत से मनुष्य के (Muscles Moter activity) की बढ़ जाती है।

2. मानव के मस्तिष्क पर संगीत का प्रभाव

मानव के मस्तिष्क पर संगीत का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। संगीत रचना, संगीत गायक-वादन और संगीत श्रवण का उपयोग मानसिक रोगों के लिये किया जा सकता है। रोग हमारे मन, मस्तिष्क संवेग या शरीर पर प्रभाव डाल सकता है और इसलिए आक्रांत अंग को ध्यान में रखते हुए इसका प्रयोग करना चाहिए।

यदि रोगी स्वयं ही गायन-वादन करना चाहें तो उन्हें उपर्युक्त माध्यम का प्रयोग, गायन, मात्र तंत्र वादन, चाहें अकेले में या समूह में करने की ठीक शिक्षा दी जानी चाहिए। रोगी को संगीत के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। अन्यथा रोग ठीक नहीं होगा, यह जानना चाहिए की बहुत से साद्यातिक रोगों में संगीत निश्चित रूप से शारीरिक गति और अंग प्रत्यंग संचालन के नियंत्रण में प्रभावकारी रूप से सहायता करता है। मानसिक रूप से अविकसित बच्चों की शिक्षा के लिए संगीत का उपयोग बहुत सहायक है। संवेदात्मक रूप से अनियंत्रित और मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ्य बालकों पर संगीत चिकित्सा का उपयोग बहुत कारगर साबित हुआ है। ऐसे बच्चों को, जिनका मस्तिष्क किसी भी शारीरिक और मानसिक क्रिया के करने में अक्षम रहा हैं उन्हें भी इस चिकित्सा से लाभ मिला है। डॉ0 एरविन एच0 शानदूडर ने दस ऐसे बच्चों पर प्रयोग करके निष्कर्ष निकाला कि ऐसा संगीत जो शारीरिक उत्तेजना देता हो, उन रोगियों से विशेष कर उपयोगी रहा, जिन्हें 'एथाँइड' कहा जाता है किन्तु संगीत का प्रभाव सभी रोगियों पर निश्चित रूप से पड़ा। रोगी की उम्र, रोग का प्रकार और चिकित्सा की मात्रा तथा प्रकार नियामक थे, जिनसे संगीत का प्रभाव मापा जा सकता था।

चार्ल्स कील तथा आंगेलिकी नामक दो संगीत शास्त्रियों ने मानसिक रोगियों के दो समूह किये। एक पर उन्होंने विदेशी संगीत सुनाने का प्रयोग किया और दूसरे समूह के लिए भारतीय संगीत के रागादि, उत्साहवर्धन और प्रफुल्लताद्योतक राग उन्होंने चुने। प्रयोग के परिणामों को देखने पर इन वैज्ञानिकों ने पाया कि भारतीय राग-रागनियों से अधिक आशातीत फल प्राप्त हुए और विदेशी संगीत रचनाओं से कम। वास्तव में स्वरों के उच्चारण के ढ़ंग राग गायन वादन की गति तथा स्वरों की तारता व तीव्रता पर बहुत कुछ रोग चिकित्सा निर्भर करती है। संगीत से मन की एकाग्रता बढ़ जाती है, विचारों का परस्पर सम्बन्ध एक कड़ी में हो जाता है। मानसिक अनुशासन हो जाता है, संगीत से धार्मिकता आती है, उचित अनुचित का ज्ञान हो जाता है, संगीत आत्मा को निश्चित तथा पवित्र बना देता है।

3. मानव की संवेदानात्मक भावनाओं पर संगीत का प्रभाव-संगीत से दुःख प्रसन्नता, वीरता आदि की भावनाएँ प्रभावित होती हैं, क्षणभर में संगीत मनुष्य को रूला सकता है, क्षणभर में हँसा सकता हैं। संगीत सुनाकर प्रत्येक प्रकार के भावों को उत्पन्न किया जा सकता है। राष्ट्रीय गान से हृदय में देश प्रेम की ज्वाला धधक उठती है, ''वन्देमातरम्'' की मन प्राण को आन्दोलित करने वाली गुंजार से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। स्व0 डी0बी0 पलुस्कर जब चीन गये तो वहाँ उनके 'चलो मन गंगा जमुना के तीर' तथा 'ठुमक चलत रामचन्द्र' आदि भजनों की मधुरता से चीनी जनता इतनी मंत्रमुग्ध हो गई कि उसकी हजारों प्रतिलिपियाँ छपवा कर चीनी भाषा में बाँटी गई। पं0 ओंकारनाथ ठाकुर जिस समय अपने लोच भरे स्वर में 'मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो' गाते थे। उस समय नेत्रों के समक्ष माखन चोर कृष्ण की साँवरी सूरत प्रतिबिम्बित हो जाती है।

शेक्सपियर ने सच ही कहा है संगीत द्वारा भावों को घटाया बढ़ाया जा सकता है। युद्ध के ढ़ोल-नगाड़े, विवाह स्थल पर शहनाई की मधुर गुँज सब मानसिक भावों को उत्तेजित करती हैं।

संगीत का श्रम व थकान पर प्रभाव

हजारों घरों में चक्की पीसने के साथ गाना, धान, कूटना और गाना, फसल बोते समय और काटते समय गाना, छत कूटते समय गाना, इन गानों से उनकी थकावट में कमी आती है। नाव खेते समय मल्लाह का गाना, संगीत के माध्यम से सामान बेचना, यह सब संगीत के प्रभाव को दर्शाते हैं।

5- संगीत का समूह पर प्रभाव

संगीत के द्वारा सहयोगिता की भावना और एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति जागृत होती है। एकता, साहस और साथ मिलकर कार्य करने की भावना जन्म लेती है।

6. जीव-जन्तु व पशु-पक्षियों पर संगीत का प्रभाव

संगीत का प्रभाव केवल मनुष्य पर ही नहीं, बल्कि समस्त जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों एवं वनस्पति जगत् पर भी पड़ता है। उदाहरण के सूर्योदय के समय सूर्योदय के आभास मात्र से चाहें फिर सूर्य बादलों से ही क्यों न ढ़का हो, पक्षी चहचहाकर और सूर्यास्त के समय शांतिपूर्ण अपने नीड़ों से प्रस्थान पर अपनी अनुभूति का परिचय देते हैं। पशु-पक्षियों पर भी संगीत का प्रभाव पड़ता है। स्वीडेन की गौशालाओं में गाय दुहते समय संगीत गूँजते रहने से गाय अधिक दूध देने लगी।

अब तक प्राप्त पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संगीत के प्रभाव को लेकर और भी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षण किये जाने चाहिए। ताकि आने वाली पीढ़ी की भरपूर लाभ मिल सके।

सन्दर्भ सूची

1. सौन्दर्य रस एवं संगीत-स्वतंत्र बाला शर्मा, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 203-205,215
2. संगीत विशारद-बसंत, सताईसवाँ संस्करण, अप्रैल 2010, पृ0सं0 32-33
3. Life-shools.com
4. https://hi.m.wikipedia.org
5. www.thehealing .in
6. www.vedicrakshasansthan.org

संगीतसमयसार के शास्त्रीय 'निकष'

रागिनी सिंह एवं डॉ0 के0ए0 अम्बरीष चंचल***

देश के बौद्ध दर्शन के विस्तार के साथ-साथ कलाओं और कलाग्रन्थों का भी प्रचार-प्रसार हुआ था। बौद्ध दर्शन के साथ ही जैन दर्शन का भी विस्तार हुआ लेकिन गुप्तकाल (4से 8वीं) तक कला ग्रन्थों का उल्लेख बिल्कुल नहीं मिलता। मध्यकाल में कुछ ऐसे ग्रन्थ रचे गये जो संगीत पर केन्द्रित थे। इनमें अधिकांश अभी तक अप्राप्य है। उस समय यानी 13वीं शताब्दी में एक जैन मुनि द्वारा रचे एक संगीत ग्रन्थ 'संगीतसमयसार' की ओर 20वीं शताब्दी के संगीतशास्त्रियों का ध्यान गया और हम यह जान सके कि जैन धर्म के प्रभाव में भी साहित्य, कला और संगीत तथा इससे सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना हुई थी। 'संगीत समयसार' मध्यकाल की एक ऐसी रचना है जो भारतीय संगीतशास्त्र की परम्परा को महत्वपूर्ण बनाता है।

मध्यकाल के संगीत ग्रन्थों में आज के संगीतशास्त्री आचार्य शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर का उल्लेख बहुशः करते आ रहे है इस कारण ही ऐसे कई ग्रन्थ अन्धेरे में रह गये जिन्होंने मध्यकाल को संगीतशास्त्रीय मोड़ और पड़ाव दिये। आज संगीतसमयसार का उल्लेख इसी अर्थ में प्रासंगिक हो गया है।

संगीत प्रयोगों के नये समय में आज शास्त्र चर्चा कई बार अप्रासंगिक लगती है, किन्तु जब हम शास्त्र की ओर से प्रयोगों को देखने जाते हैं तो शास्त्रीय संगीत के प्रति हमारी समझ और गहरी होती जाती है, इसकी गहराई की परख वहीं से शुरू हो जाती है, जब हम प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से अपना अध्ययन आरम्भ करते हैं। जैसे-नाट्यशास्त्र, नारदीय शिक्षा या फिर बृहद्देशी।

समय के साथ-साथ विचारों की दुनिया में बहुत सारी धूल इकट्ठा हो जाती है, जिसे समय ही ठण्डी हवा के झोंको से साफ करता है। जैसा कि हम वृहद्देशी के बाद मध्यकाल के संगीत शास्त्र को देखते हैं। संगीतशास्त्र का मध्यकाल का दौर राजा भोज, आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य अभिनवगुप्त आचार्य शारंगदेव की समृद्ध सम्पदा से शुरू होता है। आचार्य भरत से आचार्य मतंग तक के संगीतशास्त्र में जो कुछ भी समय प्रवाह के साथ अप्रासंगिक होता गया, उन्हें वैसा ही छोड़कर समय के नये परिप्रेक्ष्य में इन आचार्यों ने बहुत कुछ जोड़ा और प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की कोशिश की। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो नाट्यशास्त्र की वृत्ति लिखते हुए संगीतशास्त्र का कुछ भी नया नहीं जोड़ा, बल्कि आचार्य भरत की संगीत दृष्टि की महत्ता को ही सर्वोपरि रखा। हाँ सिर्फ उन्होंने अपनी वृत्ति प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विकसित अपने शैवदर्शन से लिखी।

किन्तु राजा भोज और आचार्य शारंगदेव ने नाट्यशास्त्र और बृहद्देशी के आधार को यथावत बनाये रखकर मध्यकाल के अनुसार संगीतशास्त्र का नया रूप प्रस्तुत किया और वे सफल भी हुए। 'संगीतरत्नाकर' की सफलता और मानक के बावजूद जैन मुनि आचार्य पार्श्वदेव द्वारा रचित एक और संगीत ग्रन्थ सामने आया- 'संगीतसमयसार'। इसे भी संगीत पारखियों और वाग्गेयकारों ने उतना ही उल्लेखनीय माना। आधुनिक काल में इस ग्रन्थ की चर्चा पर, एक बार फिर समय की धूल जमा हो गई हो। किन्तु जब 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संगीतविद् आचार्य कैलाशचन्द्र बृहस्पति ने संस्कृत में लिखी इस मूल पाण्डुलिपि का हिन्दी में अनुवाद किया तो संगीत की दुनिया में एक बार फिर इसकी चर्चा हुई।

अकादमिक क्षेत्रों में संगीत रत्नाकर की तुलना में इस ग्रन्थ का मूल्यांकन कम हुआ और यह अल्प चर्चित रहा। इसके केन्द्रिय महत्व, उपयोगिता, सरोकार शिल्प पर विचार करते हुए ही अपने लघु शोध-प्रबन्ध के लिए मैंने इस ग्रन्थ को विशेष रूप से चुना।

इसके उनके ग्रन्थ पर जैनधर्म का प्रभाव होना चाहिए, इसलिए इस दृष्टि से मैंने इस ग्रन्थ की शुरूआत की, और मैंने देखना चाहा कि इसमें जैनधर्म का प्रभाव कहाँ-कहाँ है। इसी प्रक्रिया में मैंने जाना कि ऐसे कई साहित्य के ग्रन्थ रचे गये होंगे जिनका जैन धर्म पर प्रभाव होगा। जिसमें से मुझे एक साहित्य का ग्रन्थ मिला वह है- परमागमत्रयी-त्रयी का अर्थ ही है तीन ग्रन्थों का समुच्चय जो इस प्रकार हैं, समयसार, प्रवचनसार और पंचशतिकाय संग्रह। परमागत्रयी संस्कृत में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का भाष्य आचार्य जैनसेन द्वितीय बारहवीं शती में किया है।

शास्त्रों में प्राचीन गोत्र के रूप कश्यप और शाण्डिलय है किन्तु आचार्य पार्श्वदेव का गोत्र श्री कण्ठ है। जिनका जन्म भिन्न षड्ज से हुआ है, यहीं से संगीत की बात शुरू होती है। भिन्न षड्ज यह एक राग का नाम है। संगीतसमयसार 13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा हुआ ग्रन्थ हैं और 13वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संगीतरत्नाकर लिखा गया है लेकिन देखा जाय तो दोनों ग्रन्थों में अलग-अलग तत्व बताये गये हैं, जो एक दूसरे से भिन्न हैं। आचार्य पार्श्वदेव की माता गौरी और पिता आदिदेव हैं, इन्हें भी संगीताकार

* शोध छात्रा, संगीत एवं मंचकला संकाय, संगीत शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * असिस्टेन्ट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

की उपाधि मिली है।

इसके पश्चात् जैन धर्म के तीन ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिसमें संगीत की चर्चा तो है लेकिन मुझे अप्राप्य है- जैसे- रायपसेणीय, अनुयोगद्वारसुत्त और ठाणांगसुत्त आचार्य पार्श्वदेव के संगीत ग्रन्थ पर जैन धर्म का प्रभाव देखने को मिलता है जैसा की बताया जाता है कि जैन धर्म के अनुयायी ईश्वर को नहीं मानते, वे आत्मा को मानते हैं। जैनधर्म के सप्तभंगी ज्ञान के अन्य स्यादवाद और अनेकांतवाद हैं। जैनधर्म ने अपने आध्यात्मिक विचारों को सांख्य दर्शन से ग्रहण किया।

जैनधर्म के संस्थापक एवं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। 23वें पार्श्वनाथ थे जो काशी के इक्ष्वाकु वंशीय राजा आश्वसेन के पुत्र थे।

समयसार जो हैं एक जैन शब्दावली है, तथा समयसार जैन धर्म की एक स्तुति का नाम है। स्तुति का मलतब ही है प्रशंसा करना।

जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत यह प्राचीन ग्रन्थ भारतीय संगीतशास्त्र के इतिहास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 'संगीतसमयसार' इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन युग में जैन साधुओं को विविध कलाओं का विशिष्ट ज्ञान था और उन्होंने इनका मनन, चिन्तन एवं आलोचन करने के उपरान्त मौलिक विश्लेषण किया है। आचार्य पार्श्वदेव की इस कृति से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीतशास्त्र को गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों एवं उनके प्रयोग का रचनाकार को विशिष्ट ज्ञान था, साथ ही उन्हें काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का परिज्ञान था। यह महत्वपूर्ण प्रकाशन संगीत में अभिरूचि रखने वाले कला प्रेमियों के लिए वरदान सिद्ध होगा और इस क्षेत्र में अनुसन्धित्सुओं के लिए अनुसन्धान का नवीन मार्ग प्रशस्त करेगा।

संस्कृत में लिखे इस ग्रन्थ में संगीत के उन्हीं तत्वों पर विमर्श किया गया है जो उस काल में संगीत के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी थे। 'आचार्य भरत' और 'आचार्य मतंग' के बाद मध्यकाल का आरम्भ संगीत के तीन बड़े मनीषियों से हुआ था जिनके नाम 'आचार्य अभिनवगुप्त', 'आचार्य भोज', 'आचार्य शारंगदेव' है। उत्तर वैदिक काल में रचे अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने संगीत पर अपने समय के अनुसार विमर्श किया था। उनके करीब 1000 साल बाद गुप्तकाल में आचार्य मतंग ने संगीत को ही केन्द्र में रखकर 'वृहद्देशी' की रचना की। इस ग्रन्थ में हमें पता चला है कि 'आचार्य भरत' के बाद हमें 8वीं शताब्दी तक भारतीय संगीत का स्वरूप कैसे विकसित हुआ। उनके बाद हम जब सीधे 13वीं शताब्दी के आरम्भ में 'आचार्यशारंगदेव' द्वारा रचित ग्रन्थ संगीतरत्नाकर को देखते हैं तो न सिर्फ संगीत के विकास क्रम का पता चलता है कि बल्कि यह स्पष्ट हो जाता है कि मतंग के बाद मध्यकाल में भारतीय राग संगीत की स्थिति और दिशा कितनी उन्नत हुई थी। इस प्रकार संगीत रत्नाकर तक आते-आते वैदिक काल का संगीत काफी परिमार्जित और आधुनिक हो गया था, जिसमें भरत का आधार है। 'आचार्य भरत' से लेकर 12वीं शताब्दी तक संगीत के क्षेत्र में जितनी भी साधनाएँ हुई उन सबका संस्कार इसमें सुरक्षित है। इस प्रकार देखा जाए तो आज भी संगीत के विद्यार्थियों के लिए संगीतरत्नाकर भारतीय संगीत का प्राचीन आधार ग्रन्थ है।

यह तथ्य रोचक है कि इस ग्रन्थ की रचना के बाद मध्यकाल में जितने भी संगीत ग्रन्थों की रचना हुई वे किसी ना किसी रूप में 'संगीतसमयसार' का अध्ययन कर रहे हैं, जिसकी रचना संगीतरत्नाकर के पश्चात् हुई। इस अध्ययन में हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि 'संगीतरत्नाकर' की तुलना में और तात्त्विक समीक्षा में संगीतसमयसार उल्लेखनीय और विशिष्ट है।

इस शोध-प्रबन्ध में, हमने सबसे पहले परिवेश विवेचन किया। फिर ग्रन्थ और ग्रन्थकार के अनिवार्य सन्दर्भों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए समस्त अध्यायों की उपलब्धियों को स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ यानी संगीतसमयसार का अध्ययन करते हुए हमने मुख्य रूप से दो बातों का ध्यान रखा है।

इस ग्रन्थ की रचना से पहले प्राचीन समय से आचार्य पार्श्वदेव तक कई प्रमुख संगीत ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। जैसे- नाट्यशास्त्र, वृहद्देशी अभिनवभारती और संगीतरत्नाकर। इनके अलावा जैने धर्म के भी ग्रन्थ थे जिनमें संगीत का उल्लेख हुआ है। उस समय के कई अन्य ग्रन्थों की जानकारी हमें नहीं है। पहली बात हमने यह देखने की कोशिश की है कि आचार्य पार्श्वदेव के इस ग्रन्थ में, इन पूर्ववर्ती ग्रन्थों का कितना प्रभाव है? दूसरी बात हमने ये ध्यान देने की कोशिश की है कि मध्यकाल के संगीत परिवेश का कितना प्रभाव आचार्य पार्श्वदेव के लेखन पर पड़ा है?

मूल संस्कृत में लिये इस ग्रन्थ का अध्ययन, सम्पादन, विश्लेषण और हिन्दी में अनुवाद करते हुए 20वीं शताब्दी के प्रमुख संगीतशास्त्री आचार्य वृहस्पति (आचार्य कैलाश चन्द्र वृहस्पति) ने इस पुस्तक की भूमिका में जैन मुनियों की मध्यकालीन परम्पराओं को परिप्रेक्ष्य बनाते हुए उन जैन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनका प्रकाश संगीतसमयसार के आधार में निहित है। वे लिखते हैं- 'जैनों के ठाणांगसुत्त', 'रायापसेणीय', 'अनुयोगद्वारसुत्त' इत्यादि ग्रन्थों में संगीत सम्बन्धी प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, अध्याय-दो, श्लोक अट्ठारह
2. आचार्य कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत, टीका संगीत रत्नाकर अध्याय प्रथम प्रकरण, तृतीय श्लोक प्रथम।
3. आचार्य दत्तिल, शब्द कल्पद्रुम, खण्ड-दो, पृ0 323
4. वाचस्पत्यम, पृ0 2527

5. संगीतसमयसार, अध्याय एक श्लोक चार
6. संगीतसमयसार, प्रस्तुत संस्करण
7. संगीतसमयसार, प्रस्तुत संस्करण
8. संगीतसमयसार, प्रस्तुत संस्करण
9. संगीतसमयसार, प्रस्तुत संस्करण
10. संगीतसमयसार, प्रस्तुत संस्करण
11. सुधाकलश कृत, संगीतोपनिषदसारोद्धार, भूमिका पृष्ठ8, गायकवालड़, सीरिज, 1951
12. वही, अध्याय तीन और चार, श्लोक 92 और 113
13. आचार्य बृहस्पति कैलाशचन्द्र, ध्रुवपद और उसका विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना।
14. सोमेश्वर कृत मानसोल्लास, तृतीय भाग, अध्याय 16 श्लोक 132, पृ0 13 गायकवाड़ सीरिज नवम्बर 138, संस्करण-1961
15. आचार्य पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, अधिकरण दो
16. आचार्य पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, अधिकरण तीन
17. आचार्य पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, अधिकरण चार
18. आचार्य पार्श्वदेव, संगीतसमयसार, अधिकरण नौ
19. घोष, मनमोहन, नाट्यशास्त्र, सम्पादक और अंग्रेजी अनुवाद (चार भागों में) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1960
20. शास्त्रीय बाबूलाल, नाट्यशास्त्र (हिन्दी अनुवाद चार भागों में) चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1964
21. श्री गोडेकर, जी0के0, सम्पादन- मानसोल्लास, सोमेश्वर, गायकवार्ड ओरियेन्टल सीरिज, बड़ोदरा, 1961
22. अहोबल कृत संगीत परिजात, आर0एस0 गोंडलेकर द्वारा प्रकाशित पूना, 1929
23. आचार्य बृहस्पति, संगीत समयसार, पार्श्वदेवकृत, हिन्दी में अनुवादित श्री कुन्दाकुन्द भारती, दिल्ली, 1977

●

पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय में संगीत

अमित कुमार सिंह एवं डॉ0 प्रेम किशोर मिश्र***

भारतीय परम्परा में भक्ति ईश्वर प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, भक्ति, श्रद्धा और अनुराग का समन्वय है। शंकर के अद्वैत वेदान्त से लेकर दक्षिण के आलवार सन्तों के मध्ययुगीन आचार्य रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बर्काचार्य आदि सभी ने भक्ति के विविध आयामों को पुर्नस्थापित किया। श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति का सम्यक् स्वरूप विद्यमान था, श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार विष्णु को प्रधान उपास्य देव मानने वाले भक्त ''वैष्णव'' कहलाते हैं। वैष्णव धर्म विष्णु की भक्ति उपासना पर आधारित है। इसमें विष्णु के अनेक रूपों की आराधना होती है। इसमें राम व कृष्ण तथा उनकी परम शक्तियों को महत्व दिया गया है।

वृन्दावन की पुण्य भूमि में उद्भुत होने वाले वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की स्थापना की। वल्लभसम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार राजस्थान, गुजरात, गोवर्धन में अधिक हुआ, जहाँ वात्सल्य भाव के साथ-साथ माधुर्यभक्ति का भी अत्याधिक प्रचार-प्रसार किया गया। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के समर्थक एवं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत सिद्धान्त कहलाया। जिसमें उन्होंने जगत् को पृथक न मानकर ब्रह्म रूप ही माना है और पुष्टिमार्ग की स्थापना कर भगवान श्री कृष्ण की सगुण भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। मूलतः विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत होते हुए भी वल्लभाचार्य जी ''वैष्णव धर्म'' की एक विशिष्ट शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं और यही विशिष्ट शाखा ''पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय'' के नाम से प्रचलित है।

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में भगवान श्री कृष्ण के बाल स्वरूप की सेवा भक्ति होती है। इस सम्प्रदाय में भगवान श्री कृष्ण (श्रीनाथ जी ठाकुर जी) की सेवा भक्ति, श्रृंगार, भोग, संगीत (रागों) के द्वारा की जाती है। इस सम्प्रदाय में संगीत का विशेष महत्व है। इस सम्प्रदाय में गायक को 'कीर्तनियाँ' कहते हैं। वल्लभाचार्य के समय सूरदास, कुम्भनदास तथा परमानन्ददास श्रीनाथ जी के सम्पूर्ण झाँकियों में कीर्तन किया करते थे। विट्ठलनाथ जी के समय में कीर्तन प्रणाली को सुव्यवस्थित और विस्तृत अर्थात् प्रसारित स्वरूप दिया गया। उन्होंने आठो यामों की झाँकियों में पृथक्-पृथक् कीर्तनकार नियुक्त किये। उनके शिष्यों में अनेक उच्चकोटि के संगीतज्ञ और भक्तकवि थे। श्री गुसाई जी ने अपने पिता के चार कीर्तनकारों के साथ अपने चार शिष्यों को सम्मिलित कर 'अष्टछाप' की स्थापना की और 'अष्टछाप' के द्वारा कीर्तन पद्धति का प्रचलन किया।

इन कीर्तनकारों में चार अर्थात् (कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास) गुसाई विठ्ठलनाथ जी के पिता वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और चार (गोविन्द स्वामी, छीतस्वामि, चतुर्भुजदास और नन्ददास) उनके अपने शिष्य थे। ये सभी अष्टछाप कवि भक्त भगवान श्रीनाथ के अर्न्तलीलाओं से परिचित थे। इसीलिए उन्हें भगवान के अन्तरंग, 'अष्टसखाओं' की संज्ञा दी गईहै।

वैष्णव धर्म में भक्ति उपासना मार्ग का प्रचलन भागवत धर्म के रूप प्राचीन काल से ही था। भारतीय संगीत के उद्गम एवं विकास में 'भक्ति' एक अविरल स्त्रोत, शक्ति है। यही वह केन्द्र-बिन्दु है जिसमें संगीत की रागरागिनियों, रागनियमों, तालों व ध्रुपद-धमारों आदि विभिन्न गेय विधाओं में उनका कलात्मक पक्ष सजीव एवं सारगर्भित रूप में उभरा है। मध्यकाल में भक्ति संगीत अत्यन्त तीव्र गति से विकसित एवं विस्तृत हुआ क्योंकि इस समय भक्ति संगीत का आधार शास्त्रीय संगीत था। अतः ध्रुपद को भक्ति संगीत की धारा का एक प्रमुख स्त्रोत कहा जाता है। जहाँ वैष्णव भक्तों द्वारा अपनी नैसर्गिक भक्ति की प्रेरणा और उमंग से ईष्ट का गुणगान ध्रुपद-धमार आदि गेय विधाओं पर आधारित स्वर में किया गया है।

वैष्णव धर्म में रतिभाव की भक्ति को वैष्णव भक्ति साधन का एक मुख्य अंग माना गया है। इस धर्म के अनुयायी भारत के अनेक स्थानों पर विद्यमान थे परन्तु इसका विकास पूर्णतः ब्रज में ही हुआ। श्रीकृष्ण की जन्मस्थल व उनकी लीला-स्थल ब्रजभूमि होने के कारण वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों ने ब्रजभूमि को ही अपनी साधना का केन्द्र बनाया।

''भक्ति'' शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से बना है। 'भक्ति' शब्द स्त्रीलिंग है तथा इसके अनेक अर्थ हैं। 'भज्' धातु का अर्थ है, 'सेवा करना' तथा 'क्तिन्' प्रत्यय धातु का अर्थ है, 'प्रेम'। धातु और प्रत्यय के योग से ही एक सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार 'भक्ति' शब्द का अर्थ है 'प्रेमपूर्वक

* शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * शोध निर्देशक, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सेवा करना'। अर्थात् परमात्मा के प्रति श्रद्धा या प्रेमभाव 'भक्ति' का आधार कहा गया है।

''श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है-

सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति।
तथा कार्य समर्त्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः॥''

अर्थात् मनुष्य को लौकिक और वैदिक रूप से अपने आपको भगवान के लिए अर्पण करना चाहिए जैसे लोक में सेवक सर्वकार्य अपने अपने स्वामी के निमित्त करता है।

''नारदीय भक्ति सूत्र'' में कहा गया है-

''सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥''

अर्थात् ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम ही 'भक्ति' है। ईश्वर के लिए प्रेम की पराकाष्ठा तथा परमानुराग को ही 'भक्ति' कहते हैं।

वस्तुतः भक्ति एक होकर भी अधिकार और पात्रभेद के इसके अनेक भेद हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भी अनेक भेदोपभेदों द्वारा भक्तित्व का सर्वांगीण निरूपण किया गया है। कहीं उसे निर्गुण भक्ति, त्रिविधा भक्ति (सात्विक, राजस, तामस) भक्ति, चर्तुविधा भक्ति पंचविधा भक्ति, षड्विधा भक्ति और कहीं नवधा भक्ति के रूप में विभक्त किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने पुष्टि सम्प्रदाय में इसी सगुणभक्ति पर जोर दिया है। भक्ति के साधन भगवत्कृपा का पात्र बनाने के लिए निम्नलिखित भक्ति के साधन बताये गये हैं-

(1) श्रद्धापूर्वक भागवत्कथा श्रवण।

(2) निरन्तर भगवन्नाम संकीर्तन।

(3) पूजा में तत्परता।

(4) स्तुतियों द्वारा भगवत्स्तवन।

(5) भगवतप्रतिमा को साष्टांग प्रणाम।

(6) भगवद्भक्तों की विशेष पूजा।

(7) समस्त प्राणियों में भगवद्धष्टि।

(8) सर्वकमर्पिण एवं आत्मसमर्पण।

अतः जो विष्णु भक्ति की पूजा करते हैं, 'वैष्णव' संज्ञा से अभिहित होते हैं। वैष्णव शब्द से तात्पर्य है वह व्यक्ति या वर्ग जो 'विष्णु' में आस्था रखता हो। अर्थ विकास की दृष्टि से विष्णु कीर्तन स्थितियाँ स्पष्ट देखने को मिलती है। सबसे प्राचीन रूप में विष्णु का वेदों से ज्ञान होता है। जिससे वह इन्द्र का पर्यायवाची शब्द हो गया था। उसके पश्चात् उपनिषदों में वह ब्रह्मरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ और पुराण काल में विष्णु की अवतार कल्पना हो गई। शनैः शनैः विष्णु को किसी भी रूप की उपासना करने वाला ''वैष्णव'' कहलाने लगा। ''विष्णु'' शब्द विष्ल्रृ व्याप्तौ धातु से बना है। विष्णु सर्वव्यापी सत्ता को कहते हैं। अतः श्रीमद्भागवत में हम विष्णु तत्व का वह समस्त विकास देखते हैं।

भारतवर्ष धार्मिक इतिहास से विदित होता है कि ईसा की 10वीं शताब्दी से वैष्णव धर्म ने एक व्यवस्थित शास्त्रीय रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। 10वीं से 13वीं शताब्दी तक निम्नलिखित वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हो चुकी थी-

(1) श्री विष्णुस्वामि द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवादी रुद्र सम्प्रदाय (9वीं शताब्दी)

(2) श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैतवादी श्री सम्प्रदाय (1037 से 1137 ई0)

(3) निम्बार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित द्वैतवादी सनक सम्प्रदाय (1162 ई0)

(4) श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित द्वैतावादी सम्प्रदाय (1197 ई0 से 1276 ई0)

उक्त 4 आचार्यों के तत्वज्ञान से प्रभावित होकर परवर्ती अनेक आचार्यों ने अपनी मौलिक प्रतिभा एवं तत्व चिन्तन के आधार पर और भी वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की जिनका समय 14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक विस्तृत है। प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख निम्नलिखित है-

(1) श्री रामानन्द का विशिष्टाद्वैतवादी सम्प्रदाय।

(2) श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवादी पुष्टि सम्प्रदाय।

(3) श्री चैतन्यमहाप्रभु का अचिन्त्यभेदा भेदवादी सम्प्रदाय।

(4) श्री हितहरिवंश का राधा वल्लभीय सम्प्रदाय।

(5) श्री हरिदास का सखी सम्प्रदाय।

वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद'' है। इसी से मूलतः विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत होकर भी वल्लभाचार्य ''वैष्णव धर्म'' की एक पृथक शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। यही शाखा ''पुष्टि सम्प्रदाय'' कहलाती है।

''पुष्टि'' शब्द का अर्थ है, पोषण, सम्पन्नता, वृद्धि, सम्पत्ति, बलिष्ठता है। इन सब अर्थों में सुख की सामग्री या साधन यही अर्थ लेना यहाँ उचित होगा क्योंकि वल्लभ सम्प्रदाय में 'पुष्टि' शब्द का अर्थ है, 'अनुग्रह मार्ग' या 'शरण मार्ग' से लिया जाता है, अर्थात् जिस भक्त पर भगवान की अनुग्रह या कृपा हो जाती है, वही भक्त सुख का अनुभव करता है, इसका अर्थ हुआ कि भगवान का अनुग्रह भक्त को मोक्षप्राप्ति कराने का एक साधन है। आचार्य जी ने

'पुष्टि' शब्द श्रीमद्भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध के दसवें अध्याय के चौथे श्लोक में ''पोषणं तदनुग्रह'' से प्राप्त किया जिसका अर्थहै, परमानन्द पुरुषोत्तम भगवान कृष्णचन्द का अनुग्रह ही 'पोषण' अथवा पुष्टि है, अथवा इन्होंने 'पुष्टि' शब्द ऋग्वेद से लिया होगा क्योंकि ऋग्वेद में कहा है कि-

'यो रेवान् यो अमीपहावसुवित् पुष्टिवर्धनः।
सनः सिद्यक्तु यस्तुरः।'

-(ऋग्वेद प्रथम मण्डल सूत्र- 18)

श्री वल्लभाचार्य जी संवत् 1550 की ग्रीष्म ऋतु में ब्रज आये थे और वहाँ गोकुल स्थान का अनुसन्धान किया था। उसी गोकुल के गोविन्द घाट पर उन्होंने उसी वर्ष अर्थात् संवत् 1550 वि0 में श्रावण शु 11 के दिन अपने प्रमुख सेवक दामोदर दास हरसानी को सर्वप्रथम मंत्र दीक्षा देकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की। 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' के समर्थक एवं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' कहलाया। आचार्य वल्लभाचार्य जी ने 'पुष्टि प्रवाहमर्यादा भेद' नामक ग्रन्थ में 'मर्यादा मार्ग', 'प्रवाह मार्ग' एवं 'पुष्टि मार्ग' इन तीनों मार्गों का उल्लेख किया है। इन तीनों मार्गों में आचार्य जी के मत से सर्वश्रेष्ठ मार्ग 'पुष्टि मार्ग' है और यही 'पुष्टि मार्ग' या 'पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय' कहलाया।

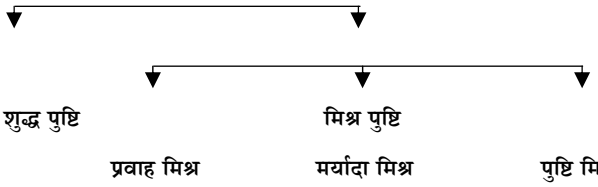

पुष्टिमार्गीय मन्दिरों को 'हवेली' की संज्ञा प्राप्त है। इन मन्दिों में अन्य वैष्णव मन्दिरों की भाँति गुम्बज या शिखर नहीं होता और इनकी रचना श्रीमंतों की हवेली की तरह होती है। अतः इनमें गाये जाने वाले कीर्तन के लिए 'हवेली संगीत' सम्बोधन प्रचार में आया।

ऐसी मान्यता है कि यवनों द्वारा मूर्तियों को खण्डित होने से बचाने के लिए भक्तगण इनके विग्रह, को जब गुजरात ले आये तब जिन स्थानों पर इनको रखा गया उनको 'मन्दिर' न कहकर 'हवेली' कहा गया, सम्भवतः इसलिए भी कि शत्रुओं की उन पर दृष्टि न पड़े। भक्तगण इन हवेलियों को प्रभु का निवास मानते हैं।

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय की निम्नलिखित मान्यताएं- 1. गुरु, 2. मन्त्र, 3. कण्ठीमाला, 4. तिलक, 5. सेवा स्वरूप-सेवा के दो क्रम हैं-

(I) नित्य सेवा अथवा अष्टायाम सेवा।
(II) वर्षोत्सव सेवा।

कीर्तन की परम्परा

क्र. सं.	सेवा	समय	भाव	कीर्तनिया
1.	मंगला	प्रातः 5-7 बजे	अनुराग के पद, खंडिताभाव जगाने के पद, दधि-मंथन के पद	परमानन्ददास
2.	श्रृंगार	प्रातः 7-8 बजे	बालस्वरूप का सौन्दर्य, वेश-भूषा, बालक्रीड़ा, सख्य-भाव तथा कृष्ण के खेल के पद	नन्ददास
3.	ग्वाल	प्रातः 9-10 बजे	चौगान, चकडोरी, गोचारण, गोदोहन, माखनचोरी, पालना, धैया तथा आरोगन के पद	गोविन्ददास
4.	राजभोग	मध्याह्न 10-12 बजे	छाक के पद	आठोभक्त (विशेष सेवाः कुम्भनदास)
5.	उत्थापन	दिन के 3½-4½ बजे	गोटेरन तथा वन्य लीला के पद	सूरदास
6.	भोग	सांय लगभग 5 बजे	कृष्ण रूप, गोपी दशा, मुरली रूप, माधुरी, गोप आदि के पद	आठो भक्त (विशेषकीर्तन सेवा : चतुर्भुजदास)
7.	संध्या आरती	सांय लगभग 6½ बजे	गोग्वाल सहित वन से आगमन, गो-दोहन, धैया, वात्सल्य भाव से यशोदा का बुलाना आदि के पद	छीतस्वामी
8.	शयन	रात्रि 7-8 बजे के मध्य	अनुराग, गोपी-भाव से निकुंजलीला तथा संयोग-श्रृंगार के पद	कृष्णदास

कीर्तन में गाये जाने वाले सभी गीत संगीतमय होते हैं। गीत उसे कहेंगे, जिसे हृदय के उद्‌गार गीतों के बन्ध में बंधकर राग, ताल और लय से युक्त हो। अतः सूरदास जी के द्वारा विनय के पद- ''राग धनाश्री''-

'हो हरि सब पतितन को नायक
फेरि दूसरो पद और गायो सो पद-राग धनाश्री
प्रभु हो सब पतितन को टीको।'

सूरदास जी ने असंख्य पद राग-रागिनियों में रचे-

''श्री वल्लभगुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ
ता दिन तै हरि लीलाय गाई एक लक्ष पद बंद।''

इस सम्प्रदाय में ऋतुओं के अनुसार राग के गायन का विशिष्ट विधान भी है-

ठण्डे राग-प्रातःकालीन- भैरव, रामकली, देवगांधार, मारू, धनाश्री आदि।

सांयकालीन- पूर्वी, गौरी, नट, सोरठ, अड़ाना, मल्हार।

गर्म राग- प्रातःकालीन- ललित, मालकोंस, तोड़ी, पंचम, मालव (राग मालव के नव विलास के पद शयन में गाये जाते हैं), बसंत आदि।

सांयकालीन- नायकी, केदार, बिहारग, जैतश्री काफी आदि।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन पद्धति जिसे हम भक्ति संगीत या हवेली संगीत के नाम से भी जानते हैं। इसकी गायन शैली सर्वथा ध्रुपद, धुमार शैली थी। अतः इस सम्प्रदाय में संगीत के तीनों रूप विद्यमान है। (गायन, वादन, नृत्य) सूरदास जी ने मिश्र रागों का भी प्रयोग किया है। अनेक प्रकार के वाद्यों का भी अपने ग्रन्थ में संकेत किया है-

''दिवि दुदुंभी देव बजाई सुरनारी सुमन बरषाई।
मुरली नाद मृदंग मृदंगी अधर बजावन हारे।
झांझ झिलि निर्झर निसान डफ, भेरी भंवर गुजार।
झांझ झालरि किन्नरीरंग-भीजी ग्वालिनी।
डिमाडिम पटह ढोल डफ बीना, मृदंग चंग अरुतार।''

नृत्य की विभिन्न मुद्राओं को पदों में दर्शाकर इन्होंने नृत्य की कुशलता का परिचय दिया है-

''हस्त भेद ललित गति लई। अंचल उड़त अधिक छवि भई।
कबहुं नृत्य करते कौतुहल सप्तक भेद दिखावत।
मंदमंद गति चलत मनोहर जुबतिनि रस उपजावत।''

अथवा नृत्य के समय हाथ से ताल देने का भी संकेत मिलता है-

''नाचै कर दै दै ताल
नाचत महर मुदित मन कीन्हे ग्वाल बजावग तारी।''

इसके अतिरिक्त कृष्णदास के पदों के शीर्ष पर यदा-कदा ध्रुपद-धमार शब्द का भी संकेत हुआ मिलता है-

''चलो मुख देखिए हो अहो जहाँ खेलत श्री ब्रजराज।''

उक्त पद को कृष्णदास ने ध्रुपद कहा है।
पुष्टिमार्गीय अष्टायाम अनुसार सांगीतिक पदों में 'मंगला' के पद

राग भैरव-
''जय जय जय जय वल्लभ नन्द।
सुरनर मुनि जाकी पदरज बन्द॥''

'श्रृंगार' के पद राग बिलावल-

''आवौ गोपाल श्रृंगार बनाऊँ।
विविध सुगंधनि करूँ उबटनो, पउछे उष्णजल लै जुन्हवाऊँ।
मधु, मेवा, पकवान, मिठाई अपने कर लै तुम्हें जिमाऊँ।
विष्णुदास कौ यही कृपाफल, बाल लीला हो निसदिन गाऊँ॥''

'ग्वाल' के पद राग बिलावल-

''जसोदा मथमथ प्यावत धैया।
कर तल कड़ी धरत है आगे रूप सोलेत कन्हैया॥''

'राजभोग' के पद राग धनाश्री-

''बोलत स्याम जसोदा भैया।
अति आनन्द प्रेम रस उमंगी, हंसी हंसी लेत बलैया॥''

'उत्थापन' के पद राग नट-

''सुबल श्रीदामा कहौ सखन सो अर्जुन शंख बजैये।
घर जैवे की भईहै बिरियाँ गिरिधर लाल जगैये॥''

'भोग' के पद राग नट-

''प्रीतम प्रीत ही तें पैहें।
जदपि रुपनुगनसील सुधरता, इन बातन न रिझैये॥''

'संध्या आरती' के पद राग गौरी-

''लटकट चलत युवति सुखदानी
संध्या समय सखा मंडल में सोमिततन
गोरजलपटानि॥''

'शयन' के पद राग कान्हड़ा-

''दूध पीयौ मनमोहन प्यारे।
बलि बलि जाऊँ गहेरू जिन कीजै कमल नयनानयन के तारे॥''

वर्षोत्सव अनुसार :

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव, दीपावली, दशहरा, रामनवमी, नृसिंह चौदस, बावन एकादशी।

ईश्वर के प्रति प्रेम, आत्मसर्मपण की भावना, ईश्वर में अनुरक्ति, परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास व श्रद्धा तथा आराध्य के प्रति स्नेह ही ''भक्ति'' कहलाती है। जिसकी सर्वोत्कृष्ट अवस्था अर्थात् भगवान के प्रति भक्त का रागात्मक समर्पण ही 'प्रेमभक्ति' है। भारतीय संस्कृति की चिन्तनधारा सदा से ही आध्यात्मवाद पर आधारित रही है। इस आध्यात्मवाद की चरमोत्कृष्ट परिणति आनन्द एवं अन्तिम लक्ष्य परम ब्रह्म की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप में संगीत एवं भक्ति को ''पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदायों'' के आचार्यों ने स्वीकार किया।

''स्वान्तः सुखाय मनोरंजनाय चित्तवृत्ति विरोधाय च॥''

अर्थात् प्रापंचित स्तर से ऊपर चिन्ता व उद्विग्नता से परे चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही आत्म-सन्तोष प्राप्त होता है तथा इस तथ्य का अनुभव करके तथा संगीत की सारगर्भिता एवं उससे निहित तदाकारता के गुण एवं चिन्तन का अनुभव करके ही संगीत को भक्ति साधना का महत्वपूर्ण साधन माना गया। वैष्णवाचार्यों ने सगुण तथा निर्गुण भक्ति को दो प्रकारों में से सगुण भक्ति के अन्तर्गत ''रागानुगा'' भक्ति की ही श्रेष्ठ मान कर कृष्ण की उपासना की। वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों एवं भक्त संगीतज्ञों ने श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन एवं उनका गुणगान करते हुए अपने पदों में आन्तरिक एवं ब्राह्य दृष्टि से संगीत का प्रचुर प्रयोग किया और काव्य तथा संगीत को एक प्रकार से अपनी उपासना एवं भक्ति साधना का अंग ही माना है।

भक्ति एवं संगीत का यह सम्बन्ध कोई नया प्रयोग नहीं वरन् भारतीय संगीत की प्राचीन परम्पराओं से ही प्रेरित है। पुष्टिमार्ग में राग अर्थात् संगीत का विशेष महत्व है। इस सम्प्रदाय में गायन क्रिया को कीर्तन तथा गायकों को कीर्तिनियाँ कहा गया है। इस परम्परा में स्वर, ताल, पद को समान महत्व दिया जाता है।

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में कृष्ण की सेवा राग (संगीत) और भोग (भोज्य पदार्थ अर्थात् छप्पन भोग) से की जाती है। साथ ही भगवान श्री कृष्ण के सुख का विशेष ध्यान रखा जाता है। यही भक्ति पुष्टि सम्प्रदाय में 'सेवा' के नाम से जानी जाती है।

इस सम्प्रदाय में ध्रुपद, धमार शैली का विशेष विधान है। ध्रुपद-धमार तथा विशिष्ट गायन शैलियों के साथ पखावज का प्रमुख रूप से प्रयोग होता है। वास्तव में इस सम्प्रदाय में पखावज के साथ-साथ हमारी अपनी प्राचीन गायकी ध्रुपद-धमार को इस परम्परा के मन्दिरों में आज भी उसी अटल श्रद्धा व आस्था के साथ प्रत्येक ऋतु में तथा प्रतिदिन प्रातः से सांय पर्यन्त सुना जा सकता है। अनेक रागों के अप्रचलित व प्राचीन स्वरूपों को देखा जा सकता है।

अनुपम राग मालाएं, अनूठी बन्दिशें, अद्भुत युगल-गीत, समयानुकूल साहित्य तथा साहित्यानुकूल संगीत आदि पुष्टिमार्गीय संगीत की अनमोल विशेषताएँ हैं। आज भी पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रह में अष्टछाप के कवियों एवं अन्य भक्त कवियों के भी पद गाये जाते हैं। अतः निसन्देह पुष्टिमार्ग के संगीत की अपनी पुष्ट परम्परा है और इस पर विश्वास करते हुए भारतीय संगीत के परावैभव तक पहुँचा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, सत्यभान, पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की संगीत परम्परा (हवेली संगीत), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999, पृ0सं0 13 15, 72, 76, 79, 114।
2. सक्सेना, डॉ0 राकेश बाला, मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में संगीत राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990, पृ0सं0 2-3, 25, 57, 81।
3. शर्मा, अंजू, ब्रज संस्कृति में संगीत, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण, 1996, पृ0सं0 112-113।
4. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, निबंध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ.प्र.), द्वितीय संस्करण, नवम्बर, 1989, पृ0सं0 545- 546।

●

संगीत में ताल की ऐतिहासिकता, महत्व एवं आवश्यकता

एकता सिंह एवं डॉ0 शिवराम शर्मा***

ताल को संगीत का प्राण कहा जाता हैं संगीत पंडितों ने ताल विहिन संगीत को आरण्यक संगीत कहा है। ताल संगीत की लय धारणा को स्पष्ट करता है।

ताल शब्द कहाँ से आया, इस पर विचार करके हम पाते हैं कि सृष्टि की रचना के काल से ही प्रकृति में लय विद्यमान है। आदिम मानव ने प्रकृति के सानिध्य में कल-कल नदियों का निनाद हवा के वेग से हिलती ये लताएँ, पशु-पक्षियों का मनोहारी कलरव, हर्षोल्लास, विशिष्ट गति, नृत्य करते मयूर, झूमते-लहराते पेड़-पौधे, पुष्पों में परोक्ष रूप से विद्यामान लय के अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति को अनजाने में ही 'ताली' बजाकर प्रदर्शित किया होगा। वस्तुतः तब वे 'ताल' शब्द के ज्ञान से वे परे होगें । अतः यह प्रामाणिक तथ्य है कि लय से ही ताल की उत्पत्ति हुई । लय के बिना ताल असम्भव है। 'ताल' शब्द वैदिक साहित्य में देखने को नहीं मिलता है। किन्तु वैदिक साहित्य में सामगान के समय हाथ से 'पात' करके मात्रा काल का निर्वाह किया जाता था, ऐसा उल्लेख है। इस क्रिया के करने वाले को 'गणक' अथवा 'पाणिध' कहा जाता था। सामगान में जैसे स्वर-शुद्धि परमावश्यक थी, उसी प्रकार काल गणना भी अनिवार्य थी।

अतः 'ताल काल किया मान लय साम्य' यह मूल सिद्धान्त परोक्ष रूप में वैदिक काल में भी उपलब्ध होता है।

संगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर अति प्राचीन काल, सिन्धु घाटी सभ्यता का काल दिखाई देता है। जो ईसा पूर्व 3000 से 2000 वर्ष माना गया है। उस काल की सभ्यता में संगीत कला काफी विकसित थी ऐसा प्रमाण मिलता है। ताल धारणा संबंधी कोई जानकारी उपलब्ध न होने से उस काल के ताल वाद्यों को हम लय वाद्य कह सकते हैं। मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई में प्राप्त शिल्पों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस काल में ताल वाद्यों का प्रयोग संगीत में होता था, हुडुक, ढोलकी, समान तालवाद्य प्राप्त शिलालेखों में दिखाई देते हैं। वैदिक काल में संगीत काफी विकसित हो चुका था। उस समय वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार का संगीत प्रचालित था । इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। वैदिक-संहिता पूर्ण रूप से छंदोबद्ध थी। संहितों में लय की धारणा होती थी एवं उसके साथ ताल वाद्यों का वादन भी होता था। विभिन्न मात्रिक खण्डों के निश्चित मात्रिक पदों के अनुसार संहिता का गायन होता था। 1 2-2, 2-3, 3-3, 3-4 मात्रिक खंडों का प्रयोग छंदों में होता था। वैदिक काल के ग्रन्थों में मृदंग समान ताल वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

'भरतमुनि' ने 31वें अध्याय के प्रथम शोक में ताल निर्मिति के लिए कला, पात, लय काल- इन चार तथ्यों को प्रधानता दी है।

वाद्यं तु यद् घनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितम्।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः॥

उपर्युक्त शोक में वैसे तो भरत ने बहुत-सी बातें कहीं किन्तु साधारण रूप से इसका अर्थ इस प्रकार है कि घन वाद्य के ऊपर लयाधीन काल को ताल कहते हैं। भरत ने ताल-विधान की क्रियाओं के मापन के लिए घन वाद्यों को ही प्रधानता दी, अवनद्ध वाद्यों की नहीं तथा ताल के निश्चित काल के मापन के रूप में लघु-गुरु अक्षरों के अनुसार मात्रिक काल (कला) का भी विवेचन किया है। तालों को मुख्य दो जातियां त्रयस्र और चतुस्र बताई है। ताल के संदर्भ में ताल वाद्यों का भी वर्णन 33 वें अध्याय में किया है। गीत के अवयव तथा प्रवृत्ति के अनुसार ताल विधान बताया है। ताल का विस्तार भी बताया है। ताल के मार्ग, क्रिया, लय सप्त-गीतों में ताल प्रयोग आदि का विस्तृत विवेचन किया है। चच्यतपुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, संपकेष्टक तथा उद्घट्टक तालों का वादन निश्चित मार्गों (विधि) द्वारा होने के कारण इसे ताल कहा है।

ताल की सार्थकता गायन, वादन एवं नृत्य में कितनी अधिक है उसका भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। भरत के मतानुसार जिसे तालों का ज्ञान नहीं उसे गायक या वादक नहीं कहा जा सकता ।

''यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।''

गीत में ताल की महत्ता को 'गीतताल विकल्पनम्' कहकर तथा नाट्य में ताल की मह्य का ''नाट्यताले प्रतिष्ठितम्'' कहकर प्रतिपादित किया है।

4थी सदी मे भरत के बाद कोहल ने ''ताल लक्षण' नामक एक गन्थ की रचना की । ताल के उत्पत्ति के संबंध में कोहल द्वारा लिखा गया श्लोक इस प्रकार है ।

ताकारः शंकरः प्रोक्तो लकारः शक्तिरुच्यते ।
शिवशक्तिसमायोगात्तालनामाभिधीयते ॥

4 थी 5 वीं सदी मे दत्तिल का ''दत्तिल'' ग्रंथ लिखा गया है कोहल और दत्तिल का समय कुछ ही आगे पीछे रहा होगा ऐसा

* शोध छात्रा, संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * सहायक आचार्य, संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विद्वानो का मत है प्राप्त ''दत्तिलम्'' यह ग्रंथ पूर्ण नहीं है, ऐसा कुछ विद्वानो का कहना है । इस ग्रंथ के श्लोक क्रमांक 142 से 170 तक पद के संदर्भ मे ताल का निरुपण किया गया है । इस ग्रंथ मे भरत के अनुसार ही ''स्वरतालपदाश्रयम्'' यह प्रतिपादन विद्यामान है । 5 वीं 8 वीं सदी तक के संगीत विद्वानो मे याष्कि, कश्यप, दुर्गाशक्ति, तुम्बरु, नंदिकेश्श्वर, मातृगुप्त आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। इस सभी ने ताल निरुपण का विशेष अलग से विवरण देते हुए भरत के तालनिरुपण को ही मान्य किया है ।

8वीं सदी के मतंग द्वारा लिखा गया ''बृहद्देशी'' ग्रंथ संगीत में महत्वपूर्ण माना जाता है । इसे देशी संगीत का सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है । मतंग ने अपने ग्रंथ मे पूर्ववर्ती आचार्यों का बार'बार उल्लेख किया है । देशी संगीत, नृत्य का उल्लेख किया है तथा वाद्याध्याय का भी उल्लेख है किन्तु वह प्राप्त नही है। विभिन्न पदों के संदर्भ मे तालों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

नंदिकेश्वर कृत ''भरतार्णव'' ग्रंथ सरस्वती-महल ग्रंथालय, तजौर में प्राप्त हुआ है । 8वीं सदी के मतंग के बृहदेशी ग्रंथ के नंदिकेश्वर का उल्लेख है तथा 5 वीं 6वीं सदी के पूर्व लिखे गये किसी ग्रंथ में नंदिकेश्वर का नाम का उल्लेख न होने से इसका काल 7 वीं सदी मान्य किया जा सकता है । प्राचीन ताल शास्त्र ग्रंथों मे इसका महत्वपूर्ण स्थान है । इस ग्रंथ के 7 वे अध्ययन में तालों का विशद विवेचन किया है । मार्गी एवं देशी मिलाकर 112 ताल बताये हैं । इसमे तालों के बोल भी बताये हैं। अभिनवगुप्त ने भरत और नंदिकेश्वर के मतों की पृथकता का उल्लेख किया है इससे सिद्ध होता है कि नंदिकेश्वर ने भरत मत से हटकर ताल निरूपण का विवेचन किया है ।

8वीं से 10 वीं सदी तक के राहल, कीर्तिधर, लोल्लट, उद्भट्ट, रुद्रट आदि संगीत विद्वानो का उल्लेख कई उत्तरवर्ती ने अपने ग्रंथों में किया है । इनके विशेष ऐसे कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं, जिनके आधार पर उनके प्रतिपादित ताल निरुपण का बोध हो सके ।

10 वीं सदी के अंत तथा 11 वीं सदी के पूर्वाद्ध मे अभिनवगुप्त द्वारा लिखित ''नाट्यशास्त्र'' पर अभिनव भारती टीका उपलब्ध होती है । इस ग्रंथ में भरत के मत पर टीखा लिखि गई है । कहा है सशब्द और निःशब्द क्रिया विशेष के योग से बना काल जिससे गीत की क्रिया को नापा जा सके ताल कहलाता है ।

इ.सं. 1097 से 1133 मे नान्यदेव ने ''भरतभाष्य'' संगीत ग्रंथ की रचना की । गइ ग्रंथ में भरत की मान्यताओं की ही विवेचन विस्तार से हुआ है ।

नारदकृत ''संगीत-मकरद'' ग्रंथ का समयकाल 10 से 12 वीं सदी के मध्य रहा होगा । संगीत मकरंद मे ताल की व्याख्या इस प्रकार की है - काल की क्रियात्मक आवृत्ति जिसे गीत, वाद्य और नृत्य में धारण किया जाता है ताल कहलाता है । इन्होने मार्गी तथा देशी दोनो प्रकार के तालों का निरुपण किया है। नृत्याध्याय में मृदंग वाद्य एवं उसके वादन के महत्व का विवचेन किया है ।

13 वीं सदी मे शारंगदेव ने ''संगीत रत्नाकर'' ग्रंथ की रचना की । इतिहास की दृष्टि से मध्यकाल का यह सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है । इस ग्रंथ में ताल की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

''स्थिरता को दर्शाने वाले तल् धातु के आद्य स्वर की, अ प्रत्यक्ष के कारण वृद्धि होकर ताल शब्द बना हौ लघु गुरु आदि प्रमाण के क्रियाओं से नापा जाने वाला तथा गीत, वाद्य नृत्य को स्थिरता प्रदान करने वाला तथा परिमाण धारण कराने वाला काल ही ताल है ।''

शारंगदेव ने मार्गी और देशी तालों का स्पष्ट निरूपण किया है । ऋचा गाथा आदि सप्त गीतों में तथा मद्रक, अपरांतक आदि गीतको मे प्राचीन निश्चित मार्गों द्वारा वादन किये जाने वाले भरत के तालों को मार्गी ताल कहा है । विभिन्न प्रांतों एवं राज्यों मे लोगो के रूचिनुसार होने वाले, गायन, वादन व नृत्य के संगत मे प्रयोग किये जाने वाले अर्थात देशी संगीत के लिये उपयुक्त तालों को देशी ताल कहा है । शारंगदेव ने 120 देशी तालों का विषद् विवेचन पांचवे अध्याय 'तालाध्याय' में किया है।

अन्य संगीत ग्रन्थों में ताल की व्याख्या की गई है -

संगीतार्णव - तांडव नृत्य से ता तथा लास्य (स्त्री) नृत्य से ल इस प्रकार दोनों वर्णों के संयोग से ताल शब्द की व्युत्पत्ति बताई है ।

सगीत दर्पण

ता कारे शंकरः प्रोक्तौ लकारे पार्वतीस्मृता ।
शिवशक्ति समायोगतः नामाभिर्धियते ॥

अर्थात - शिव से ताकार तथा पार्वती से लकार इन दोनों शिव (शंकर) और शक्ति (पार्वती) से ताल शब्द की उत्पत्ति हुई है।

भक्ति रत्नाकर

तकार (त) कर्तिकेय से, आकार विष्णु से तथा लकार मारुत से मिलकर इन तीनो देवताओ द्वारा अधिष्ठित ताल शब्द बना है ।

उपरोक्त ताल व्याख्याओ के निरूपण पर विचार करने के बाद ''ताल काल क्रियामानम्'' अर्थात काल को मापने का परिमाण यह संक्षिप्त व्याख्या दृष्टिगोचर होती है । इस प्रकार हम कह सकते है कि मात्रा एवं क्रियाओ के विशिष्ठ समूह से बने आवर्तकाल खंड को ताल कहते है ।

प्राचीन काल से वर्तमान काल तक ताल का काल, क्रियाओ द्वारा ही स्पष्ट होता रहा है । प्राचीन व मध्यकाल मे जिसे सशब्द और निशब्द क्रिया कहते थे, वर्तमान में हम उसे ताली व खाली

कहते हैं । तथा ताल के दश प्राणो का उल्लेख किया जाता है जिनका ताल के प्रस्तुति से सीधा सम्बन्ध है । काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला लय,यति और प्रस्तार इन नियमों के अन्तर्गत ताल का वादन करने से वह संगीत में रसोत्पत्ति, भावोत्पत्ति, समयबंधन, सौंदर्य, चलन, स्थायित्व, संरक्षण आदि के लिये योग्य सिद्ध होता है ।

ताल व्यवहार के दष्टि से हम ताल का ऐतिहासिक विवेचन करेगे तो हमे दृष्टिगोचर होगा कि-

भीमवाटिका के कितने ही गुफा चित्रों मे आदि मानव को समूहनृत्य करते हुए चित्रित किया गया है । उन चित्रों को ध्यान पूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि चित्रित नर-नारियों की हाथ और पैरों की गति किसी लय विशेष मे निबद्ध है । ये भित्ति चित्र ईसा पूर्व 5,000 वर्ष के लगभग के माने जाते है । इससे सिद्ध होता है कि अति प्राचीन काल में भी तालवाद्यो का प्रयोग होता था । इन चित्रों मे उल्लिखित नृत्य भंगिमाएं भरत की नाट्यशास्त्र में परिभाषित ''कलापात लयान्वितम'' की ओर इंगित करती है ।

भरत के ''नाट्यशास्त्र'' काल से तो ताल का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । चचत्पुटादि पांच तालों का संगीत के संदर्भ में प्रयोग का विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र में नाट्य के संदर्भ मे किया गया है। 12 वीं सदी तक लगभग भरत मत के अनुसार ही ताल वादन व्यवहार मे आता रहा । 13 वीं सदी में देशी तालो का स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन ''संगीत-रत्नाकर'' में मिलता है ।

14 वीं 15 सदी से दक्षिण भारत में सप्त-सूलादि तालों का प्रचार रहा किन्तु उत्तरी भारत में यव संस्कृति के परिणाम स्वरूप भारतीय तालो का गीत प्रकारो के अनुसार प्रयोग प्रारंभ हो गया ।

वर्तमान मे उत्तरी भारत मे उत्तर हिन्दुस्तानी ताल पद्धति तथा दक्षिण भारत मे कर्नाटकी ताल पद्धति के अनुसार तालों को व्यवहार में लाया जा रहा है ।

ताल शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके व्यवहारिक एवं ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट होता है कि ताल के महत्व के कारण ही संगीत मे उसकी आवश्यकता सिद्ध हुई है । संगीत दो प्रकार का प्राचीनकाल से बताया गया है । निबद्ध संगीत और अनिबद्ध संगीत । संगीत का ताल मे समन्वय स्थापित करने से वह निबद्ध होकर रंजकत्व प्रदान करने वाला बनता है । गायन, वादन और नृत्य को ताल द्वारा ही गति प्राप्त होती है । संगीत में श्रृंगारिक, आल्हादित, उत्तेजित आदि रस-भावो की निष्पत्ति ताल के गति प्रदान करने से ही संभव होती है ।

संगीत में ताल के महत्व और आवश्यकता की दृष्टि से निम्न बिन्दुओं पर विचार कर सकते हैं-

1- संगीत एवं तालका समय बंधन

सुन्दरता, मधुरता या अनय किसी भी तत्व का परिसीमन होने पर उसे निरस बना देता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' ऐसी कहावत है। यद्यपि अनिबद्ध संगीत स्वरबद्ध हो, सुमधुर हो, निरंतर होते रहने पर रसिक मन में वितृष्णा भर देता है। इस प्रकार वितृष्णा उत्पन्न न हो इसलिए लयात्मक समयबद्धता का होना आवश्यक हो जाता है। अखंड समय तक बिना लयबद्धता के एवं तालबद्धता के संगीत का आस्वादन कठिन हो जाता है। संगीत का तालरूप में समय एवं लयबद्ध होना उसे मधुरतम्, स्फूतिदायक एवं मनोरंजक बना देता है। श्रोतागण ताल के निश्चित समय खंडों की आवृत्त में विभोर होकर अत्यंत सुख का अनुभव करते हैं।

2- सौंदर्यपूर्ण शैली और ताल

ताल द्वारा संगीत में सौंदर्यपूर्ण एवं चमत्कार पूर्ण चलन शैलियों का विकास होता हैं इस प्रकार के चमत्कार पूर्ण एवं सौंदर्यपूर्ण चलन शैलियों में ताल संगीत के आनंद एवं सुख को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देता है। प्रतिभा सम्पन्न कलाकारों को चलन शैलियों का सृजन एवं विकास ताल द्वारा ही सम्पन्न होता है। ताल द्वारा विभिन्न लयकारियों युक्त चलन शैली के मौलिक तत्व से समन्वित होकर संगीतकारों की कला दुगुनी-चैगुनी प्रभावोत्पादक हो जाती है। कुशल गायकों के विशिष्ट गति युक्त गीत प्रकारों के साथ ताल के चलन शैली का तालमेल यदि ठीक से बैठ जाता है, तो वह गीत के उत्पन्न भावों एवं गंभीरता आदि से युक्त चलन शैली में चार चांद लगा देता है। इन्हीं चलन शैलियों के कारण प्राचीनतम गीत भी मन को आल्हादित कर देते हैं।

3- सांगीतिक संयम एवं ताल

कला में संयम द्वारा ही सुन्दरतम् भावनाओं का प्रदर्शन सम्भव होता है। संगीत में संयम ताल द्वारा ही रखा जा सकता है। संगीत की तीनों कलाओं गायन, वादन और नृत्य में संतुलन एवं संयम प्राचीन काल से ही रखने का प्रधात है जिसके कारण संगीत का विकास निरन्तर होता रहा है। गायन, वादन और नृत्य तीनों कलाओं में सांगीतिक संयम ताल द्वारा ही संभव होता है। जिस कारण उसकी भावाभिव्यक्ति, रसोत्पत्ति, एवं सौष्ठव निरंतर बना रह सके। विभिन्न लयों में गाये जाने वाले गीतों में लयका संयम ताल से ही संभव होता है। जिस कारण गीत का सौष्ठव नष्ठ नहीं होता। ताल के संयम द्वारा ही संगीत में कला का प्रदर्शन प्रारंभ से अन्त तक मौलिक एवं शास्वत बना रहता है।

4- सांगितिक स्थायित्व, संरक्षण एवं ताल

संगीत को अधिक समय तक स्थाई बनाये रखने के लिए ताल का समन्वयन या सहयोग अत्यंन्त आवश्यक होता है। अनिबद्ध संगीत का प्रदर्शन कुछ समय पश्चात् निरर्थक एवं उबाऊ लगने लगता है। जैसे ही उसमें तालकी संगत प्रारम्भ हो जाती है। उसमें

अपने आप रंजकत्व उत्पन्न हो जाता है। सुन्दरता उत्पन्न होकर जन-जन का मनोरंजन करने का स्थायित्व उसमें अपने आप आ जाता है। संगीत को ताल में निबद्ध होकर अधिक समय तक स्थायित्व प्राप्त होता है। जब स्थायित्व हो जाता है, तो गायक या वादक की कला निरर्थक नही होती, कार्यक्रम असफल होने से बच जाता है। इस प्रकार संगीत का संरक्षण अपने आप हो जाता है। हम कई बार देखते है कि गायक या वादक के सज्ञथ ताल संगत का समन्वय ठीक से नहीं हो पाता तो उसे अधिक समय तक चालू रखना असंम्भव हो जाता है, इस कारण कलाकार की कला के प्रस्तुतिकरण का संरक्षण नहीं हो पाता।

5- गतिभेद एवं रसनिष्पत्ति

संगीत में ताल की गति कलाकार के प्रस्तुति के अनुसार हो तो उसमें रसनिष्पत्ति सहज संभव हो जाती है। शब्दों के स्पष्टीकरण के अभाव के बावजूद ताल एवं लय द्वारा रसनिष्पत्ति प्राप्त हो जाती है। रौद्र, वीर, श्रृंगार, शांत रस के अनुसार गीतों में ताल की लय भी उसके अनुरूप होना आवश्यक होता है। ख्याल, ठुमरी, भजन, ध्रुपद, तराना आदि गीत प्रकारों के साथ गीत के प्रकृति के अनुसार ताल एवं लय की संगत रसनिष्पत्ति में सहायक होती है। गायन, वादन, या नृत्य में निश्चित स्थान पर गति भेद एवं लयकारियों द्वारा अधिक सौंदर्य उत्पन्न होता है। जैसे ध्रुवपद गायन गंभीर प्रवृत्ति का गायन हैं जिसके साथ चैताल ताल द्वारा विलंबित लय में संगत सुसंगत होती है तथा गायक के प्रस्तुतिकरण के अनुसार गतिभेद का वादन रसनिष्पत्ति में सहायक होता है। तराना में कोई शब्द नहीं होते तथापि उसके साथ द्रुत लय में, गतिभेद के अनुसार ताल वादन उसमें रसनिष्पत्ति करता है। चर्म वाद्य पर ताल वादन में मृदु तीव्र, खुले-बन्द आघातों द्वारा भिन्न-भिन्न रसों की निष्पत्ति संभव होती है।

6- संगीत का मूल्यांकन और ताल

ताल संगीत में मूल्यांकन का एक प्रमुख साधन है। कहते हैं, ''एक बार बेसुरा ग्राह्य होता है, बेताला नहीं''। स्वर के किंचित हटने पर भी यदि ताल की लय एवं गीत की लय में समन्वय स्थापित हो तो संगीत में स्वर की विदृषता छिप जाती है। ताल के आशु-प्रतिमा के बल पर ही संगीतकार के संगीत का मूल्यांकन संभव हो पाता है तो हम देखते हैं कि अच्छे से अछे संगीतकार को यदि ताल वाद्य वादक की उचित संगत प्राप्त नहीं होती है तो उसका कार्यक्रम असफल हो जाता है अन्यथा नहीं। गायक वादक तथा नर्तक के कलात्मक मूल्य की अनुभूति ताल गति में किये गये समय-सामयिक एवं सम-प्राकृतिक बोलों के निकास से संभव होती है। एक साधारण कलाकार भी उत्तम ताल संगति के कारण अपने को अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संगीत में ताल का क्रमिक विकास उसके महत्व एवं आवश्यकता के अनुसार प्राचीन काल से ही प्राप्त होता है। संगीत चाहे वह शास्त्रीय संगीत हो, सुगम संगीत हो, लोक संगीत हो या सिनेमा संगीत हो उसमें मात्रिक खंडों के अनुसार विशेष लयकारी में उचित ताल वादन आवश्यक होता है। जिससे गीत की शैली की सुन्दरता बनी रहे, वह निरंतर अच्छा लगे, उससे रस निष्पत्ति हो एवं वह मनोरंजक बन सके ।

संदर्भ ग्रन्थ

1– सक्सेना, डॉ0 वसुधा ताल के लक्ष्य-लक्षण स्वरूप में एकरूपता प्रकाशन - कनिष्क, पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली 110002, प्रथम संस्करण 2006

2– पण्डित, मिश्र छोटेलाल ताल प्रबन्ध कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 11000 प्रथम संस्करण 2006

3– मिश्र, डॉ0 लालमणी भारतीय संगीत वाद्य प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ तीसरा संस्करण

●

तबला-घरानों की उत्पत्ति का मूल आधार : संगीत विधाओं की संगत

*डॉ0 भीमसेन सरल**

प्रत्येक लय-ताल-वाद्य अपने निर्माण काल से ही भारतीय संगीत में मुख्यतः साथ-संगत के लिए प्रयुक्त होता आ रहा है और यह बात तबले के ऊपर भी लागू होती है। तबले के स्वरूप आदि में परिवर्तन व उसका समग्र विकास का मूल आधार साथ-संगत ही है, चाहे वह वादन कला हो या वादन शैली या घराना। प्रमुखतः कुछ विशिष्ट गायन-वादन-नर्तन शैलियों का साथ-संगत ही तबले के विकास का मूल आधार है। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारतीय संगीत में ख्याल तथा ठुमरी गायन शैलियों का उद्भव हो चुका था। परन्तु उस समय तक ध्रुवपद-धमार शैली और उनके साथी वाद्य पखावज का ही अधिक प्रचार था। ख्याल एवं ठुमरी जैसी श्रृंगारिक एवं मधुर गायन शैलियों के लिए पखावज वाद्य उपयुक्त न था। ऐसे में किसी अन्य वाद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही आवश्यकता तबले के जन्म और विकास की जननी है। 15वीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय संगीत में ख्याल के प्रवेश और प्रयोग के साथ ही तबले के नवीन स्वरूप व वादन शैली का विकास प्रारम्भ हो गया था। किन्तु आगे के दो सौ वर्षों तक ध्रुवपद गायकी एवं पखावज वाद्य के प्राधान्य के कारण तबले को तत्कालीन विद्वान् संगीतज्ञों ने पूर्णतः स्वीकारा नहीं था। ऐसा नवीन प्रयोग के लिए होना स्वाभाविक भी है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि 15वीं से 17वीं शताब्दी के बीच के समय-काल में तबले के स्वरूप और उसके विकास की समुचित जानकारी हमें प्राप्त नहीं होती।

सन् 1719 ई॰ में मुहम्मदशाह रंगीले दिल्ली राज्य के बादशाह नियुक्त हुए। रंगीले का समय संगीत, कला एवं साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी माना जाता है। रंगीले के समयकाल में ही ध्रुवपद-धमार गायकी के स्थान पर ख्याल, ठुमरी, दादरा, कव्वाली जैसी गायन-शैलियाँ तथा वीणा के स्थान पर सितार जैसे नवीन तन्तु वाद्य का प्रचार एवं विकास हुआ है। विभिन्न अध्ययनों से यह प्रमाणित होता है कि उन दिनों की ख्याल गायकी में आज की शास्त्रीयता और नियमबद्धता का प्रमाण कम पाया जाता था। ख्याल गायकी का प्रचलन मुख्यतः नायिकाओं में होने के कारण उन दिनों ख्याल गायकी तथा ख्याल गायक-गायिकाओं को उतना सम्मान नहीं दिया जाता था, जितना कि ध्रुवपद-गायन शैली व इस शैली के कलाकारों को। इन गायक-गायिकाओं की संगत बादशाह के सामने खड़े होकर करने का प्रचलन था, जो मृदंग (पखावज) के लिए असहज एवं असम्माननीय था। अतः उन दिनों के मृदंग (पखावज) वादक ख्याल के साथ संगत करना अपना अपमान समझते थे। ख्याल की तरह ही ठुमरी, दादरा, टप्पा, ग़जल, कव्वाली, कजरी, होरी आदि अनेक नवीन एवं श्रृंगारिक गायन-शैलियाँ धीरे-धीरे प्रचार में आने लगीं। तदुपरान्त तन्तु वाद्यों के क्षेत्र में भी परिवर्तन का प्रारम्भ हो चुका था। वीणा के स्थान पर सितार की झंकार रंगीले के दरबार में सुनाई देने लगी थी। सहतार (सितार) की साथ-संगत के लिए भी पखावज की गम्भीर ध्वनि उपयुक्त न थी। अतएव इन गायन-शैलियों एवं सितार-वादन के अनुकूल साथ-संगत हेतु अभिजात संगीत में तबले का प्रवेश हुआ।

मुहम्मद शाह रंगीले के शासनकाल में (सन् 1719 ई॰ के लगभग) उ॰ सिद्धार ख़ाँ ढाढ़ी नामक एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ने युग की बदलती हुई रुचि का गहराई से अध्ययन करके, उन दिनों अभिजात संगीत में प्रवेश पाने को इच्छुक व सक्षम तबला सदृश एक प्राचीन ताल वाद्य की आकृति एवं रूप सज्जा में कुछ परिवर्तन किया। पखावज एवं समकालीन प्रचलित वाद्यों की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों का आधार लेकर उस पर अर्ध-पाणि एवं चाँटी प्रधान बाज का आविष्कार किया, अंगुलियों के रख-रखाव में परिवर्तन किया तथा उस पर अनेक बोल-बन्दिशों की रचना करके उन्हें अपने वंशज एवं शिष्यों को सिखाकर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया।

यहाँ यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि ख्याल गायकी का प्रचार-प्रसार 15वीं शताब्दी तक भारतीय संगीत में हो चुका था। अतः उस्ताद सिद्धार ख़ाँ के ढाई-तीन सौ वर्ष पूर्व तबला अभिजात (शास्त्रीय) संगीत में प्रवेश कर चुका था, परन्तु 15वीं से 17वीं शताब्दी के समयान्तराल में तबले के विकास के विषय में हम अनभिज्ञ हैं।

सिद्धार ख़ाँ दिल्ली निवासी थे। दिल्ली देश की राजधानी होने के कारण दिल्ली के शहंशाही दरबार में भारतीय-मुस्लिम दोनों प्रकार के संगीत का प्रचलन था। तथापि ख्याल, ठुमरी, कव्वाली, ग़ज़ल आदि गान प्रकारों का प्रचलन अधिक था। इस तरह के गान प्रकारों तथा कलाकारों को राजाश्रय भी प्राप्त था। ख्याल, ठुमरी आदि गान प्रकारों में लोगों की रुचि भी बढ़ गयी थी। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में प्रतिभा सम्पन्न कलाकार सिद्धार ख़ाँ ढाढ़ी पदस्थ थे। श्रृंगार रस प्रधान ख्याल गायकी एवं सितार-वादन आदि के साथ उपयुक्त संगत हेतु मृदंग (पखावज), ढोलक एवं पहले से प्रयुक्त हो रहे तबला सदृश वाद्यों की अपेक्षा अन्य किसी तालवाद्य व वादन शैली की आवश्यकता उन्होंने महसूस की। अतः तत्कालीन संगीत

* तबला शिक्षक, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी

जगत् में प्रचलित दो अंगों वाले तत्कालीन संगीत विधाओं की संगत के अनुरूप अपूर्ण एवं अविकसित तबला वाद्य में सुधार कर उसमें नवीन वादन-शैली को प्रस्तुत किया। अपने परिश्रम, हुनर, सृजनशीलता व विद्वता के कारण उन्होंने दाहिने तबले की चाँटी पर बजने वाले मृदुल एवं बायें पर ढोलक समान घुमकदार नवीन बोल-बन्दिशों की रचना की एवं पंजे के स्थान पर अंगुलियों से वादन की शुरुआत की।

इस प्रकार की बोल-बन्दिशें एवं वादन-शैली सामयिक गान प्रकारों तथा सितार-वादन के लिए इतनी उत्तम साबित हुईं कि इसको सीखने के लिए अनेक कलाकार आगे आये और इस प्रकार चाँटी के द्वारा प्रस्तुत बोल-बन्दिशों का परम्परागत प्रचलन प्रारम्भ हो गया। यह परम्परा दिल्ली घराने के नाम से जानी गयी और इस घराने के शिष्य शिक्षा ग्रहण करने के बाद देश के कई शहरों में गये। उन शिष्यों ने दिल्ली घराने के बोल-बन्दिशों एवं वादन शैली से हटकर अपनी प्रतिभा व दूरदर्शिता के आधार पर स्थानीय सांस्कृतिक व सांगीतिक वातावरण एवं प्रकृति के अनुकूल परिवर्तन करके नयी शैली को जन्म दिया और नये-नये घरानों का प्रादुर्भाव हुआ।

दिल्ली घराने में कई ऐसे विद्वान् कलाकार हुए हैं, जिन्होंने संगत की परम्परा का निर्वहन करते हुए तबले के विकास व विस्तार में अपना समुचित सहयोग प्रदान किया है। ऐसे ही कुछ कलाकारों के नाम प्रमुख रूप से इस प्रकार लिये जा सकते हैं- उ॰ सिद्धार ख़ाँ ढाढ़ी प्रवर्तक, उ॰ नत्थू ख़ाँ (ख़लीफा), उ॰ मुनीर ख़ाँ, उ॰ लतीफ अहमद, उ॰ शफात अहमद इत्यादि।

उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले के अन्तर्गत अजराड़ा नामक गाँव के मूल निवासी दो भाई मीरू ख़ाँ एवं कल्लू ख़ाँ सिद्धार ख़ाँ के पौत्र सिताब ख़ाँ (दिल्ली घराने) से तबले की शिक्षा प्राप्त कर अपने गाँव वापस आकर नवीन वादन-शैली को जन्म दिया। उनकी शिष्य परम्परा ने उस परिपाटी को आगे बढ़ाया, नयी वादन शैली व बोल-बन्दिशों का विस्तार किया। इन्होंने दिल्ली की वादन-शैली को ही आधार मानते हुए तिस्र जाति प्रधान व दायें-बायें के लड़न्त करते हुए बोल-बन्दिशों की रचना की। ये रचनाएँ विशेषकर सितार एवं बाँसुरी आदि फूँक वाले वाद्यों के वादन-संगीत में संगत हेतु अधिक आकर्षक व अनुकूल प्रतीत हुईं। यह वादन-शैली अजराड़ा घराने के नाम से प्रचलित हुई। सन् 1940 ई॰ के लगभग उ॰ शम्भू ख़ाँ के पुत्र उ॰ हबीबुद्दीन ख़ाँ का नाम इस घराने के प्रतिनिधि कलाकार के रूप में लगभग दो दशक तक संगीत जगत् में सर्वोच्च शिखर पर रहा। उनका वादन बेजोड़ होकर मधुर एवं कर्णप्रिय था। वाद्य-संगीत के साथ संगत में उन्होंने प्रावीण्य प्राप्त किया था। फलतः वे इतने लोकप्रिय कलाकार हुए कि उन्हें 'संगत सम्राट' के नाम से जाना गया। इस घराने की भी एक विस्तृत परम्परा हमें प्राप्त होती है। वर्तमान में उ॰ अकरम ख़ाँ, पं॰ सुधीर पाण्डेय, उ॰ जफर मुहम्मद, उ॰ मंजू ख़ाँ इत्यादि कलाकार इस घराने का सफलतापूर्वक नेतृत्व करते हुए संगत परम्परा का बखूबी निर्वहन कर रहे हैं।

सन् 1739 ई॰ के आस-पास हिन्दुस्तान पर नादिरशाह का हमला हुआ। इस कारण दिल्ली के शासक मुहम्मदशाह रंगीले के संगीत से विरक्त हो जाने के कारण अनेक कलाकार दिल्ली छोड़कर अन्य शहरों में जा बसे, जिसमें एक लखनऊ था। सांगीतिक दृष्टि से दिल्ली के पतन के पश्चात् लखनऊ कलाकारों का प्रमुख केन्द्र बना। ख्याल गायकी के प्रचार के साथ-साथ उन दिनों वहाँ ठुमरी तथा टप्पा गायन शैलियाँ भी पनप रही थीं। कथक नृत्य का भी वहाँ काफी प्रचार बढ़ रहा था। महाराज कालकादीन तथा महाराज बिन्दादीन के द्वारा कथक नृत्य का एक घराना ही बना। उन दिनों अभिजात संगीत में साथ-संगत के लिए वहाँ पखावज ही एकमात्र प्रमुख ताल-वाद्य था। किन्तु ख्याल की स्वर प्रधान गायकी एवं ठुमरी की नजाकत के लिए पखावज का गम्भीर वादन बोझिल-सा लगता था। इसी प्रकार, कथक जो कि शृंगार भाव व रस प्रधान नृत्य है, उसके रस एवं भाव को समुचित आकार प्रदान करने हेतु किसी नवीन वाद्य की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अतः दिल्ली से आये हुए तबला वादकों ने इस अस्थिर परिस्थिति का लाभ उठाया और अपने वादन में ऐसे परिवर्तनों के विषय में गम्भीरता से विचार किया जो तत्कालीन गान प्रकारों एवं कथक नृत्य की संगत के लिए उपयुक्त हो। दिल्ली का तबला ख्याल तथा ठुमरी की संगत के लिए तो बेहतरीन साबित हुआ, परन्तु नृत्य की ज़ोरदार लम्बी-लम्बी परनों और चक्रदारों के सामने वह उलझ गया। अतः विद्वान्-कलाकारों ने नृत्य की संगत हेतु दिल्ली के तबले में आवश्यक परिवर्तन किये।

उपलब्ध प्रमाण के आधार पर सर्वप्रथम उ॰ मोदू ख़ाँ तथा उ॰ बख्शू ख़ाँ (उ॰ सिद्धार ख़ाँ के पौत्र) ने लखनऊ आकर वहाँ की तत्कालीन सांगीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण किया और तद्नुसार तबला की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों में परिवर्तन किया। उन दिनों लखनऊ में प्रचलित कथक नृत्य के साथ-संगत हेतु शुद्ध दिल्ली का बन्द बाज उपयुक्त न था। अतः उन्होंने पखावज की वादन-शैली एवं रचनाओं का आधार लेकर तबला-वादन-शैली में परिवर्तन करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी नवीन वादन-शैली में चाँटी से अधिक स्याही का तथा दो उँगलियों के स्थान पर पाँचों उँगलियों का विभिन्न प्रकार से प्रयोग शुरू किया। बोलों के निकास में परिवर्तन किया, चाँटी की जगह स्याही और लव (सुर) से नाद उत्पन्न करने का प्रयत्न किया तथा गत, परन, टुकड़े, चक्रदार आदि का उसमें समावेश करके एक नवीन बाज (वादन-शैली) का निर्माण किया, जो न तो दिल्ली के समान बन्द बाज था और न ही पखावज की भाँति थापिया वाला खुला बाज। अतः देश के पूर्वी भाग में लखनऊ शहर में विशेष रूप से कथक-नृत्य-शैली की प्रकृति आदि के अनुरूप तबले पर नवीन बोल-बन्दिशों व वादन शैली का निर्माण किया गया। इस प्रकार लखनऊ घराने के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान्-कलाकारों के कलात्मक प्रयासों के परिणामस्वरूप नृत्य के साथ तबला संगत की परम्परा की शुरूआत हुई।

विशेषतया कथक नृत्य के साथ संगत प्रदान करने के उद्देश्य से विकसित तबला-वादन-शैली को उ॰ मोदू ख़ाँ व बख्शू ख़ाँ ने अपने शिष्यों को सिखाया। उनके द्वारा तैयार ये शिष्य देश के कोने-कोने में फैलकर जहाँ पहले ख्याल नामक शृंगार प्रधान गायन शैली के साथ व सितार जैसे तन्त्र वाद्य के साथ तबला संगत किया जाता था, वहाँ अब ये (तैयार शिष्य) शृंगार प्रधान गायन शैली के अलावा कथक नृत्य के साथ सफल तबला संगत करके तबले के नये स्वरूप से लोगों को परिचित करवाया। इस घराने के प्रतिनिधि कलाकार जिन्होंने परम्परा का बखूबी निर्वहन व विस्तार किया, उनमें से कुछ श्रेष्ठ कलाकारों के नाम इस प्रकार लिये जा सकते हैं- उ॰ मम्मन ख़ाँ, उ॰ सलारी ख़ाँ, उ॰ मुहम्मद ख़ाँ, उ॰ आबिद हुसैन, उ॰ वाजिद हुसैन, उ॰ आफ़ाक़ हुसैन, उ॰ इल्मास हुसैन, पं॰ सपन चौधुरी इत्यादि।

लखनऊ की ही भाँति भारत की सांस्कृतिक राजधानी बनारस में भी इसी समय कथक नृत्य व ठुमरी, दादरा, चैती, कजरी इत्यादि गायन शैलियों का खूब प्रचलन था। तबला भी यहाँ बजता था, लेकिन उस समय तक तबले को विशेष पहचान व सफलता नहीं मिली थी। भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी (बनारस) शुरू से ही संगीत और संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा है। इसीलिए संगीत की समस्त विधाएँ यहाँ पल्लवित और पुष्पित होती रहीं। पं॰ रामसहाय जी लखनऊ घराने के प्रवर्तक उ॰ मोदू ख़ाँ से तबले की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके बनारस लौटे और यहाँ के सांगीतिक वातावरण के अनुकूल तबले की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों में आवश्यक परिवर्तन कर बनारस घराने की नींव डाली।

बनारस का सांगीतिक वातावरण अपनी तरह का अलग ही रहा है। ध्रुवपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, होली, कजरी और चैती गायन शैलियाँ यहाँ खूब प्रचलित रही हैं। यहाँ सितार, सारंगी, शहनाई बाँसुरी व वीणा जैसे वाद्यों के अनेक विद्वान्-कलाकार हमेशा विद्यमान रहे हैं, साथ ही यहाँ कथक-नर्तन की भी एक समृद्ध परम्परा रही है। यहाँ के धार्मिक, सांस्कृतिक व सांगीतिक वातावरण इत्यादि इन सबने तबला-वादन में अपना प्रभाव छोड़ा अर्थात् इन सभी संगीत विधाओं के अनुकूल संगत प्रदान करने हेतु तबले की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों का विकास तथा विस्तार किया गया। इसीलिए अधिकांशतः जहाँ अन्य घराने किसी एक विधा विशेष के साथ संगत करने में पूर्णतः दक्ष दिखते हैं, तो वहीं बनारस घराना गायन, वादन और नृत्य सभी के साथ कुशल संगत करने में दक्ष है। अतः संगीत की समस्त विधाओं व क्षेत्रों में बनारस घराने के कलाकारों द्वारा तबला संगत की एक लम्बी व विस्तृत परम्परा हमें प्राप्त होती है। इस घराने का नृत्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ तोड़े, टुकड़े, चक्रदार, स्तुति परन, उठान, पराड़ या पड़ार इत्यादि बन्दिशों का विस्तार नृत्य की सफल व चमत्कृत संगत हेतु विभिन्न कलाकारों द्वारा किया गया। यहाँ कथक नृत्य के साथ तबला-संगत की परम्परा का विकास व विस्तार बख़ूबी किया गया। साथ ही ठुमरी, चैती, दादरा, कजरी इत्यादि गान प्रकारों के साथ भी तबला संगत की परम्परा का पर्याप्त विस्तार यहाँ प्राप्त होता है। इसी प्रकार तन्त्र वादन के साथ भी तबला संगत की परम्परा का विस्तार बनारस के सृजनशील तबला संगत के कलाकारों द्वारा किया गया।

इस घराने में अनेक ऐसे विद्वान्-कलाकार हुए हैं, जो संगीत के सभी विधाओं (गायन, वादन व नृत्य) के साथ तबला संगत करने में दक्ष रहे हैं। सभी विधाओं के साथ चमत्कृत तबला संगत प्रदान करने वाले इस घराने के कुछ विद्वान्-कलाकारों के नाम इस प्रकार लिये जा सकते हैं, जिनका नाम न सिर्फ भारत वरन् समूची दुनिया में विख्यात है। जैसे- पं॰ राम सहाय जी (प्रवर्तक), पं॰ परतप्पू मिश्र, पं॰ भैरों सहाय, पं॰ बिक्कू महाराज, पद्मभूषण पं॰ सामता प्रसाद उर्फ गुदई महाराज, बंगाल टाइगर पं॰ ननकू महाराज, नाधिंधिंना के जादूगर पं॰ अनोखे लाल मिश्र, पद्मविभूषण पं॰ किशन महाराज, पं॰ रामजी मिश्र (पं॰अनोखे लाल जी के पुत्र), जूनियर गुदई महाराज के नाम से प्रसिद्ध प्रो॰ जे॰ मैसी, पं॰ रंगनाथ मिश्र, पं॰ ईश्वर लाल मिश्र, पं॰ छोटे लाल मिश्र, पं॰ कुमार बोस इत्यादि।

तबला-वादन के क्षेत्र में लखनऊ घराने का स्थान अति विशिष्ट है। उससे एक शाखा बनारस तो दूसरी फर्रूख़ाबाद गयी। लखनऊ घराने के प्रवर्तक उ॰ बख्शू ख़ाँ के शिष्य एवं दामाद हाजी विलायत अली ख़ाँ फर्रूख़ाबाद के रहने वाले थे। अपने ससुर से तालीम प्राप्त करने के पश्चात् वे फर्रुख़ाबाद आकर अपनी नयी परम्परा आरम्भ की जो फर्रुख़ाबाद घराने के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह घराना पूरब की ही एक शाखा होते हुए भी इसका बाज न तो लखनऊ के जैसा नृत्य से प्रभावित, न बनारस तथा पंजाब जैसा जोरदार और न ही दिल्ली के समान किनार का है।

दिल्ली घराने के तबला वादकों की परम्परा ख्याल नामक गायन शैली व ख्याल अंग से बजने वाले वाद्यों के साथ संगत हेतु विशेष रूप से प्राप्त होती है, अजराड़ा घराने की सितार आदि छोटे नाद उत्पन्न करने वाले, बाँसुरी आदि फूँक वाले वाद्यों के साथ। लखनऊ घराने की तबला संगत की परम्परा कथक नृत्य व शृंगार प्रधान गायन शैलियों के साथ और बनारस घराने की संगत परम्परा विशेष रूप से कथक नृत्य व ठुमरी, दादरा, चैती, कजरी इत्यादि गान शैलियों के साथ प्राप्त होती है व इन्हीं संगीत विधाओं के अनुरूप इन वादन शैलियों का विकास व विस्तार भी विशेष रूप से हुआ है। परन्तु फर्रुख़ाबाद घराने की संगत परम्परा विशेष रूप से हमें विभिन्न तन्त्र वाद्यों के साथ प्राप्त होती है। फर्रुख़ाबाद घराने की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों का विकास व विस्तार विशेष रूप से तन्त्र वाद्यों जिनमें सितार आदि छोटे नाद उत्पन्न करने वाले, सरोद आदि बड़े व गम्भीर नाद उत्पन्न करने वाले तथा अन्य सभी प्रकार के तन्त्र वाद्यों के तन्त्रकारी (गतकारी) अंग के वादन के साथ चमत्कृत व खूबसूरत संगत प्रदान करने की दृष्टि से किया गया जान पड़ता है। इस घराने के कलाकार हालाँकि गायन व नृत्य के साथ भी संगत करने में उतने ही पारंगत हैं फिर भी जितनी विद्वता व

कुशलता इन्हें तन्त्र वाद्यों के साथ संगत करने में प्राप्त हुई है वह अपने आपमें बेजोड़ व अद्वितीय है। इस घराने का विस्तार व विकास प्रमुख रूप से हमें विभिन्न प्रकार के तन्त्र वाद्यों की संगत परम्परा में प्राप्त होता है। इसका सर्वप्रमुख कारण है कि फर्रूख़ाबाद, कलकत्ता, रामपुर इत्यादि स्थानों से सीधे जुड़ा रहा है जहाँ पर विभिन्न प्रकार के तन्त्र-वादन की एक विस्तृत परम्परा हमें प्राप्त होती है। अतः स्वाभाविक है कि फर्रूख़ाबाद घराने के तबला-वादकों का रुझान तन्त्र-वाद्यों के साथ बखूबी व चमत्कृत संगत करने की ओर गया। इस प्रकार, यहाँ से हमें वादन-संगीत विशेषकर गतकारी (तंत्रकारी) के साथ सुदृढ़, कुशल व चमत्कृत संगत परम्परा प्राप्त होती है। इस घराने में कायदा, पेशकार, रेला, रौ, चलन व गतें विशेष उल्लेखनीय हैं, जो सोलो वादन के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के तन्त्र वाद्यों के साथ संगत हेतु कुशलता के साथ प्रयुक्त होते हैं।

सांगीतिक दृष्टि से इस घराने का विशेष महत्व है। इस घराने में अनेक ऐसे विद्वान् कलाकार हुए हैं, जो स्वतन्त्र-वादन और गायन, वादन तथा नृत्य के साथ संगत करने में कुशल व पारंगत रहे हैं। ये कलाकार न सिर्फ़ भारत वरन् समूची दुनिया में विशेष रूप से तन्त्र वाद्यों के तन्त्रकारी अंग के साथ संगत की परम्परा को विकसित व समृद्ध किये हैं। ऐसे कुछ श्रेष्ठ कलाकारों के नाम इस प्रकार लिये जा सकते हैं- हाजी विलायल अली ख़ाँ, उ॰ अहमद जान थिरकवाँ, उ॰ करामतउल्ला ख़ाँ, पं॰ ज्ञान प्रकाश घोष, पं॰ कन्हाई दत्त, पं॰ निखिल घोष, पं॰ श्यामल बोस, उ॰ शाबिर ख़ाँ, पं॰ आनिन्दो चटर्जी, पं॰ विक्रम घोष, पं॰ अनूप दत्ता, पं॰ अभिजीत बनर्जी इत्यादि।

उपर्युक्त सभी घराने दिल्ली से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित रहे हैं साथ ही संगीत के विभिन्न विधाओं के साथ संगत हेतु इन घरानों की वादन-शैली का विधा के अनुकूल प्रयोग होता रहा है। परन्तु तबले का एक अन्य बहुचर्चित पंजाब घराना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दिल्ली से एवं उपर्युक्त संगीत विधाओं से सम्बन्धित न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। दिल्ली घराने के प्रवर्तक उ॰ सिद्धार ख़ाँ ढाढ़ी तथा पंजाब घराने के प्रवर्तक लाला भवानी दीन (या दास) समाकलीन थे। मूल रूप से पंजाब पखावज का घराना था और पखावज के साथ-साथ यहाँ दुक्कड़ का भी अत्यधिक प्रयोग होता रहा है। इस घराने में बजने वाले पखावज एवं दुक्कड़ का प्रयोग विशेष रूप से पंजाब प्रान्त व उसके आस-पास प्रचलित संगीत प्रकारों के साथ संगत हेतु होता रहा। अतः इस घराने की वादन-शैली व बोल-बन्दिशों का विकास स्थानीय प्रचलित संगीत प्रकारों के अनुकूल संगत प्रदान करने हेतु होता रहा। सन् 1840-50 ई॰ के बाद उ॰ फकीर बख्श पखावजी ने तबला-वादन के महत्व को समझा और देश में उसके प्रति बढ़ती लोकप्रियता का मूल्यांकन किया। अतः उन्होंने भवानी दास जी द्वारा विकसित तबला सदृश दुक्कड़ पर बजने वाले नवीन बाज को तबले पर बजाना प्रारम्भ किया और अपने शिष्यों को सिखाया। इस प्रकार यहाँ भी तबले का प्रचार प्रारम्भ हो गया। उस समय वहाँ के तबले की आकृति दुक्कड़ से मिलती जुलती थी। उसके वादन-शैली पर पखावज का स्पष्ट एवं अत्यधिक प्रभाव देखा जाता था। यही कारण है कि तबले पर उँगलियों के स्थान पर पूरे पंजे का प्रयोग, बोलों की निकास पद्धति, लयकारी का गणित एवं बन्दिशों की रचना में पंजाब घराने का तबला दूसरे सभी घरानों की अपेक्षा पखावज से सर्वाधिक निकट लगता है। कालान्तर में पंजाब प्रान्त में प्रचलित टप्पा आदि गायन शैलियों के साथ अनुकूल व प्रभावी संगत हेतु तबले की वादन-शैली एवं बोल-बन्दिशों का विकास किया गया।

इस घराने के कलाकारों में उ॰ अल्लारख़ाँ का नाम उनके समय में विश्वविख्यात रहा है। उ॰ अल्लारख़ाँ ने तन्त्र-वाद्यों की संगत परम्परा को आगे बढ़ाया, उसे नया आयाम प्रदान किया और अपनी विलक्षण प्रतिभा से तबला संगत की परम्परा को विश्वविख्यात किया। वर्तमान में सर्वाधिक लोकप्रिय इनके पुत्र उ॰ जाकिर हुसैन ने तबला को विश्व परिदृश्य में नवीन ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं। ये स्वतन्त्र वादन व संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन और नृत्य में संगत हेतु पारंगत हैं। उ॰ ज़ाकिर हुसैन की विलक्षण, तीक्ष्ण व चमत्कृत प्रतिभा सम्पन्नता से आज समूचा विश्व हतप्रभ है। इन्होंने सोलो के साथ-साथ तबला संगत को नवीन क्षैतिक ऊँचाइयाँ प्रदान की है। दक्षिण भारतीय संगीत में प्रचलित मृदंगम् व पाश्चात्य संगीत में प्रचलित विभिन्न ड्रम्स की वादन विशेषताओं को भी अपने तबले पर जीवन्त रूप प्रदान किया है। जिस कारण से तबला न सिर्फ़ उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित विभिन्न विधाओं वरन् दक्षिण भारतीय संगीत व पाश्चात्य संगीत के साथ-साथ विश्व के समस्त संगीत प्रकारों के साथ कुशलता व सक्षमता से संगत करता हुआ वर्तमान में दृष्टिगत हो रहा है। उ॰ ज़ाकिर हुसैन ने चमत्कृत तबला संगत की एक नवीन परम्परा को जन्म दिया है, जिसकी अनुकृति कुछ एक तबला-वादकों को छोड़कर देश के लगभग सारे तबला-वादक करते हुए दृष्टिगत हो रहे हैं। उ॰ जाकिर हुसैन के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने तबले के सभी घरानों की विशेषताओं को आत्मसात करते हुए एक नवीन वादन-शैली का विकास किया है जो स्वतः में एक घराना है। उ॰ अल्लारख़ाँ के और दो पुत्र उ॰ फ़ज़ल कुरैशी व उ॰ तौफ़िक कुरैशी भी संगत परम्परा का बखूबी निर्वहन करते आ रहे हैं।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि तबले के उपर्युक्त सभी घरानों के उत्पत्ति व विकास में संगीत की विभिन्न गायन, वादन, नर्तन विधाओं व शैलियों का अपना विशेष योगदान रहा है। कारण स्पष्ट है कि तबला मूलतः संगत वाद्य है, अतः विभिन्न विधाओं में मूलतः संगत प्रदान करने के उद्देश्य से ही सभी घराने कालान्तर में अस्तित्व में आये और इन सबकी एक परम्परा चल पड़ी, जो कि शनैः-शनैः अपनी-अपनी निजी व मौलिक विशेषताओं के विस्तार व विकास के साथ-साथ स्वतन्त्र रूप से भी बजने लगे। इन घरानों के

कलाकार गायन, वादन व नृत्य के साथ संगत की परम्परा का निर्वहन व विकास करते हुए स्वतन्त्र-वादन की परम्परा को भी विस्तृत व विकसित किया है। उपर्युक्त प्रसिद्ध छः घरानों के अलावा भी अन्य कई परम्पराएँ देश में विद्यमान हैं जो संगीत की समस्त विधाओं में संगत परम्परा का निर्वहन व विकास करते हुए तबला वादन व संगीत को उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी बनाने में अग्रसर हैं।

सन्दर्भ

1. श्रीवास्तव, आचार्य गिरीश चन्द्र, 'ताल कोश', रूबी प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1996
2. मिस्त्री, डॉ॰ आबान ई॰ - 'पखावज और तबला के घराने एवं परम्परायें' प्रकाशक- पं॰ केकी॰ एस॰ जिजिना, स्वर साधना समिति, मुम्बई, 2000
3. मिश्र, पं॰ विजय शंकर - 'तबला पुराण', कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2005
4. कर्ण, डॉ॰ नागेश्वर लाल - 'कथक नृत्य के साथ तबला संगति', कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2001
5. मराठे, डॉ॰ मनोहर भालचन्द्रराव - 'ताल-वाद्य शास्त्र (एक विवेचन)', शर्मा पुस्तक सदन, ग्वालियर (म॰प्र॰), प्रथम संस्करण
6. शुक्ल, डॉ॰ (श्रीमती) योगमाया - 'तबले का उद्गम, विकास और वादन शैलियाँ', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2003
7. 'संगीत-तबला अंक' (पत्रिका) जनवरी-फरवरी, 1993, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰प्र॰)
8. सरल, डॉ॰ भीमसेन, 'तबला संगत एवं कलाकार : स्थान, स्थिति और योगदान', कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2014

●

संगीत और मनोविज्ञान का संबंध

क्षमा मिश्रा एवं डॉ0 के0ए0 चंचल***

मस्तिष्क से संबंधित प्राकृतिक ज्ञान और उसकी क्रिया प्रणाली तथा अनुभूति, मनोविज्ञान के अन्तर्गत आती है। संगीत से संबंध होने पर उसे संगीत का मनोविज्ञान कहते हैं। मनोविज्ञान का कार्य शारीरिक उत्तेजना और चेतना के प्रवाह संबंध को स्थापित करना है। कोई भी नाद कर्णेन्द्रिय को किस प्रकार प्रभावित करते है, यह सब संगीत के मनोविज्ञान की श्रेणी में आता है।

कोई भी ध्वनि एक विशिष्ट आन्दोलन-संख्या की होने पर कर्णप्रिय लगती है और आन्दोलन संख्या के घट-बढ़ जाने पर कर्णकटु भी हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ जब कानों में पहुँचती हैं तो उन्हें समझने के लिये समय के अलग-अलग अंतरालों की जरूरत होती है। ध्वनि में जब ऊँचा-नीचापन होता है तो उसे स्वरों की आंदोलना संख्या या संवाद-सम्बन्ध के आधार पर परखा जाता है। संवाद संबंध में जो नाद कानों को प्रिय लगते हैं, उनके आधार पर संगीत की रचनाएँ की जाती हैं। अपितु स्वर भारतीय संगीत में अनिष्टता के सूचक समझे जाते हैं, यही कारण है कि किसी मोटर के हार्न को सुनकर हम सड़क से हट जाते हैं, जबकि सुरीला हार्न उतना भय पैदा नहीं करता।

नाद का छोटा बड़ा पन तीव्रता पर आधारित होता है इसका प्रभाव मस्तिष्क और हृदय पर जब पड़ता है तो पहले रक्त क्रिया प्रभावित होती है और उसके बाद मानसिक अनुभूति के रूप में रूपांतर होता है। नाद की तीव्रता नापने के लिए डैसिमल पद्धति को अपनाते हैं। नाद की जाति (Timber) के आधार पर नाद के पृथक अस्तित्व का अनुभव होता है, भले ही नाद का ऊँचा-नीचापन या छोटा-बड़ापन कितना भी है। नाद का काल (Duration) नाद की विपुलता (Volume) नाद की स्पष्टता या उज्जवलता (Tonal quality) नाद की दिशा, नाद का प्रकार, नाद की गति व कम्पन (Vibration) और तारता (Pitch) इत्यादि सभी का प्रभाव प्राणी मात्र पर पड़ता है। मनुष्य का चिंतन, कल्पना ओर उसकी प्रेरणा संगीत के इन्हीं वैज्ञानिक तत्त्वों से प्रभावित होती रहती है। मनुष्य के द्वारा संगीत की सृष्टि दो प्रकार से होती है- एक प्रेरणा के आधार पर और दूसरी, उसके संचित ज्ञान के आधार पर। यही कारण है कि जब हम किसी लोक धुनों को सुनते है तो उसके सीधे-सीधे शब्द होने के वो बावजूद के हमारे दिल को छू जाते हैं जबकि शास्त्रीय संगीत जो नियमों की परिधि में जकड़े होते हैं उसकी बंदिशे सुनकर हम वाह-वाह तो करते हैं पर उसकी एक स्थायी को रात भी नहीं सुन सकते।

कला की अभिव्यक्ति मानव जीवन में सृष्टि के प्रादुर्भाव के समय से हो रही हैं। अपनी अन्तर्भावनाओं को व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने विभिन्न माध्यमों का, प्रारम्भ से ही, सहारा लेना शुरू किया। अपने इर्द-गिर्द घटने वाली हर घटनाओं को चाहे वह सुख प्रदत्त हो या दुःख प्रदत्त, व्यक्त करने में मानव ने प्रकृति का सशक्त सहारा भी सृष्टि के उद्‌भव कार्य से ही लेना प्रारम्भ किया है। यह उसकी विकसित हो रही मानसिकता ही थी कि दुःख के समय रोना या विषादयुक्त चिल्लाना तथा सुख की घटनाओं में विभिन्न प्रकार की हर्षयुक्त ध्वनि उत्पादित कर अपनी भावनाओं को व्यक्त करता आया है।

कालान्तर में सृष्टि के विकास के साथ-साथ संगीत का भी विकास हुआ। स्वर और लय से अभिभूत संगीत ने विषय इतिहास के प्रत्येक काल में अपनी विशिष्टता से मानव सभ्यता एवं संस्कृति को प्रभावित किया है। जीवन के हर क्षेत्र में संगीत की महत्ता प्रारम्भ से मानी जाती है। चाहे हर्ष व्यक्त करना हो या विषाद, चाहे रंगमहल हो या लड़ाई का मैदान-एक विशेष प्रकार का संगीत प्रस्तुत होते ही उस भावना का आभास होने लगता है। हर उन भावनाओं को व्यक्त करने के पीछे कुछ विशिष्ट मानसिकता का आभास होता है, जिसके माध्यम से अलग-अलग प्रकार की भावनायें व्यक्त होती है। क्योंकि मानव जीवन के हर पहलू को प्राचीन काल से ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती आ रही है। समाज के प्रत्येक कार्य में आज संगीत की महत्ता सभी को ज्ञात है वैवाहिक कार्य हो या धार्मिक, लड़ाई का मैदान हो या शांति के लिए कार्य या फिर कोई भी संस्कार-संगीत की आवश्यकता एवं महत्ता प्रत्येक स्थान पर है।

संगीत की महत्ता निम्न पाँच अंगों के अन्तर्गत विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

(1) दार्शनिक (2) मनोवैज्ञानिक (3) सामाजिक (4) शैक्षणिक तथा (5) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध।

जीवन के दर्शन, धर्म से संगीत सीधे जुड़ा है। साकार, निर्गुण, परब्रह्म की प्राप्ति तो नाद साधना के द्वारा ही मानी गयी है और भक्तिमार्ग से ओत-प्रोत संगीत मोक्ष-प्राप्ति का सुगम-साधन है,

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
* * असिस्टेन्ट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जो हमारे दर्शन की मूल धारणा है।

समाज से भी सीधे संबंधित है हमारा संगीत मानव-जीवन का प्रत्येक क्षण संगीत पर आधारित है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत के ताने-बाने में आबद्ध है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक महत्ता का प्रश्न है, इसका सीधा संबंध संगीत शिक्षण से है। वैसे बहुत कुछ यह संगीत के प्रदर्शन पक्ष को भी प्रभावित करता है। क्योंकि संगीत चूंकि एक प्रदर्शन कला है, अतः प्रदर्शन के लिए एक स्वस्थ मानसिकता एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से तैयारी भी अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षण से सम्बन्धित होने का प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा मनुष्य में संतुलित व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इसमें विद्यार्थी की प्रवृत्ति, रूचि, बुद्धिमता....इत्यादि सभी गुणों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षण की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाता है। इतना ही नहीं मनोवैज्ञानिक ढंग से संगीत-शिक्षण में व्यवहार की भी अहम भूमिका रहती है और यही व्यवहार संगीत के मनोविज्ञान के अन्तर्गत त्वरित प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक माना जाता है।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रश्न है, संगीत स्वर-लय से ओत-प्रोत होने के कारण विभिन्न देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों को स्थापित करने एवं जहाँ स्थापित है उन्हें और प्रगाढ़ करने हेतु एक सशक्त सेतु का कार्य करता आ रहा है। क्योंकि स्वर-लय भाषा से परे होने के कारण प्रायः प्रत्येक मानव में हर्षातिरेक उत्पन्न करती है, चाहे वे किसी भी देश में क्यों न हो।

इस परिप्रेक्ष्य में कुछ विद्वानों के मन्तव्य द्रष्टव्य है –

"Behaviour of the human organism, as a whole in response to music, is what brings in the psychology of Music. This psychology attempts to describe and explain music evalute musical feelings and explain the development of musical capacity.

Music inspires man more than anyone or anything else, party because to music man's response is natural or spontaneous and also because music appeals to the core of his self arouse his feelings and so stirs his beings that he cannot help dancing attendence on it. It enthrals him in such a way that he is almost unconsciously involved in it to the exclusion of all distraction in the environment.

आधुनिक युग में मनोविज्ञान जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के लिए एक अचूक माध्यम के रूप में प्रयुक्त होता जा रहा है। जीवन के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक पहलुओं के मनोविज्ञान प्रभावित किये बिना नहीं रह पाता है। शिक्षा-दीक्षा के संबंध में भी प्राचीन काल से ही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रथा है। विद्यार्थी की विषय के प्रति अभिरूचि, उसका बौद्धिक स्तर ग्राह्य-माध्यम, परिश्रम इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका ध्यान प्रारम्भ से ही रखा जा रहा है। चाहे वह शिक्षा की प्राचीन गुरुकुल-पद्धति हो या आधुनिक शैक्षणिक संस्थान। मनोविज्ञान को विषयगत मान्यता प्राप्त होने के उपरान्त विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता का ध्यान रखते हुए इसकी कई शाखाओं का निर्माण किया गया। शिक्षा से जुड़ी मनोविज्ञान की बातें शिक्षा मनोविज्ञान के नाम से जानी जाती है।

सभ्यता-संस्कृति के आदि काल से ही शिक्षण मानव विकास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शिक्षा, चाहे घर के अन्दर की हो या शिक्षण संस्थान की, यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से दी जा रही है तो ग्राह्यता में काफी वृद्धि आ जाती है। संगीत के परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि बचपनसे ही संगीत के प्रति बालक की रूचि, रूझान एवं व्यक्त करने की प्रवृत्ति कितनी है। क्योंकि संगीत के विद्वानों के अनुसार संगीत की दृष्टि में किसी भी मनुष्य में स्वर, लय, संवादित्व एवं विस्तार (Volume) के प्रति प्रारंभ से ही संवेदनशीलता विद्यमान रहती है, जो उम्र के बढ़ने के साथ-साथ बुद्धिमता के आवरण में बढ़ती रहती है।

संगीत अपने आप में सृजन प्रक्रिया का द्योतक है। संगीत में प्रदर्शन हो या शिक्षण, सृजनशीलता हमेशा विद्यमान रहती है। मनुष्य जब से ही संगीत के सम्पर्क में आता है और शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ करता है, सृजनात्मक प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। शिक्षण के क्रम में चाहे शिक्षक हो या शिक्षार्थी अथवा प्रदर्शन के क्रम में चाहे कलाकार हो या श्रोता, दोनों के लिए ही यह सृजनशील है। इस संपूर्ण प्रक्रिया में दोनों ही आनन्दविभोर होते हैं और आनन्द का सृजन होता है। कलाकार और श्रोता तथा शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही इस सृजन की प्रक्रिया में बराबर के भागीदार होते हैं और आपस में सामंजस्य स्थापित करते हैं।

संगीत के मनोविज्ञान पर विचार करते समय संगीत या संगीतकार पर ही विचार करना पर्याप्त नहीं, बल्कि संगीत का रस ग्रहण करने वाला श्रोता हमारा प्रधान पात्र (Object) है। जिस प्रकार एक कलाकार में भावपक्ष और कलापक्ष का सम्मिश्रण होता है, उसी प्रकार एक श्रोता की मनःस्थिति (Mood), उसकी शिक्षा, पात्रता अनुभव, भावुकता, प्रतिभा, कलाजन्य आनन्द को ग्रहण करने की वह कला आस्वादन करने में कितना समर्थ है। जब तक संगीत के द्वारा श्रोता के हृदय में सोये भाव जागृत न हो तब तक उसके ऊपर संगीत का कोई प्रभाव न होगा, अतः यह जरूरी है कि श्रोता सहृदय हो। समस्त रससाहित्य में कलाजन्य आनंद को अनुभव करने के लिए श्रोता का सहृदय होना आवश्यक बताया गया है। ऐसा होने पर ही श्रोता और संगीतकार नाद ब्रह्म में अवगाहन कर सकते हैं।

प्राचीन साहित्य के उदाहरण हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य, संगीत के सम्मोहन को स्वयं के अस्तित्व के साथ जोड़ता रहा है अर्थात् उसका मनोविज्ञान व संगीत व ध्वनियों को सीधे-सीधे अपनी आराधना की अदृश्य व काल्पनिक प्रेरणाओं से संबंध करता है। यहाँ चेतन व अचेतन 'मनस' के जागृत रहने पर भी व अपने मानता रहा है। मानव ने अपने समस्त दुःखों, सुखों, भावों व

भावनाओं के फल के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानते हुए भी, ईश्वर को इनका दाता अर्थात् न्यायधीश माना है।

मानव के जन्म के साथ ही शरीर एक नये वातावरण, बदलाव व स्पर्श के सम्पर्क में आता है। नवजात शिशु का मनोविज्ञान इसकी प्रतिक्रिया रो कर देता है। यहाँ पीड़ा व वातावरण में हुए परिवर्तन को पहचानने की क्षमता व उसके विरूद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया, सीधे-सीधे मस्तिष्क से जुड़ी है अर्थात् उसका यह सहज प्रतिक्रियात्मक मनोविज्ञान जन्म के समय उपस्थित है तथा रोने की क्रिया अथवा व्यवहार उस नवजात का अनुभव एवं भाव है।

संगीत द्वारा जब भी मनुष्य के इस भाव को उद्वेलित किया जाता है तो एक विकसित व अनुभवी व्यक्ति भी किसी नवजात की तरह, जीवन में पीछे छूट चुके अपने सुखों-दुखों व अनुभवों तथा स्मृतियों की प्रतिक्रिया में रो देता है। यहाँ संगीत, पीछे छूट चुकी भौतिक पीड़ाओं को मानवीय वेदना में बदलकर, भाव को संतुष्टि व प्रकटीकरण का पथ प्रदान करता है। यह तथ्य और सरल करने के लिए हम कुछ रागों व स्वरों का संक्षिप्त विश्लेषण भी कर सकते हैं जो मनुष्य में मार्मिक संवेदनाओं को जन्म देकर उसे, उसके मनस में उपस्थित निराश व नीरसता के व्यर्थ भावों से मुक्त कर देते हैं

जैसे : राग बागेश्रीः यह मध्य रात्रि में गाया जाने वाला राग है। यहाँ मध्य रात्रि से एकान्त, एकाकीपन व सन्नाटे का बोध होता है। यह संवेदनाओं और स्मृतियों के पुनर्जनम का विशुद्ध प्रहर है। राग के कोमल गन्धार व कोमल निषाद स्वर स्मृति व अन्य मार्मिक भावों को जनम देने में सहायक होते हैं। इस राग का प्रस्तुतकर्ता व श्रोता दोनों ही एक भावुक मनोविज्ञान से सत्संग करते हैं। इसकी अधिकांश बंदिशों में विरह व पीड़ा के मनोभाव देखे जा सकते हैंः-

कौन गत भई ली मोरी।
पिया न पूछे एकहू बात।

इस प्रकार के रागों में जीव के अत्यन्त संवदेनशील मनोविज्ञान को उत्तेजित किया जाता है। कभी-कभी रागों व स्वरों की यह निश्चित प्रक्रिया श्रोता व प्रस्तुतकर्ता को शांत धरातल की ओर भी ले जाती है। जैसे कि प्रभु को प्रेयसी की तरह मानकर राग के माध्यम से उसकी स्तुति या उससे संवाद करना। यहाँ विचार व व्यवहार को इस धरातल तक लाने से पहले मानव द्वारा 'मनस' को श्रद्धा व विश्वास के चरम तक ले जाया जाता है जहाँ उसका मनोविज्ञान परलोक की शक्ति को अपने प्रेम, कष्ट व सुखों का अंतिम पड़ाव मानने लगता है। यह एक तरह का उत्तेजनापूर्वक व चरमोत्कर्ष पर प्रतिक्रिया करने वाला व्यवहार होता है, भले ही यह भाव प्रत्यक्ष व्यवहार का हिस्से बने या फिर मनुष्य इसे अपने 'मनस' में एक निजी सम्बन्ध की तरह सँजों कर रखे।

संगीत ने सदैव ही मानव के मनोविज्ञान को खोज की भूख व संतुष्टि की खुराक दी है। मानव द्वारा अपनाई गई कोई भी जीवन शैली या धर्म संगीत से अछूता नहीं है। संगीत केवल स, रे, ग, म, प, ध, नि जैसे स्वर या अक्षर ही नहीं बल्कि यह प्रत्येक मनुष्य के मनस, उसके व्यक्तित्व व उसके विकास का प्रमाण भी हैं।

मनोविज्ञान का अर्थ मन अथवा मस्तिष्क के उस व्यवहार से है जो मनुष्य के अनुभवों को प्रतिक्रिया प्रदान करता है। Psychology शब्द यूनानी भाषा के Psyche और Logas से बना है। जिसका अर्थ 'आत्मा' और 'ज्ञान' से है। बाद में आत्मा का स्थान 'मन' व फिर 'चेतना' ने ले लिया।। वर्तमान में इसे 'व्यवहार का विज्ञान' भी कहा जाता है। दूसरी ओर संगीत को भी भावों का व्यवहार या उनकी अभिव्यक्ति माना गया है। डॉ0 हरद्वारी लाल शर्मा ने कहा है कि ''भावों में स्पन्द संगीत है। स्पन्द अर्थात् लयात्मक व अर्जित धारा।'' आगे कहा गया है कि ''अभिव्यक्ति का पहला चरण लयात्मक ध्वनि को ही माना जा सकता है।''

बारहवीं सदी में मनोवैज्ञानिकों ने इसे व्यवहार का विज्ञान कहा और तभी से मनोवैज्ञानिक विलियम मैकडुगल ने इसे वस्तुओं के व्यवहार का विधायक विज्ञान (The positive science of behaviour of living things) कहा। पाश्चात्य मनीषी हार्मीस के अनुसार प्राकृतिक रचनाक्रम व तत्त्व व्यवहार का प्रतिफलन ही संगीत है।

प्लेटो ने संगीत को समस्त विज्ञानों का मूलाधार माना है। उनका यह भी मानना है कि ईश्वर द्वारा इसका निर्माण विश्व की वर्तमान विसंवादी प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए हुआ है। ''रविन्द्रनाथ टैगोर ने संगीत के लिए अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किए हैं :- ''आनन्दमय संगीत से मस्ती एवं आत्म विस्मृति को पाकर मैं अपने प्रभु को मित्र कह डालता है।''

'सिद्धांत विज्ञान' से पहले मानव का मनोविज्ञान ही उसकी सर्वश्रेष्ठ पूँजी थी। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, ग्रहण, दिन व रात सभी उसकी जिज्ञासा का कारण थे। इनके प्रति अभिव्यक्ति के लिए उसके पास केवल आदर, डर या ध्वनि से जुड़े भाव ही थे, जो उसके मनोविज्ञान के अनुरूप प्रकट होते थे। अपनी अर्थहीन ध्वनियों को व्यवस्थित स्वरों व भाषा तक लाने में, उसने अपने मनोविज्ञान को ही अस्त्र बनाया। विश्व में कहीं भी मानव के अंग-प्रत्यंग उसका रोना, हँसना, खिलखिलाना व उसकी मूल ध्वनियाँ लगभग एक जैसी ही थीं। जबकि उसके द्वारा विकसित व निर्मित भाषा व संगीत अलग-अलग स्वरूपों में है। यहाँ यह तथ्य उजागर होता है कि शारीरिक संरचना व भावों का मंथन लगभग एक-सा होने पर भी उसके मनोविज्ञान व उसकी जिज्ञासा के तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिए संगीत (लय) के मूलभूत तत्त्व सभी जगह एक-से होते हुए भी उसके प्रकटीकरण व प्रयोग के आधार क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्नता भौगोलिक व वातावरण की स्थितियों में अन्तर का ही परिणाम है।

एक गायक भी आरम्भ में गुरु, प्रकृति, अपनी कल्पना या फिर एक नए मनोविज्ञान से मिले स्वरों व सुरों को यूँ ही ढूँढ़ता और फिर उन्हें स्वयं के मस्तिष्क में साधता है। इसमें भी साधक

धीरे-धीरे अपने कण्ठ के तन्तुओं व शरीर की नाड़ियों को एक निश्चित दिशा में निरंतर अभ्यास व विकास की गति प्रदान करता है व उन्हें एक निश्चित वायु वेग से अभ्यस्त करता है। तत्पश्चात् ही एक सटीक व सुघढ़ स्वर का जन्म होता है।

मानव के निरंतर विकसित होने मनोविज्ञान व संगीत में, मृत्यु पर शोक व विलाप के गीत तथा विवाह या जन्म जैसे प्रसन्नता के अवसर पर मंगलकारी गीत अथवा विशेष वाद्यों का चयन व प्रयोग भी सामने आता है अर्थात् आज के रागों, स्वरों व संगीत के सटीक व सही भावों व रसों को, पूर्व के मानव ने पहले ही पहचान लिया था इसीलिए मानव जाति के सर्वाधिक निकट लोकगीतों में व्यवहार, आचरण, अवस्था, व्यवस्था, ऋतु, दुख, सुख व अन्य संस्कारों के लिए अलग-अलग गीत व राग-रागिनियाँ पाए जाते हैं। यहाँ मानव ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों व प्रकृति में बदलाव के साथ अपने हर नए मनोविज्ञान को जोड़ा व स्वयं को अभिव्यक्त करने का सबसे सरल माध्यम संगीत में ही खोजा। हम कह सकते हैं कि संवेग व अभिव्यक्ति के मनोविज्ञान व संगीत के सागर का तल, समस्त मानव जाति में एक साथ व एक जैसा ही विकसित हुआ।

मनोविज्ञान ने मानव की स्मृति व विचारों में होने वाली उथल-पुथल को उसके भौतिक व मानसिक विकास के अनुरूप ही प्रकट किया। जीवन, मृत्यु चिंतन व सोच के रहस्य ने, उसे सदैव ही पछाड़ा और इसी के कारण उसने किसी अदृश्य शक्ति को स्वीकार कर लिया। मनुष्य ने अपने प्रायोगिक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति के कारण आस्था को भी अनुसंधान की धरती पर ला खड़ा किया। मानव जाति ने मनोविज्ञान पर वैज्ञानिक तर्कों के साथ वाद-विवाद किया और यह निष्कर्ष निकाला कि मनोविज्ञान ही, हर नई खोज व रहस्य का पेंच व हल है।

शारीरिक अंगों द्वारा निरंतर ध्वनि के प्रयोग, चयन व बदलाव ने मनुष्य को निश्चित स्वरों के संसार में पहुँचाया तथा आकृतियों से लिपि तक के मनोविज्ञान ने इस संगीत को क्रमबद्ध राग-रागिनी का सुदृढ़ अंकित स्वरूप दे दिया।

सीता की सुन्दरता राम का शौर्य, लखन का ललाट व राक्षसों का उत्पात, ये सभी शब्द अच्छे-बुरे के मनोविज्ञान व चरित्रों से ओत-प्रोत हैं। भारत में संगीत के साथ सदैव ही मनोविज्ञान को भी जाँचा व परखा गया है अर्थात् व्यवहार व संगीत में तुलना नहीं बल्कि तारतम्य स्थापित किया गया है।

संगीत ने आस्था व आराधना के मार्ग के साथ-साथ शासन व साहस की मानसिकता को भी ऊर्जा प्रदान की है। हर युग में, बदलते मनोविज्ञान के साथ, संगीत में भी परिवर्तन व प्रयोग की तीव्र इच्छा देखी गई है। विदेशी शासकों, प्रांतीय रजवाड़ों, धनाढ्य वर्ग व जन-साधारण जैसे सभी पक्षों में संगीत ने अपने वर्चस्व को बनाए रखा है। इस क्रम में इसमें कई परिवर्तन भी हुए हैं तथा कभी-कभी यह भोग विलास का माध्यम भी बना, फिर भी संगीत ने अपनी मूल भूमि व प्रकृति अर्थात् शुद्धता को नहीं छोड़ा। शायद इसीलिए हर बदलते मनोविज्ञान ने संगीत को ही अपना श्रेष्ठ सखा माना है।

किसी भी सभ्यता, संस्कृति या समय के प्रभाव से मानव का व्यवहार या मनोविज्ञान तो बदल सकता है किन्तु संगीत का धरातल, स्वाद, रस, अनुभूति, अनुसरण, आनन्द, अभिव्यक्ति व उसकी आत्मा नहीं बदल सकती। यही वह सत्य है जिसे मानव, अपने मनोविज्ञान की सबसे श्रेष्ठ सम्पत्ति मानता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय शास्त्रीय संगीत : मनोवैज्ञानिक आयाम, डॉ0 साहित्य कुमार नायर, प्रतिभा प्रकाशन 29/5 शक्तिनगर दिल्ली, प्रथम संस्करण-1999
2. संगीत विशारद, बसंत, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1997
3. संगीत बोध, डॉ0 शरदचन्द्र श्रीधर परांजपे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल-1980
4. संगीत एवं मनोविज्ञान, डॉ0 किरन तिवारी, कनिष्क पब्लिशर्स, नयी दिल्ली-110002, 2015

●

वेदान्तदर्शने अज्ञानस्वरूपम्

ब्र. वाचस्पति कुमार एवं प्रो. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र***

नैष्कर्म्यसिद्धावाचार्यैरुक्तम् -

नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेःपापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षत्वं ततस्तदुपायपर्येषणं ततः सर्वकर्मसंन्यास्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानमिति- 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इति।[1]

स्वात्मन्यवस्थानं तदा भवति यदाविद्योच्छेदः स्यात्। अतः पूर्वमविद्यायाः अज्ञानस्य वा ज्ञानमावश्यकम्, तस्य किं लक्षणं किं, स्वरूपं वा?

लक्षणमज्ञानस्य वेदान्तसारप्रकरणग्रन्थेऽस्ति- अज्ञानन्तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् ''देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम'' इत्यादि श्रुतेश्च।[2] सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत अर्थात् तत्त्वज्ञानेनाज्ञानस्य बाधो भवति अतोऽज्ञानं सन्नास्ति तथा च वन्ध्यापुत्र इव नरविषाण इव चास्याज्ञानस्य कदापि भानं न भवतीति न, अपितु संसारदशायान्त्वहमज्ञ इत्यादिरूपेण समेषां सांसारिकबद्धजीवानान्तु भवत्येव भानम्, अतोऽज्ञानस्य नासद्रूपोऽपि वक्तुं शक्यते। अत एव सदसदभ्यामनिर्वचनीयमज्ञानमिति। अस्याज्ञानस्य प्रतिपादनं श्रीमच्छङ्कराचार्यैरपि विवेकचूडामणौ कृतम् –

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥[3]

सत्त्वरजस्तमोरूपमथ च त्रिगुणात्मकमज्ञानं भवति। तत्र श्रुतिस्मृत्यादिकं प्रमाणं वर्तते।

यथा- 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'[4], 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'[5], 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'[6], तथा च विवेक चूडामणावपि- ''रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः।[7] इति।

उक्तश्रुत्याप्रिमाणेनाज्ञानं त्रिगुणात्मकमिति सिद्धं भवति। इदमज्ञानं ज्ञानविरोधीति कथ्यते। तथा च ज्ञानेनाज्ञानस्य बाधो भवतीति लोके वेदे च प्रसिद्धमेव, अतः ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानं भवतीति सिद्धम्। अज्ञानमिदं भावरूपं वर्तते न त्वभावरूपम्। यद्यज्ञानस्याभावरूपता स्यात्तर्हि तस्य निवृत्तिर्न स्यात्। परन्तु वेदान्तसिद्धान्तानुसारेणात्मज्ञानेनास्याज्ञानस्य निवृत्तिर्भवत्येव। तत्तु तदा सम्भवति यदाज्ञानं भावरूपं स्यात्। अत्रेदमवगन्तव्यं भावरूपमिदमज्ञानमस्ति, न तु परमार्थसद्रूपमिति। नो चेत् निवृत्तिरेवासम्भवः। भावरूपमज्ञानमिति कथनस्येदमभिप्रायो यत्तदज्ञानमभावात् विलक्षणमेवेति। तस्याज्ञानस्यात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमेव भावरूपता तिष्ठति, तदज्ञानमात्मसाक्षात्कारः जाते सति निवर्त्यते। स च न ज्ञानसामान्याभावः, तस्यात्मन्यसम्भवात्। नापि विशेषाभावः, तेषामननुगतत्वात्। तस्मादनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या भावरूपमज्ञानं सत्तावत् स्वीकर्तव्यम्। यथा हि- 'घटः सन्', 'पटःसन्' इत्यनुगतप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या सत्ता सामान्यं परैः स्वीक्रियते तद्वद्रजतं स्वीकार्यम्। तस्य चावश्यमुपादानत्वं वक्तव्यम्, निरुपादानस्याभावकार्यस्यासम्भवात्। तच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यामज्ञानमेव। तदपि यद्यभावरूपं तदा नोपपादानत्वयोग्यमिति भावरूपमेव स्वीकार्यम्। अभावत्वाद्भावत्वस्य लघुत्वाच्च, तस्माद्भावरूपमेवाज्ञानमिति स्वीकार्यम्। लौकिकदृष्ट्याऽज्ञानमिदं सत् प्रतीयते। परन्तु युक्तिपूर्वकविवेचनेनानिर्वचनीयं सिद्ध्यति तथा चाज्ञानमात्मज्ञानं जाते सति तुच्छं भवति। अतः वस्तुतोऽज्ञानस्य निरूपणमेवासम्भवः। पञ्चदशीकारैरुक्तमपि-

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥ इति॥[8]

सद्रूपेणासद्रूपेणाथवा सदसद्रूपेणास्याज्ञानस्य निरूपणमसम्भवो वर्तते। अतोऽज्ञानमिदं यत्किञ्चिदिति व्यपदिश्यते अत्र यत्किञ्चिच्छब्देन नानिर्वचनीयत्वमुच्यते, तस्यानिर्वचनीयशब्देनैवोक्तत्वात्। नापि ज्ञानविरोधित्वं तस्यापि ज्ञानविरोधिशब्देनोक्तत्वात्। नापि मिथ्यात्वम्, एतस्यापि सदसद्भ्यामनिर्वचनीयशब्देनोक्तत्वात्। किन्तु भ्रमोपादानत्वम्। एतच्चाज्ञानलक्षणम्। भ्रमोपादानत्वञ्च भ्रमाकारेण विवर्तमानत्वम्। उक्तमप्याचार्यैः-

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥
(मानाघाता सहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥)[9]

वस्तुतः प्रमाणैरज्ञानं द्रष्टुमिच्छा दीपकैरन्धकारं द्रष्टुमिच्छावन्मौढ्यमेव। यदुक्तमभियुक्तैः-

अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद्यो मानेनात्यन्तमूढधीः।
स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा॥[10]

---

* शोधच्छात्रः, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

* * आचार्यः, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

तथा च दुर्घटत्वमज्ञानस्य भूषणाय भवतीति न तु दूषणाय। यथा-

दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथञ्चिद् घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्।।[11]

व्यावहारिकदृष्ट्या यद्यप्यज्ञानस्य यथार्थस्वरूपस्य ज्ञानमसम्भवो भवति, तथाप्यस्याज्ञानस्यास्तित्वे श्रुतिप्रमाणमनुभवप्रमाणञ्च स्तः। मानवाः सत्यस्यान्वेषणं कुर्वन्ति, तेनैव मानवानां सत्यं प्रत्यज्ञानता सिद्ध्यति। अज्ञानमिदमस्मदादीनामनुभवस्य विषयो वर्तते, अत एव शास्त्रेष्वज्ञानमिदं साक्षिभाष्यमिति कथितम्। अज्ञानस्यास्य विषये श्रुत्यादिकं प्रमाणम्। यथा-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं
स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।[12]

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।[13]
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत्तः।।[14]

अर्थापत्त्याप्यज्ञानस्य सिद्धिः शक्यसम्भवः। सच्चिदानन्दं ब्रह्म नित्यप्राप्तः स्वयं प्रकाशश्च, अतः व्यवहारेऽपि प्रतीतिः स्यात्, परन्तु व्यवहारे वैपरीत्यमेव भवति- नास्ति ब्रह्म न भासते चेति। प्रतीतिरियं विनाज्ञानेन नोपपद्यते। अतोऽज्ञानं स्वीकर्तव्यमेव।

अज्ञानमिदं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। उपहितमेतच्चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामीजगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते। तथेयञ्च व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते। अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्त्वल्पोऽपि- मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमव-लोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमव-
लोकयितृबुद्धिपिधायकतया- च्छादयतीव, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं
चातिमूढः।

तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स
नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।[15]

अनयैवावरणशक्त्याऽवच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदः-खमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना। विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति, तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्- ''विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्'' इति।। शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानञ्च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति। आत्मज्ञाने व्यामोहस्य मुख्यकारणमनादिरविद्यैव अत एवोक्तं पञ्चदश्याम् –

इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम्।[16]

आनन्दोऽस्ति भातीति व्यवहारयोग्ये तन्निरोधेन नास्ति न भातीति व्यवहारस्य व्यामोहस्यैकं निबन्धनं कारणमिहानादिरविद्यैवेत्यर्थः। अर्थादसत्वाभानापादकाऽऽवरणशक्ति-द्वयविशिष्टाविद्याऽऽनन्दभानप्रतिबन्धिका भवति। अज्ञानमिदं द्विविधं भवति। उक्तं ग्रन्थे-

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्।।[17]

चिदानन्दमयब्रह्मेत्यत्रैकरसार्थकप्रकृतेः स्वार्थे मयट्। चिदानन्दैकरसं यद् ब्रह्म तत्प्रतिबिम्बसमन्वितेत्यर्थः। तथाविधा त्रिगुणात्मिकाऽविद्या। एवंविधाऽविद्या प्रकृतिर्भवतीत्यर्थः। यद्यपि मलिनसत्त्वप्रधाना जीवोपाधिरविद्या भवति, तथापि प्रकृतिसामान्यस्याप्यविद्येति नाम शास्त्रेषु प्रसिद्धम्। तथा च विवेकचूडामणौ-

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।[18]

अथवा प्रकृतिरित्युद्देश्यनिर्देशः। सा त्रिगुणात्मिका च भवति ब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता च भवतीत्युभयविधेयता। प्राञ्चस्तु ब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता त्रिगुणात्मिका या सा प्रकृतिरित्येवं यत्तत्पदे योजयित्वा व्याख्यानं कुर्वन्ति । सा च प्रकृतिर्द्विधा। सत्त्वप्रधाना तमःप्रधाना च। सत्त्वप्रधानापि द्विविधा शुद्धसत्त्वप्रधाना मलिनसत्त्वप्रधाना च। अत एव श्लोके सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये इति प्रयुक्तम्।

तुच्छत्वापत्तेः कार्याजनकत्वापत्तेश्च निवारणार्थं विशेषणपदमत्रास्ति चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्वितेति। तत्र मायाप्रतिबिम्बः ईश्वरः तथाविद्याप्रतिबिम्बश्च जीवो भवति। सत्त्वस्य शुद्धिः रजस्तमोभ्यामनभिभवः। अशुद्धिश्च रजस्तमोभ्यां किंचिदभिभवः। सर्वथाभिभवे रजस्तमः प्रधानत्वमेव स्यात्। एवञ्च शुद्धसत्त्वमलिनसत्त्वाभ्यां द्विविधेति। सा विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया मलिनसत्त्वप्रधाना चाविद्येति विवक्षितेऽर्थे पञ्चदश्यामत्र मायाविद्ये मते इति प्रयोगः कृतः। अत्र मायेति न सत्त्वप्रधानप्रकृतौ रूढम्, प्रकृतिसामान्येऽविद्यायामपि मायाशब्दप्रयोगात्। अत एवोक्तम् –

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्॥[19] इति च।

अन्यथा तामस्या मायाया अप्रसिद्धेः, मलिनसत्त्वां तामिति सर्वनाम्ना मायापरामर्शायुक्तेश्च तद्ग्रन्थसङ्गतिर्न स्यात्।

अविद्यावशगो जीवो भवति। अन्यपदेन चेश्वरादन्यो जीवो ग्राह्यः। प्रसिद्धत्वादन्यपदेनापि जीवो बोद्धुं शक्यते इत्याशयेन जीवपदं विनैव श्लोको निबद्धः। कथमविद्यावशगो जीवः? सत्त्वस्य मालिन्यादेव। रजस्तमोभ्यामभिभवो मालिन्यम्। न चैवं रजस्तमः-प्रधानत्वम्भवति, आगन्तुकरजस्तमोभ्यामभिभवस्य स्वीकारात्। यथान्तःकरणस्य सत्त्वोपादानकत्वेऽप्यागन्तुकसत्त्वरजस्तमोभिः ज्ञानस्पृहालस्यादीनि। इत्थञ्च सत्त्वस्याभिभवान्न विवेकोत्पत्तिरिति प्रतिबिम्बप्रधानः सन्नविद्यावशगो भवतीत्यर्थः। तद्वैचित्र्यादविद्यावैचित्र्यादशुद्धितारतम्यादिति। अनेकधा देवतिर्यङ्-मनुष्यादिभेदेन नानाविध इत्यर्थः। तत्तद्योनिष्वपि मूढपण्डितादिभेदेनानेकधेति बोध्यम्।

श्रीसर्वज्ञात्ममुनिना विरचिते सङ्क्षेपशारीरकेऽप्यज्ञानस्य स्वरूपनिरूपणमुपलभ्यते। तद्यथा-

अज्ञानमित्यजडबोधतिरस्क्रियात्मा
जाड्यं च मौढ्यमिति च प्रकृतिः प्रसिद्धा।

सा चातिदुःस्थितवपुर्दृशमद्वितीया-
मालिङ्गति स्म घृतपिण्ड इवाग्निमिद्धम्॥

चिद्वस्तुनश्चितिभवेत्तिमिरं तमिस्रं
तामिस्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्रा।

माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरान्ध्यं
निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम्॥

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला।

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापिगोचरः॥[20]

अजडबोधतिरस्क्रियात्मा प्रकृतिरज्ञानमिति। अजडस्य स्वप्रकाशस्य बोधात्मनः तिरस्क्रियावरणं तदात्मिका जगद्विक्षेपोपादनप्रकृतिः स्वतः सिद्धप्रकाशाच्छादानस्वभावा। सा प्रकृतिरेव ज्ञानपर्युदासेनाज्ञानमिति च ज्ञानविरोधित्वेन जाड्यमिति चास्वच्छतया मौढ्यमिति च प्रसिद्धा शास्त्रेषु- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'[21], 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'[22], 'अज्ञानेनाऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'[23] इत्यादौ। जाडयमिति प्रकाशविरोधिस्वरूपविशेषः। जडप्रपञ्चस्य जडोपादानं लाघवादेकं सिध्यति तदेव स्वकार्येऽनुस्यूतः जाड्यमित्यनुभूयत उपादानातिरिक्ते जाड्ये मानाभावात्। उपादानं चाज्ञानमेवेति। तदेव जाड्यं तच्च स्वस्मिन्नपि जडव्यवहारहेतुः परेषां प्रमेयत्ववत्। एवमज्ञो मूढोऽहमित्यनुभवान्मौढ्यमप्यज्ञानमेव तच्च निष्प्रतियोगिकत्वाद्भावरूपमिति भावः। यद्यप्यज्ञानं जडमेव तथापि जडप्रपञ्चानुगततया जाड्यमिति तद्व्यवहार उपपद्यते, मौढ्यमिति च पुरुषगतं मोहात्मकाज्ञानमेव व्यवह्रियत इति, तद्भावरूपमिति भावः। सा च प्रकृतिरतिदुःस्थितवपुः सत्यद्वितीयां दृशमालिङ्गते स्मेति भूतत्वनिर्देशो चिद्वदनुभवाभिप्रायः। प्रकाशमानेऽद्वितीयां दृशमालिङ्गति, आश्रित्यावृणोति स्मेति तदुभयस्याद्वितीये द्वितीयत्वस्य प्रकाशमानत्वस्य च दुर्घटत्वं दुरुपपादत्वं द्योतयति। अर्थादतिदुःस्थितवपुः दुर्निरूपस्वरूपाऽनिर्वचनीयेति भावः। यद्यपि चैतन्याज्ञान-योर्भावाभावात्मकत्वे विरोधाभावस्तथापि वध्यघातकभावविरोधः संभवति। एवञ्च घृतपिण्डानलयोरिव भावयोरेवानयोः सम्बन्ध इति प्रकृतेरभाववैलक्षण्यसिद्धेर्जगदुपादानताऽपि शास्त्रप्रसिद्धा सिद्धा भवति।

यथा च स्नेहवर्त्यादिसहकारि विशेषसंवलनेन वा मेघाद्यावरणापगमेन वा प्रकाशस्योपबृंहितत्वे प्राबल्ये सति निःशेषतमोनिवर्तकता तथा वाक्योत्थबुद्धिवृत्तिसंवलनरूप-सहकार्युपेततया प्राबल्ये सति निःशेषाज्ञाननिवर्तकत्वोपपत्तिर्दृश्यते हि दाह्यदाहकयोर्विरुद्धस्वभावयोरप्यरणिपावकयोरविशेषाभिव्यक्तेः संबन्ध इति। अर्थात् समिद्धमपि नाशकमग्नि प्रतिबद्धदाहशक्तिर्यथा नाश्योऽपि घृतपिण्डआ लिङ्गति तथाऽनाद्यविद्यावरणप्रतिबद्धशक्तिबोधमविद्याऽ-प्यालिङ्गति तेनैव प्रकाशते इत्यर्थः। चिद्वस्तुनश्चिति अर्थाच्चिद्रूपं यद्वस्तु परमार्थसत्तस्य या स्वरूपभूता चित् तस्यामेव तमःशब्दतत्पर्यायैः शब्दैः व्यवहारं भवतीति श्रुतिपुराणादौ प्रसिद्धम्। तिमिरतमिस्रतामिस्रान्धतमसान्ध्यशब्दा आवरणावस्था भेदनिमित्ताः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः। तमिस्रा रात्रिरविद्याया रात्रित्वेन प्रसिद्धेः। निद्रादयः निद्रासुषुप्तिप्रलयगुणैक्यशब्दाः कार्यस्य कारणरूपेणावस्थितिनिमित्ताः। जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरित्यज्ञानमेव। अन्ध्यं तदपि प्रकाशतिरोधायकत्वादज्ञानमुच्यते। विविधप्रपञ्चहेत्वज्ञानं प्रकर्षेण लीयन्ते सर्वाणि कार्याण्यस्मिन्निति प्रलयः सत्त्वरजस्तमसां गुणानां समुदायरूपं गुणैक्यञ्च तदज्ञानमेवेत्यर्थः।

शङ्कतेऽत्राहमज्ञ इति जीवाश्रयं तदनुभूयते, एवं विषयोऽपि ब्रह्म न जानामीत्यनुभवात्तस्य ब्रह्मैव 'चिद्वस्तुनश्चिति भवेत्तिमिरं' कथं सम्भवेदिति। उच्यते जीवब्रह्मविभागशून्या केवलैव चितिरज्ञानस्याऽऽश्रयत्वं विषयत्वञ्च भजते न त्वहंकारादिविशिष्टेत्यर्थः। कुत इत्याह जीवेश्वरविभागस्याविद्यातन्त्रत्वात्ततः पूर्वमविद्यासिद्धिर्वाच्या। तस्याश्च स्वकल्पितविभागो जीव ईश्वरो वा नाऽऽश्रयो न वा विषयः संभवति तत्सिद्धेः पूर्वं तदसिद्धेरित्यर्थः। ततश्चाहंकारोपलक्षितप्रत्यगाश्रयविषय एवाज्ञत्वानुभव इति भावः। यद्यपि चाज्ञानवज्जीवेश्वरविभागोऽप्यनादिस्तथापि तस्याज्ञानतन्त्र-त्वादज्ञानविभागयोः पौर्वापर्यमप्यनादीति कल्प्यते वैदिकवर्णपदवाक्यपौर्यापर्यवदिति। अज्ञानस्याश्रयत्वं विषयत्वञ्च भजते इत्याश्रयत्वविषयत्वभागिनी। केवलाद्वितीयैव, अत एव अद्वितीयत्वादेव निर्विभागा जीवेश्वरविभागरहिता। जीवेश्वरविभागसत्ताप्रयोजकाज्ञानस्य, हिर्हेतौ यतो जीवेश्वरविभागसत्त्वप्रयोजकमज्ञानं ततः पश्चिमस्तत्प्रयोज्यो

ब्रह्मविभक्तो जीवस्तदविभक्तं ब्रह्म च यथाक्रमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः। यद्यपि जीवेश्वरविभागादिरनादिस्तथापि स न वास्तवः, मायिकस्तु सोऽद्वयब्रह्मानवभासदशायामेव भवतीति तज्जीवेश्वरविभागाद्यज्ञानाधीनसत्ताक एव। निर्विभागेन निरवयवोक्तया स्वरूपभेदो निरस्तः। केवलेन सजातीयविजातीयभेदनिरासः। एवकारेण स्वगतधर्मभेदव्युदासः। एवंविधा चितिरेवाज्ञानं प्रत्याश्रयत्वविषयत्वभागिनीत्यर्थः। कुत इत्यत आह प्राक्सिद्धस्याज्ञानस्य पश्चिमपश्चात्सिद्धस्तत्कार्यभूतोऽहंकारादिस्तद्विशिष्टो वा चिदात्मा नाऽऽश्रयो भवति नापि गोचरः, कार्यस्य कारणाश्रयत्वायोगात्तद्व्यापकत्वायोगाच्चेत्यर्थः। अतोऽहमज्ञ इत्यज्ञत्वानुभवोऽप्यन्तःकरणोपलक्षितप्रत्यङ्निर्विभागचिद्विषय एवेत्यभ्युपेयमिति भावः।

तदज्ञानं नाभावरूपं वरणात्मकत्वादावरणस्वभावत्वादित्यर्थः, अतोऽज्ञानं भावरूपमेव। अभावशौण्डाः, अभावपदार्थनिरूपणे समर्था वैशेषिकादयः तेऽप्यस्मदादिवद् ह्यभावं नावरणमाहुः। आवरणत्वस्य भावधर्मत्वनियमात् ज्ञानाभावस्तु विशेषतो नावरणम्। किञ्च,

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।[25]

इतिभगवद्वचनमत्रप्रमाणम्। ततश्चावरणत्वात् प्रसिद्धमेघाद्यावरणवदज्ञानं भावरूपमिति। अनुमानमत्रविमतमज्ञानं भावरूपमावरकत्वात् मेघादिवत्। यथा संक्षेपशारीरके-

नाभावताऽस्य घटते
वरणात्मकत्वान्नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।

अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवस्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः।।[26]

एवञ्च भगवद्व्यासवचनेनाऽपि तस्यावरकत्वं सिध्यति, अत एव लिखन्ति संक्षेपशारीरककाराः श्रीसर्वज्ञात्ममुनयः स्वसङ्क्षेपशारीरकग्रन्थे –

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रमत्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि।।[27]

अर्थात् हे राजन् पुरुषस्यैकः शत्रुरज्ञानमस्ति, अज्ञानतुल्यो द्वितीयो शत्रुर्नास्ति येनाज्ञानेनावृतः सम्प्रमत्तः सम्प्रमुदितः सन् पुरुषः घोराण्यतिगर्हितानि पापादीनि सुदारुणानि दीनदरिद्रस्वापहरणादीनि कर्माणि कुरुते इति भावः। मायाऽविद्येत्यपरपर्यायस्य एतस्यैवाज्ञानस्य निराकरणार्थं सर्वा प्रक्रमते वेदान्तप्रक्रिया। निराकरणं त्वेतस्य स्वात्मबोधावगमादेव तस्मात् स एव साधनीय इति दिक्।

सन्दर्भाः

1. नैष्कर्म्यसिद्धिः- 1/52.
2. वेदान्तसारः- अज्ञानलक्षणम्
3. विवेकचूडामणिः- 111.
4. छा0उ0- 6/4/1.
5. श्वे0 उ0- 4/5.
6. गीता- 7/14.
7. विवेकचूडामणिः- 112.
8. पञ्चदशी- 6/130.
9. बृहदारण्यकवार्तिक- 181.
10. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली- पृष्ठ-132. (अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी)
11. इष्टसिद्धिः- 1/140.
12. श्वे0 उ0- 1/3.
13. गीता- 5/15.
14. गीता- 7/25.
15. हस्तामलक- 10.
16. पञ्चदशी- 1/14.
17. पञ्चदशी- 1-15,16,17.
18. विवेकचूडामणिः- 110.
19. पञ्चदशी- 1-44,45.
20. सङ्क्षेपशारीरकम् – 1/317, 318, 319.
21. श्वे0 उ0- 4/10.
22. गीता- 7/14.
23. गीता- 5/15.
24. सङ्क्षेपशारीरकम्- 1/318.
25. गीता- 5/15.
26. सङ्क्षेपशारीरकम्- 1/320.
27. सङ्क्षेपशारीरकम्- 1/321.

●

श्रीमद्भागवत महापुराण में प्रतिबिम्बित आचार पद्धति की मीमांसा

*डॉ0 श्रीकृष्ण त्रिपाठी**

अनादि काल से सज्जनों एवं महात्माओं के परम्परा प्राप्त आचरण को आचार कहते है। मनुस्मृति में भी कहा गया है-

''तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ॥

(मनुस्मृति 2/18)

महात्मा और विद्वान् लोग वेदशास्त्रों का गहन अध्ययन एवं मनन करके जिसे अपने जीवन के क्रिया-कलापों में उतार लेते है। वही आचार है। हमारे इस धार्मिक भारतवर्ष देश में आचारवान् पुरुष ही वेदों के रहस्यों तथा भगवान् के स्वरूप को जानने वाला बतलाया गया है - ''**आचार्यवान् पुरुषो वेदः**''। हमारे यहाँ आचार्य की महती महिमा रही है। आचार्य को हम साक्षात् भगवान् की तरह पूजते चले आये हैं । आचार्य स्वयं आचरण करते हुए अपने शिष्यों को भी निर्मल मार्ग का अनुगामी बनाता है। इसलिए उसे आचार्य कहते हैं - ''**स्वयम् आचरते यस्मात् तस्मात् आचार्य इति स्मृतः**''। निःसार उपदेश प्रभावोत्पादक नहीं होता है। अतः विद्वान् व्यक्ति पहले जिन सद्धर्मों एवं सत्कर्मों का स्वयं पालन करता है। तदनन्तर उन्हें अपने शिष्यों को पालन करने का उपदेश देता है।

हमारे यहाँ आनादि काल से कर्म की दो धारायें प्रवाहित होती चली आ रही हैं। उनमें एक है- वैदिक एवं वेदानुगामी शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट कर्म और दूसरा है- चिरकाल से समाज में परम्परा से चले आ रहे कर्म । इन दोनों प्रकार के कर्मों को आचरण की महिमा से मंडित कर सकते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है जब हमारे सामने शास्त्रों और परम्परा प्राप्त कर्मों में विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। तब हम परम्परागत आचार को ही वरीयता प्रदान करते हैं । विवाह आदि के अवसरों पर कोहबरालय में ग्रामीण अशिक्षित स्त्रियों के द्वारा कुछ ऐसे ही आचरण वर-वधू से कराये जाते हैं, जिनका विधान शास्त्रों में नही है। फिर भी वे समाज में मान्य हैं।

अभी-अभी मैंने प्रतिपादित किया है कि सज्जनों के आचरण श्रुतियों एवं स्मृतियों के द्वारा समर्थित होते हैं। इसीलिए विद्वान् लोग ''**श्रुतिस्मृत्युदित आचारः**''। ऐसा कहा है। धर्म भी श्रुति और स्मृति के द्वारा समर्थित एवं अनुमोदित होता है। इसीलिए हम कभी-कभी धर्म के स्थान पर आचार को और आचार के स्थान पर धर्म को लिखते है। अब तक के विवेचन से इतना तो सुनिश्चित हो गया कि हमारे देश में आचार को अत्युच्चमहनीय आसन पर विराजमान कराया गया है। अब यहाँ हम श्रीमद्भागवत एवं विष्णु पुराण के आधार पर आचार की मीमांसा करने का प्रयास करने जा रहे हैं- श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्त में चारो आश्रमों एवं चारो वर्णों के आचार एवं धर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। हमारे देश की मनीषा का यह दृढ़ आग्रह था कि जिसे वह प्राणी, समाज एवं लोक के कल्याण की बात समझती है उसे वह धर्म का आच्छादन प्रदान करती है। परम्परा प्राप्त आचार के पालन में शिथिल व्यक्ति भी धर्म को इस लोक और परलोक के भय से अपने जीवन में उतारता है। यही कारण है कि ब्रह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि में शैय्या पर शयन करने तक और जन्म से मरण तक के जितने भी परम्परागत आचार है उन्हें धर्म की संज्ञा प्रदान की गई है।

मानव जाति को सुव्यवस्थित रखने के लिए हमारे देश के प्राचीन आचार्यों ने सम्पूर्ण मानव जाति को चार वर्णों – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में तथा चार आश्रमों – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास में विभक्त किया है। इन सभी आश्रमों एवं वर्णों के भिन्न-भिन्न धर्म बतलाये गए हैं । कुछ आचार एवं धर्म समस्त मानवता के कल्याण के लिए सबके द्वारा आचरणीय कहा गया है। आचार एवं धर्म वे तत्त्व हैं। जिनके आचरण से आत्मा प्रसन्न होती है। जो आचरण सबके लिए सामान्य रूप से कल्याणप्रद कहे गए हैं। वे हैं —

सत्य- सत्य की महिमा हमारे पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में प्रबलरूप से वर्णित है। इसीलिए हम नारायण को भी सत्य से जोड़कर सत्यनारायण कहते हैं। नारायण एवं सत्य पर्यायवाची शब्द है। शास्त्रों में सत्य को नारायण और नारायण को सत्य कहा गया है। इसीलिए हम डिण्डिमघोष के साथ कहते है कि '' **न हि सत्यात् परोधर्मः** '' । अर्थात् सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं है। सत्य का आचरण मन, वाणी और कर्म से किया जाता है । हमारी ऋषि, महर्षि परम्परा यह बतलाती है कि जो हम हृदय से सोचते हैं वही बोलें और उसी के अनुसार अपना आचरण करें । इसीलिए हमारे नीतिकारों ने कहा है कि –

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यात् दुरात्मनाम् ॥

जो व्यक्ति जीवन में कभी भी असत्य भाषण नहीं करता उसके द्वारा कही गयी कोई बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती । संसार सत्यवादी की बात को आँख बन्द कर स्वीकार करता है।

* एसोसिएट प्रोफेसर, वैदिक-दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्ध का एक बड़ा मार्मिक प्रसङ्ग है। जिससे सत्य की अवर्णनीय महिमा प्रतिपादित होती है - '' देवकी का वसुदेव से विवाह हुआ था। देवकी कंस की चचेरी बहन थी । वह उसे अतिशय प्यार करता था । अपनी बहन देवकी की प्रसन्नता के लिए कंस रथ पर वसुदेव और देवकी को बैठाकर स्वयं रथ हाँकते हुए उनके घर पहुँचाने जा रहा था । रास्ते में आकाशवाणी सुनायी पड़ी - **''अस्यास्त्वाम् अष्टमो गर्भो हन्ता यां बहसेऽबुध।''** भागवत। अर्थात् अरे ! मूर्ख कंस जिस देवकी को तुम इतने प्रेम से रथ पर बैठाकर पहुँचाने जा रहे हो । उसका आठवाँ गर्भ तुम्हें मारने वाला होगा ।[1]

कंस महान् खल था । आकाशवाणी होते ही रथ से उतर पड़ा । दाहिने हाथ से तलवार निकाली और बाँए हाथ से देवकी का जूड़ा पकड़ा ।वह देवकी की गर्दन काटने के लिए उद्यत था । वसुदेव ने उसे समझाने का महान प्रयास किया । उसके कुल की प्रशंसा करते हुए कहा- भैया कंस आप महान् गुणशाली हो । आपके गुणों की प्रशंसा बड़े-बड़े शूरवीर किया करते हैं। वस्तुतः आप भोज वंश के अवतन्स हो । अतः आप भगिनी की, विशेष करके विवाह के अवसर पर भला कैसे वध कर सकते है।[2] किन्तु अत्याचारी कंस मानता ही न था। तब वसुदेव ने कहा भैया कंस आपको देवकी से भय नही हैं। भय है इनके पुत्रों से । अतः मैं जन्म लेते ही इसके पुत्रों को लाकर तुम्हें समर्पित कर दूँगा । उन्हें तुम मारना अथवा छोड़ना । यह तुम्हारे ऊपर निर्भर होगा ।[3] वसुदेव संसार में, समाज में प्रसिद्ध थे कि वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते हैं, झूठ नहीं बोलते हैं । अतः उनकी बात का सार समझते हुए देवकी को छोड़ दिया,उसके वध से अलग हो गया । वसुदेव प्रसन्न होकर देवकी के साथ अपने भवन में प्रविष्ट हुए ।[4] आगे इसी प्रसङ्ग में एक छोटी सी कथा और है- नन्द आदि सारे गोप कंस को वार्षिक कर देने के लिए मथुरा गए थे। वहाँ वे कंस को कर देकर परिजनों एवं पुरजनों के साथ बाहर के उद्यान में ठहरे थे। अवसर देखकर उनसे वसुदेव मिले । समाचार पूछा । फिर कहा-भैया नन्द! आपने राजा कंस को वार्षिक कर दे दिया । हम लोगों से भी भेंट हो गई । अब आप शीघ्र ही गोकुल लौट जाइये । वहाँ इस समय महान उत्पात हो रहें हैं। नन्द रास्ते में चले जा रहे थे और वह यह सोच रहे थे कि सत्यवादी वसुदेव की वाणी मिथ्या नहीं हो सकती । भगवान् हम सब का कल्याण करें।[5] गोकुल पहुँचने पर नन्द ने देखा वहाँ पूतना मरी पड़ी थी वसुदेव की बात सत्य निकली ।

ऐसे ही सत्यवादियों की सत्यनिष्ठा की प्रशंसा करते हुए पतञ्जलि योगसूत्र में लिखा है कि-

''सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।'' 2/36

महान् सन्त गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है- ''असत्य के समान कोइ पातक का पहाड़ नहीं है क्या कभी करोड़ों गुञ्जाफल इकट्ठा कर देने पर वे विशाल पहाड़ का रूप ले सकते है।[6]

सन्तोष - आचार एवं धर्म की परम्परा में सन्तोष का बहुत ऊँचा स्थान है। यथा लाभ सन्तोष की प्रशंसा सारे पुराण एवं धर्मशास्त्र कहते हैं। सन्तोष के उदाहरण के लिए श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध के 19वें अध्याय में एक बड़ा ही मार्मिक प्रसङ्ग है। वस्तुतः यह प्रसङ्ग भारत के लोगों विशेषकर युवाओं की आचार पद्धति को सुधार सकता है। मेरा साग्रह, साभिमान यह अनुरोध है कि प्रसङ्ग को विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के पाठ्यग्रन्थ में निर्धारित करना चाहिए । प्रसङ्ग इस प्रकार है – महादानी, परमधार्मिक, दैत्यशिरोमणि महाराजा बलि भृगु कक्ष (आधुनिक भड़ौच) में अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे । वामन महाराज दान लेने के लिए उनके यज्ञ में पहुँचे । सारी यज्ञ मण्डली भगवान् वामन के तेज से अभिभूत होकर उनकी अगवानी में उठ खड़ी हुई । बलि ने उनके आगमन को अपने सौभाग्य की परम सीमा मानी । वे उनका चरण धोए । फिर उन्होंने हाथ जोड़कर कहा- हे ब्राह्मण बटु ! मैं सोचता हूँ कि आप अर्थ की कामना से हमारे यज्ञ में पधारे है । बतलाइये आपको क्या दूँ । सोना, चाँदी, धन्यधान्य से भरे हुए ग्राम अथवा यह अपनी तरुणी बेटी आपको प्रदान कर दूँ [7] । वामन भगवान् ने बलि की बात ध्यानसे सुनी । उनकी और उनके पशस्त वंश की खुली प्रशंसा की और फिर कहा- महाराज ! सम्प्रति आप गृहस्थों के द्वारा और पूर्वजों आचरित गृहस्थ धर्म में स्थित हैं। आप दानियों में शिरोमणि हैं। इसलिए मैं आपसे स्वल्प भूखण्ड चाहता हूँ । मैं चाहता हूँ कि दैत्येन्द्र ! आप मुझे मेरे पैर से नाप कर केवल तीन पग पृथ्वी दे दें । मैं जानता हूँ कि आप जगदीश्वर हैं। दान शिरोमणि हैं। फिर भी मैं आपसे इसके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता हूँ। जीवन निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतने ही धन की कामना करने वाला ब्राह्मण पाप का भागी नहीं होता है। वामन की बात बलि ने सुनी । वह जोर से हँसा और हँस करके कहा- ब्राह्मण बटु आप बालक हो । आपकी बुद्धि भी छोटी है। अतः आप अपने स्वार्थ के प्रति भी सजग नहीं हो । मैं त्रिलोकी का एकक्षत्र सम्राट हूँ । मैं द्वीप का द्वीप दान दे सकता हूँ । ऐसी स्थिती में अपनी वाणी से सन्तुष्ट कर जो तीन पग पृथ्वी माँगता है। उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता । कोई भी याचक मेरे पास याचना करने के अनन्तर फिर किसी से याचना की कामना नहीं करता । अतः मुझसे उतनी भूमि माँग लीजिए जिससे जीवनभर आपकी जीविका सरलता से चल जाए ।

वामन ने बलि की बात सुनी । उन्होंने बड़े ही धैर्य के साथ कहा- महाराज बलि ! संसार में जितने भी विषय हैं वे किसी अजितेन्द्रिय व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं। जो व्यक्ति तीन पग से सन्तुष्ट नहीं हो सकता वह नव वर्षों से भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता । उसकी इच्छाएँ आगे-आगे भागते जाएगी । इसके लिए

हमारे देश का प्राचीन इतिहास साक्षी है। कोई भी राजा,महाराजा अपनी पृथ्वी और धन से सन्तुष्ट नहीं हो सका । अतः मुझे तीन पग ही पृथ्वी चाहिए । अन्ततः हार मानकर बलि ने वामन को तीन पग पृथ्वी का दान कर दिया । आगे की कथा विश्व प्रसिद्ध है।

इस प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत का एक अतिशय महत्वपूर्ण श्लोक है जिसे इस प्रसङ्ग में उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नही कर सकता । नारद युधिष्ठिर को गृहस्थ धर्म के आचार की शिक्षा देते हुए कहते है कि व्यक्ति का उतने ही धन पर अधिकार है जिससे की उसकी जीविका सुचारू रूप से चल जाए । इससे अधिक धन की जो व्यक्ति कामना करता है। वह स्तेन है, चोर है और वह दण्ड का पात्र है ।[8] पूरे पौराणिक वाङ्मय में सन्तोष के विषय में इससे प्रबल प्रमाण नहीं उपलब्ध होता । आज की दुनियाँ, आज का शासक वर्ग यदि इस श्लोक के अनुसार आचरण करें तो देश को नन्दन वन बनने में विलम्ब नहीं हो सकता । विस्तार के भय से मैं अपने निबन्ध का उपसंहार करते हुए एक प्रसंङ्ग को इस विषय में उद्धृत करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ । कथा पद्मपुराण में वर्णित है। जिसका प्रारूप इस प्रकार है- त्रेता युग में वरतन्तु के शिष्य कौत्स थे । उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने गुरु से 14 विद्याओं का सविधि अध्ययन किया था। दीक्षान्त समारोह के बाद जब कौत्स के घर जाने की बेला हुयी तो उन्होने अपने गुरुजी के चरणों में मस्तक रखकर गुरुदक्षिणा की प्रार्थना की । आचार्य वरतन्तु ने कहा – बेटा ! मैं तुम्हारी विद्या और सुश्रुषा से परम सन्तुष्ट हूँ । यही तुम्हारी सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा है। जाओ मेरा आशीष तुम्हारा मंगल करेगा । किन्तु कौत्स माने नहीं। उन्होंने बार-बार गुरुदेव से दक्षिणा की प्रार्थना की । अन्ततः गुरु को क्रोध आ गया । उन्होंने कहा यदि दक्षिणा देनी ही है तो मेरे द्वारा अधीत चौदह विद्याओं के अनुसार 14 करोड़ स्वर्ण मुद्रायें लाकर मुझे दो । उस युग के महादनी थे – महाराज रघु । कौत्स ने सोचा इतनी बड़ी धनराशि रघु के अतिरिक्त दूसरा कोई देने का साहस नहीं कर सकता । ऐसा सोचकर वे अयोध्या नगरी में महाराज रघु के पास पहुँचे । उस समय महाराज रघु ने यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर दिया था । उनके पास खाने-पीने के पात्र भी नहीं थे । मिट्टी के पात्रों से उनकी और परिवार की चर्या चल रही थी। तपस्वी ब्रह्मचारी कौत्स को देखकर रघु परम प्रसन्न हुए । उन्होंने उनका स्वागत सम्मान किया । चरण धोया, आचमन कराया। इन सारी क्रियाओ में महाराज रघु मिट्टी के पात्रों का उपयोग करते रहे । सम्मान कर लेने के बाद महाराज रघु ने हाथ जोड़कर कौत्स से कहा- ब्रह्मचारी बतलाइये आपकी क्या सेवा करूँ । अवश्य ही आप कुछ माँगने के लिए आए हैं। कौत्स ने मिट्टी के पात्रों के व्यवहार से ही रघु की आर्थिक स्थिति जान ली थी । अतः उन्होंने कहा- महाराज मैं ऐसे ही आ गया था । अब चलता हूँ । किन्तु रघु ने हट किया कौत्स के आगमन के प्रयोजन को जानने के लिए । महाराज के अतिशय निर्बन्ध को देखकर अन्ततः कौत्स ने कहा- महाराज मुझे अपने गुरु वरतन्तु को 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ गुरुदक्षिणा में देनी है। मैनें सोचा आपके अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति इतनी विशाल धनराशि नहीं दे सकता। उसी के लिए मैं आपके पास आया था । किन्तु आपकी स्थिति को जानकर मैं कुछ मांगना नहीं चाहता था । इसीलिए किसी दूसरे दानी के पास जाने का मन बनाया है। रघु ने कौत्स की बातें सुनी । वेदों का महान् ज्ञाता कौत्स गुरूदक्षिणा के लिए रघु से धन न पाकर किसी दूसरे दानी के पास चला गया, यह कलंक मुझे लगे यह ठीक नहीं है। अतः उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा- ब्राह्मण ब्रह्मचारी आप यज्ञ-शाला में ठहरें । कल मैं आपको आपकी वांछित सारी मुद्राएँ प्राप्त कर दूँगा । दूसरी ओर अपने सारथी को बुलाकर रघु ने आदेश दिया-सार्थिन मेरा रथ तैयार रखो । कल प्रातःकाल कुबेर पर चढ़ाई करनी है। ऐसा कह कर रघु शयन करने चले गए ।

ब्रह्म मुहूर्त था । रात्रि भूमण्डल से धीरे-धीरे अपनी अन्धकार की साड़ी समेट रही थी । उसी समय कोषागार के स्वामी ने महाराज को सूचना दी- महाराज ! सारा कोषागार स्वर्ण की चमकती मुद्राओं से जगमगा रहा है। नित्य कृत्य से निवृत्य होकर महाराज रघु कोषागार पहुँचे । उन्होनें उसे देखा । उन्हें समझने में यह देर न लगी कि कुबेर ने स्वर्ण की मुद्राओं की वर्षा करके इस कोषागार को भर दिया । महाराज रघु ने कौत्स को बुलाया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की – महाराज यह सारी स्वर्ण मुद्राएँ आपके लिए ही हैं । आप इन्हें छकड़े पर लाद कर ले जाए । कौत्स ने कहा – महाराज! मैं गिनकर 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ ही लूँगा । इससे अधिक मुझे सोने की एक लकीर भी नहीं चाहिए । दोनो अपनी बात पर, अपने सिद्धान्त पर डटे रहे । अन्त में कौत्स बिना मुद्राओं के ही जब खाली हाथ जाने के लिए तैयार हो गये तब रघु ने कहा ठीक है। आपको जितनी मुद्राएँ चाहिए उन्हें ले लीजिए । सारे अयोध्यावासी खड़े-खड़े इस दृश्य को देख रहे थे । वे आश्चर्यचकित थे । वे कभी कौत्स को देखते और कभी रघु को । उनकी समझ में नही आ रहा था कि दाता बड़ा है अथवा आदाता, दानी बड़ा है अथवा याचक । पुराण के इसी प्रसंङ्ग को महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में बड़े आडम्बर के साथ लिखा है-

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थीनृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

5/31

श्रीमद्भागवत एवं विष्णु पुराण में प्रायः समान ही एक श्लोक मिलता है –

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥

(विष्णु पुराण 4/10/24)

अर्थात् पृथ्वी की सारी सम्पत्ति एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं है। इसलिए व्यक्ति को तृष्णा का परित्याग कर उतने से ही सन्तोष कर लेना चाहिए जितने से उसका काम चल जाए ।

यद्यपि धर्म के दश लक्षण बतलाये गए है। इस सारे लक्षणों की व्याख्या श्रीमद्भागवत में विस्तार से की गई है। किन्तु यहाँ मैंने उक्त दो लक्षणों का ही वर्णन किया है। अन्यथा यह निबन्ध विशालकाय बन जाता ।

सन्दर्भ

1. 10।1।34-35 श्रीमद्भागवत् ।
2. 10।1।37 श्रीमद्भागवत् ।
3. 10।1।54 श्रीमद्भागवत् ।
4. 10।1।55 श्रीमद्भागवत् ।
5. 10।5।31, 10।6।11 श्रीमद्भागवत् ।
6. नहि असत्य सम पातक पुञ्जा। गिरिसम होंहि कि कोटिक गुञ्जा ।। **रामचरित मानस ।**
7. यद् यद् वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये । गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्र कन्याम् । ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान गजान् वा रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ।**8।1।8।32 श्रीमद्भागवत्**
8. यावद् म्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।। **7।1।4।8 श्रीमद्भागवत्**

●

धर्मशास्त्र में तान्त्रिक प्रयोग

डॉ0 प्रियङ्कर अग्रवाल एवं प्रो0 रामकिशोर त्रिपाठी***

''कृते श्रुत्यस्तु आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तं कलौ आगमस्तु केवलम्॥''[*]

भारतीय दर्शन श्रुति एवं तर्कों का आश्रय लेकर आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा का विश्लेषण करता है। इन दर्शनों को तीन भागों में विभक्त किया गया है जो कि निम्नलिखित हैं-

1. वैदिक दर्शन (निगमश्रुति प्रधान)
2. आगमिक दर्शन (आगमश्रुति प्रधान)
3. वैदिकेतर दर्शन (चार्वाकादि)

तन्त्रों में प्रातःस्मरण, स्नानाविधि, त्रिपुण्डधारण, भूशुद्धि, भूतशुद्धि, प्राणायाम, सन्ध्या, जप, पुरश्चरण, करांगन्यास, चित्रान्यास, अन्तरमातृका, बहिर्मातृका, नामादि विद्या, नित्यादि विद्या, मूलाविद्या, द्वारपूजा, तर्पण, पात्रनिर्णय, सूर्यार्घ्य, तीर्थसंस्कार, गुर्वादिपूजन, दीक्षा, पूर्णाभिषेक प्रायश्चित्त, निम्बपुष्प पूजा, दमनक पूजा, वसन्त पूता, श्रीचक्रपूजा, सर्वतोभद्रादि चक्रनिर्णय, यन्त्र निरूपण, पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध, कौलश्राद्ध, मन्त्रशोधन, मन्त्रोद्धार, नामपारायण, तत्त्वपारायण, पञ्चाङ्गादि न्यास, अन्त्येष्टिक्रिया, विविध मुद्रा आदि नाना विषयों का वर्णन है।

आगम या तन्त्रशास्त्र को शिवप्रणीत कहा गया है। यह तीन भागों में विभक्त है- आगम, यामल और मुख्यतन्त्र। वाराही-तन्त्र के अनुसार जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सब कार्यों के साधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यानयोग का वर्णन हो, उसे **आगम** और जिसमें सृष्टितत्त्व, ज्योतिष, नित्यकर्म, क्रम, सूत्र, वर्णभेद और युगधर्म्म का वर्णन हो उसे **यामल** कहते हैं। और जिसमें सृष्टि, लय, मन्त्रनिर्णय, देवों के संस्थान यन्त्र-निर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म्म, कल्प, व्रत-कथा, शौच और आशौच, स्त्री-पुरुष लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन हो, वह **मुख्य-तन्त्र** कहलाता है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक-मन्त्रों, जपों और यज्ञों आदि का पूर्ण फल प्राप्त नहीं हो पाता। इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिये तन्त्रशास्त्र में वर्णित मन्त्रों और उपायों आदि से ही सहायता मिलती है। इस शास्त्र के सिद्धान्त बहुत ही गुप्त रखे जाते हैं और इसकी शिक्षा लेने के लिये मनुष्य को पहले **दीक्षित** होना पड़ता है। उपर्युक्त कहे गये वर्ण्य-विषय यथा आश्रम-धर्म्म, शौचाशौच निर्णय, स्त्री-पुरुष लक्षण, दान, धर्म, व्रत, राजधर्म तथा व्यवहारादि धर्मशास्त्र में भी गृहीत हैं

वाराही-तन्त्र के अनुसार समस्त तन्त्र के श्लोक देवलोक, ब्रह्मलोक और पाताललोक में 9लाख तथा भारत में 1लाख मात्र हैं। इनमें भी आगम तीन प्रकार के हैं, चौथा ऐश्वर है। कल्प भी चार प्रकार हैं- आगम, डामर, यामल और तन्त्र।

''आगमं त्रिविधं प्रोक्तं चतुर्थमैश्वरं स्मृतम्।
कल्पश्चतुर्विधः प्रोक्तः आगमो डामरस्तथा॥
यामलश्च तथा तन्त्रं तेषां भेदाः पृथक् पृथक्''

कलिकाल में जो आगम (तन्त्र) का उल्लङ्घन करके अन्य मार्गों का अवलम्बन करेगा सचमुच ही उसकी सद्गति नहीं होगी।

''कलावागममुल्लंघ्य योऽन्य मार्गे प्रवर्तते।
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्यं न संशयः॥''[1]

विष्णुयामल में वर्णित है कि- बुद्धिमान मनुष्य कलिकाल में आगमोक्त व्यवस्था के अनुसार ही पूजा करेंगे। अन्य नियम से पूजा करने से देवगण प्रसन्न नहीं होंगे :-

''आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥''[2]

तान्त्रिकगण पाँच प्रकार के आचारों में विभक्त हैं। कुलार्वणतन्त्र के मत से-

''सर्वेभ्यश्चोत्तमाः वेदाः वेदेभ्यो वैष्णवं महत्।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम्॥

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि॥''

'सबसे श्रेष्ठ वेदाचार है, वेदाचार से वैष्णवाचार महत् है, वैष्णवाचार से शैवाचार उत्कृष्ट है, शैवाचा से वामाचार श्रेष्ठ है, वामाचार से सिद्धान्ताचार उत्तम है और सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार उत्तम है। कौलाचार के बाद और कोई नहीं है।'

कौलाचार- नित्यातन्त्र में वर्णित है कि-

''दिक्कालनियमो नास्ति तिथ्यादि नियमो न च।
नियमो नास्ति देवेशि महामन्त्रस्य साधने॥

कवचित्शिष्टः क्वचित्भ्रष्टः क्वचित् भूतपिशाचवत्।
नानावेशधरा कौलाः विचरन्ति महीतले॥

---

* शोधच्छात्र, धर्मशास्त्र-मीमांसा विभाग, वाराणसी
**प्रोफेसर, वेदान्त विभाग, वाराणसी

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं मित्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव काञ्चने तृणे॥
न भेदो यस्य देवेशि स कौलः परिकीर्तितः॥''[3]

अर्थात महामन्त्रादि के साधन में दिक्काल का नियम नहीं है, तिथ्यादि का भी नियम नहीं है। कभी शिष्ट कभी भ्रष्ट और कभी भूत-पिशाच के समान, इस तरह नाना वेशधारी कौल महीतल पर विचरण करते हैं। कर्दम और चन्दन में, मित्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में जिनको भेदज्ञान नहीं है, उन्हें ही कौल कहा जा सकता है।

प्राचीन स्मृतिसंहिता में चौदह विद्याओं का उल्लेख है, किन्तु उसमें तन्त्र गृहीत नहीं हुआ है-

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

तन्त्रोक्त मरणोच्चाटन-वशीकरणादि आभिचारिक क्रिया का प्रसङ्ग सर्वप्रथम अथर्वसंहिता में पाया जाता है। अर्थववेदीय नृ॰तापि॰उप॰ में मन्त्रराज नृसिंह अनुष्टुभ् प्रसङ्ग में तान्त्रिक मालामन्त्र का स्पष्ट उल्लेख देखने में आया है। श्रीमद्भागवत् के चतुर्थ स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि- दक्षयज्ञ में शिवनिन्दा सुनकर नन्दी के द्वारा दक्ष और उसके समर्थकों को अभिशप्त करने पर भृगु ने भी शिव को इस प्रकार अभिशाप दिया था-

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्र परिपन्थिनः।

नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवः सुरासवम्।

ब्रह्मा च ब्राह्मणं चैव यद् यूयं परिनिन्दथ
सेतुं विधरणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः॥[4]

तान्त्रिक क्रियाओं के *पञ्चमकार* प्राणस्वरूप हैं। इनके बिना तान्त्रिक को किसी भी कार्य में अधिकार नहीं है। पञ्चमकार देवताओं के लिये भी दुर्लभ कहे गये हैं। धर्मशास्त्रों में यों तो मांसभक्षण का सामान्य निषेध प्राप्त है परंतु विशेष नियम से अधिकार भी है। गौतमधर्मसूत्र में वर्णित है- पञ्चऽपञ्चनखा भक्ष्याः'। याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के भक्ष्याभय प्रकरण में लिखा है कि-

प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया।
देवानपितॄन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दोषभाक्॥[5]

अर्थात्- जब अन्न के अभाव में अथवा रोग में मांस के बिना प्राण बचना कठिन हो तो श्राद्ध में, प्रोक्षण नामक श्रौत संस्कार में , देवताओं की आहुति से अवशिष्ट, ब्राह्मण देवता या पितर के निमित्त बनाये जाने वाले मांस को देव तथा पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं होता। तथा-

वसेत्स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
संमितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशून्॥[6]

अर्थात् जो दुराचारी बिना विधि अर्थात् देवता या यज्ञ के लिये नहीं अपितु स्वयं के लिये पशु का वध करता है, वह जितने रोंये पशु के शरीर पर होते हैं उतने ही दिन घोर नरक में निवास करता है।

रहस्यवादी प्रसङ्गों के सन्दर्भ में यावल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में गणपतिकल्पप्रकरण में स्वप्न सम्बंधी बात का उल्लेख है जिसमें कि विघ्नविनायक के रुष्ट हो जाने पर व्यक्ति पर आपत्तियों का वर्णन है-

''तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत।
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति॥

काषायवाससश्चैव क्रव्यादांश्चातिरोहति।
अन्त्यजैर्गर्दभैरूष्ट्रैः सहैकत्रावतिष्ठते॥
व्रजन्नपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः।''[7]

'उस विनायक से जो ग्रस्त हैं, वे मनुष्य स्वप्न में जल में बहुत स्नान करता है अथवा डूब जाता है, सिर मुड़ाये हुये पुरुषों को देखता है, रक्त या नीले काषायधारी लोगों को देखता है, मांसभक्षी की सवारी करने का स्वप्न देखता है, चाण्डाल गदहे कुत्तों व ऊँटों के साथ एकत्र निवास तथा स्वयं चलते समय शत्रुओं द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखता है। वह खिन्न रहता है और बिना कारण के दुखी रहता है।

स्वप्न का फल कहने के पश्चात् प्रत्यक्ष फल को कहते हैं कि-

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः।
तेनोपसृष्टो लभते न राज्यं राजनन्दनः॥

कुमारी च न भर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना।
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च न शिष्योऽध्ययनं तथा॥
वणिग्लाभं न चाप्नोति कृषिं चापि कृषीवलः।[8]

अर्थात्- ''विनायक द्वारा अभिभूत होने पर राजा का पुत्र राज्यं नहीं कर पाता, कुमारी कन्या अभीष्ट एवं योग्य वर नहीं पाती, स्त्री को गर्भ नहीं ठहरता, वेदपाठी श्रोत्रिय को आचार्य का पद नहीं मिलता, शिष्य अध्ययन से वञ्चित रहता है, बनिया व्यापार में लाभ नहीं पाता और न कृषक अच्छी फसल पाता है।'' यह सब बताकर विघ्न के उपशमन हेतु कर्म का विधान कहते हैं कि-

स्नापनं तस्य कर्त्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम्।
गौरसर्षपकल्केन साज्येनोत्सादितस्य च।

सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्विलिप्तशिरसस्तथा।
भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजाः शुभाः॥

अश्वस्थानाद् गजस्थानाद्वल्मीकात्संगमाद्ध्रदात्।
मृत्तिकां रोचनां गन्धान्गुग्गुलं चाऽप्सु निक्षिपेत॥

या आहृता ह्योकवर्णैश्चतुर्भिः कलशैर्ह्रदात्।
चर्मण्यानड्डुहे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः।।[9]

इसके अतिरिक्त आचाराध्याय के ग्रहशांति-प्रकरण में ग्रहयज्ञ, ग्रहपूजा, ग्रहों की मूर्तियों के लिये धातुयें, मन्त्र, नवग्रहों के भोजन तथा दुष्टग्रहों की पूजा आदि विधियों बका भी वर्णन प्राप्त है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के चतुर्दश अधिकरण औपनिषदिक में आचार्य ने शत्रु राजा को मारने के लिये मंत्र-औषध आदि प्रयोगों का निरूपण किया है-

चातुर्वर्ण्यरक्षार्थमौपनिषदिकमधर्मिष्ठेषु प्रयुञ्जीत। कालकूटादि विषवर्गः।[10] ''विजिगिषु राजा चारों वर्णों की रक्षा के हेतु अधार्मिकों पर ही मन्त्र एवं कालकूटादि औषधियों का प्रयोग करे।

श्रद्धेयदेशवेशशिल्पभाजनापदेशैः कुब्जवामनकिरात-मूकबधिरजडान्धछद्माभिर्म्लेच्छजातीयैरभिप्रेतैः स्त्रीभिः पुंभिश्च परशरीरोपभोगेष्वाधातव्यः।[11]

अर्थात्- ''वह शत्रु के उपभोग योग्य वस्त्र तथा खाद्य आदि वस्तुओं पर श्रद्धेय देश, वेश, शिल्प एवं सुपात्रता का ढोंग रचे हुये कुबड़े, बौने, किरात, गूँगे, बहरे, मूर्ख और अन्धों के रूप में विचरण करने वाले अपने अनुकूल म्लेच्छ स्त्री-पुरुषों के द्वारा कालकूटादि विषों का प्रयोग कराये।

चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्णमुच्चिटिंगकम्बलिशतकन्देध्मकृकलासचूर्ण
गृहगोधिकान्धाहिककृकणकपूतिकीटगोमारिकाचूर्ण
भल्लातकावल्गुकारसंयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः।[12]

''चितकबरा मेढक, कौण्डिन्यक (एक ऐसा कीड़ा कि जिसके मल-मूत्र में विष होता है), कृकणक (जङ्गली तीतर), कूठ के पाँचों अङ्ग (पत्र, पुष्प, फल, छाल और जड़), शतपदी (कनखजूरा)- इन सबका चूर्ण; उच्चिटिंग (बर्रे), कम्बली कीट, शतावर, जिमिकन्द, पलास की लकड़ा और कृकलास (गिरगिट) का चूर्ण तथा गृहगोधिका, अन्धाहिक (दोमुहां साँप), कृकणक, पूतिकीट (मल में रहने वाला कृमिविशेष) एवं गोमारिका ओषधि- इन सबके चूर्ण को मिलावे एवं बकुची के रस में मिलाकर तैयार किया हुआ योग (नुस्खा) तत्काल प्राण ले लेता है। इन सब चूर्णों का धुआँ भी सद्य प्राणनाशक होता है।

कीटो वान्यतमस्तप्तः कृष्णसर्पप्रियङ्गुभिः।
शोषयेदेष संयोगः सद्यः प्राणहरो मतः।।

उपर्युक्त कीटों में से कोई भी कीड़ा यदि आग पर सुलगाकर किसी को सुँघा दिया जाये तो उसका सारा शरीर सूख जायेगा। इनमें से किसी कीड़े को काले साँप और ककुनी के साथ मिलाकर तथा आगपर सुलगाकर सुँघाया जाये तो उस व्यक्ति के प्राण तत्काल निकल जायेंगे।

पारावतप्लवकक्रव्यादीनां हस्तिपरवराहाणां च मूत्रपुरीषं कासीसहिंगुयवतुषकणतण्डुलाः कार्पासकुटजकोशातकीनां च बीजानि गोमूत्रिकाभाण्डीरमूलं निम्बशिग्रुफणिज्जका-क्षीवपीलुकभंगः.....शारिकाकपोतबकबलाकालेण्डमर्काक्षि-पीलुकस्नुहीक्षीरपिष्टमन्धीकरणमञ्जनमुदकदूषणं च।[13]

''कबूतर, प्लव (सारस विशेष), गृध्र, हाथी, मनुष्य तथा शूकर का मल-मूत्र, कसीस हींग, जौ का छिलका, चावल, कपास, कुटजवृक्ष, कडुई तरोई के बीज, गोमूत्रिका नामक घास, मञ्जीठ की जड़, नीम, लाल सहजन, श्वेत मोरवा, अक्षीव (सफेद सहजन), पीलु- इन वृक्षों की छाल; सर्प तथा मछली की चर्बी, हाथी के नाखून तथा दाँत का चूर्ण, मतौना कोंदो तथा धान का पुआल, धनियाँ, ढाक का पत्ता- इन सब वस्तुओं का चूर्ण आगपर सुलगाने से इस योग का धूम जहाँ तक पड़ेगा वहाँ तक के प्राणी मूर्च्छित हो जायेंगे। चकोतरा, नीबू, नरसल, शतावर की जड़, सर्प, मयूरपुच्छ, कृकणक पक्षी एवं कूठ का पञ्चाङ्ग (जड़,पत्ती,फल,फूल और छाल) इन सबके चूर्ण को पहले के सूत्र के बताये हुये योग में मिलाकर निर्मित योग को संग्रामभूमि में रात्रि के समय तेजनोदक विधि से यदि शत्रु की भीड़ में आगपर सुलगा दे तो उसका धुआँ सभी शत्रुओं को अन्धा बना देगा। किन्तु यह आवश्यक है कि इसे सुलगाने वाले लोग अपनी आँखों पर होनेवाले इसके असर का प्रतीकार अञ्जनादि लगाकर पहिले ही कर लें, अन्यथा यह धुआँ लगने से वे भी दृष्टि खो देंगे। अथवा मैना, कबूतर, बगुला और बगुली इन पक्षियों की विष्ठा को यदि मदार, सहिजन, पीलु तथा सेंहुड़ के दूध में मिलाकर तैयार किया हुआ अञ्जन भी शत्रुओं को अन्धा और उनके पीने के जल को दूषित कर देगा।''

अब आचार्य निम्नलिखित चार श्लोकों के द्वारा एक अन्य प्रकार का योग बताते हैं कि-

कर्मारादग्निमाहृत्य क्षौद्रेण जुहुयात्पृथक्।
सुरया शौण्डिकादग्निं भार्ग्यायोऽग्निं घृतेन च।।

माल्येन चैकपत्यग्निं पुंश्चल्यग्निं च सर्षपैः।
दध्ना च सूतिकास्वग्निमाहिताग्निं च तण्डुलैः।।

चाण्डालाग्निं च मांसेन चिताग्निं मानुषेण च।
समस्तान्बस्तवसया मानुषेण धुवेण च।।

जुहुयादग्निमन्त्रेण राजवृक्षकदारुभिः।
एषनिष्प्रतिकारोऽग्निर्द्विषतां नेत्रमोहनः।।[14]

अर्थात्- ''कर्मार (कुम्भकार) के आँवे से अग्नि लाकर उसमें मधु का हवन करे, कलवार के यहाँ से अग्नि लाकर उसमें मदिरा का हवन करे, लोहार की अग्नि को लाकर उसमें घृतमिश्रित भँगरैया को हवन करे, किसी पतिव्रता स्त्री से आग लाकर उसमें पुष्पमाल्य का हवन करे, व्यभिचारिणी स्त्री से अग्नि लाकर उसमें सरसों की आहुती दे, सूतिका से अग्नि माँगकर उसमें दही की आहुती देवे,

अग्निहोत्री ब्राह्मण से अग्नि लाकर उसमें चावल का हवन करे, चाण्डाल के घर से अग्नि लाकर उसमें माँस का हवन करे, चिता की अग्नि लाकर उसमें मनुष्य के माँस की आहुती दे। उपर्युक्त सभी अग्नियों को एकत्रित करके पुनः उसमें बकरे की चर्बी, मानव-माँस तथा बरगद की लकड़ी का हवन करे। तत्पश्चात् इन अग्नियों में अमलतास की लकड़ी की आहुती दे। इस प्रकार सिद्ध की हुई अग्नि जहाँ लगेगी, वहाँ का सर्वस्व जला डालेगी तथा किसी भी प्रयास से शान्त न होगी।

''ॐअदिते नमस्ते अनुमते नमस्ते सरस्वति नमस्ते देव सवितर्नमस्ते। अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा।''- इस मन्त्र के उच्चारण पुरस्सर ही उक्त अग्नियों में हवन करना चाहिये।

इसके बाद द्वितीय अध्याय के एक सौ अठहत्तरवें प्रकरण- 'प्रलम्भने अद्भुतोत्पादनम्' में कीमियागरी एवं रसायन के अन्य प्रयोग वर्णन करते हैं यथा-

शिरीषोदुम्बरशमीचूर्णं सर्पिषा संहृत्यार्धमासिकक्षुद्योगः कशेरुकोत्पलकन्देक्षुमूलबिसदूर्वाक्षीरधृतमण्डसिद्धो मासिकः। माषयवकुलत्थदर्भमूलचूर्णं वा क्षीरघृताभ्यां, वल्लीक्षीरघृतं वा समसिद्धं सालपृश्निपर्णीमूलकल्कं पयसा पीत्वा पयो वा तत्सिद्धं मधुघृताभ्यामशित्वा मासमुपवसति । श्वेतबस्तमूत्रे सप्तरात्रोषितैः सिद्धार्थकैः सिद्धं तैलं कटुकालाबौ मासाधमासस्थितं चतुष्पदद्विपदानां विरूपकरणम्। तक्रश्वभक्षस्य सप्तरात्रादूर्ध्वं श्वेतगर्दभस्य लेण्डयवैः सिद्धं गौरसर्षपतैलं विरूपकरणम्।[15]

यहाँ पर शत्रु को वंचित करने के लिये विविध अद्भुत प्रयोगों का निरूपण किया जा रहा है- ''शिरीष, उदुम्बर तथा शमी इन तीनों की छाल का चूर्ण यदि कोई खा लेता है तो उसे पन्द्रह दिनों तक भूख नहीं लगेगी। कसेरू, कमल की जड़, गन्ने की जड़, कमलपुष्प का डण्ठल, दूब, दूध, घी और माड़- इन सब चीजों को एकत्र करके बनाया हुआ योग खानेवाले मनुष्य को महीना भर भूख नहीं लगती। अथवा उड़द, जौ, कुलथी और कुश की जड़ का चूर्ण यदि दूध और घी में मिलाकर खा लिया जाये तो एक महीना भूख नहीं लगेगी। अथवा वल्ली को समान भाग घी और दूध में मिलाकर खा लिया जाय तो एक महीने तक उपवास किया जा सकता है। अथवा सालपर्णी और पृश्निपर्णी की जड़ का कल्क दूध में मिलाकर खीर बना ले। उसमें मधु और घी मिलाकर खाने से एक महीना भूख नहीं लगती। सफेद सरसों सफेद बकरे के मूत्र में सात रात तक भिगोये रखकर और बाद में उसका तेल पेरवा ले। वह तेल एक महीना कडुई तुम्बी में सुरक्षित रखकर यदि किसी मनुष्य या पशु पर लगा दिया जाये तो उसकी आकृति जाती है। इसी कारण यह योग, विरूपकरण-योग कहलाता है।

उपोदिका प्रतिबलावंजुलः पारिभद्रकः।
ऐतेषां मूलकल्केन मण्डूकवसया सह॥

साधयेत्तैलमेतेन पादावभ्यज्य निर्मलौ।
अङ्गारराशौ विचरेद्यथा कुसुमसंचये॥[16]

उपोदिका, खरेंटी, बंजुल (बाँस) और नीम इनकी जड़ का कल्क तथा मेढक की चर्बी मिलाकर तेल तैयार कर ले। निर्मल पैरों में यदि कोई यह तेल लगा ले तो वह मनुष्य धधकते अङ्गारों पर इस प्रकार चल सकता है, जैसे कोई फूलों की शय्या पर चल रहा हो।

शस्त्रहतस्य शूलप्रोतस्य वा पुरुषस्य वामपार्श्वपर्शुकास्थिषु कल्माषवेणुना निर्मथितोऽग्निः, स्त्रियाः पुरुषस्य वाऽस्थिषु मनुष्यपर्शुकया निर्मथितोऽग्निर्यत्र त्रिरपसव्यं गच्छति, न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति।[17]

शस्त्र के आघात से मृत अथवा सूली पर चढ़ाने से मरे हुये पुरुष के बायें पार्श्व की पर्शुका नामक पसली को चितकबरे रँग के बाँस पर रगड़कर उत्पन्न की गयी अग्नि एवं स्त्री या पुरुष की हड्डी पर रगड़ने से उत्पन्न अग्नि को जिस स्थान पर तीन बार अपसव्य रूप से घुमा दिया जाये, उस स्थान पर कोई भी आग नहीं जलेगी।

कुलीराण्डदर्दुरखारकीटवसाप्रदेहेन द्विगुणो दारकगर्भः कंकभासपार्श्वोत्पलोदकपिष्टश्चतुष्पदद्विपदिनां पादलेपः, उलूकगृध्रवसाभ्यामुष्ट्रचर्मोपानहावभ्यज्य वटपत्रैः प्रतिच्छाद्य.....रेतांसि वा योजनशताय।[18]

कुलीर (केकड़े) के अण्डे पर मेढक तथा खारकीट की चर्बी से द्विगुणित बढ़ाये हुये सूकर का गर्भ यदि कंकपक्षी तथा भास (गीध) का पार्श्वभाग और उत्पल के जल में पीस लिया जाये और यह लेप किसी चौपाये या मनुष्य के पैरो में लगा दिया जाये एवं ऊँट के चमड़े से बने जूतों पर उल्लू तथा गीध की चर्बी का लेप करके वटपत्र से ढाँक दिया जाये तो उस जूते को पहनकर मनुष्य बिना थकावट के पचास योजन (200 कोस) पैदल चल सकता है। श्येन, कंक, कौआ, गीध, क्रौंच और वीचिरल्ल पक्षी की चर्बी अथवा उनके वीर्य को पैर या जूते में लेप करके मनुष्य बिना थके सौ योजन (400 कोस) पैदल चल सकता है। सिंह, व्याघ्र, गैंडा, कौआ तथा उल्लू की चर्बी या वीर्य का पूर्ववत् व्यवहार करके भी मनुष्य बिना थके सौ योजन पैदल जा सकता है।

अनिष्टैरद्भुतोत्पादैः परस्योद्वेगमचरेत्।
अराज्यायेति निर्वादः समानः कोप उच्यते॥

इस तरह अनेकानेक अनिष्टकारी तथा अद्भुत उपायों से शत्रु को बेचैन कर दे। उपर्युक्त कार्य शत्रु के राज्य में अराजकता या तहलका मचा देने के लिये पर्याप्त हैं। यद्यपि ये कार्य निन्द्य हैं,

तथापि कोप तथा हलचल के समय शत्रु और विजिगिषु- दोनों ही पक्षों के लिये समानभाव से उपादेय हो सकते हैं।

इसके पश्चात् भैषज्यमन्त्रप्रयोग नामक प्रकरण में आचार्य इस प्रक्रिया को अगले स्तर पर ले जाते हैं। इस प्रकरण में शत्रु को धोखा देने के लिये विविध औषधियों और मन्त्रों के प्रयोग की विधि बतायी जा रही है, उनमें से सर्वप्रथम औषधियों का निरूपण किया जा रहा है। यथा-

''मार्जारोष्ट्रवृकवराहश्वाविद्वागुलीनप्तृकाकोलूकानामन्येषां वा निशाचराणां सत्त्वानामेकस्य द्वयोर्बहूनां वा दक्षिणानि वामानि चाक्षीणि गृहीत्वा द्विधा चूर्णं कारयेत्। ततो दक्षिणं वामेन वामं दक्षिणेन समभ्यज्य रात्रौ तमसि च पश्यति।''[19]

अर्थात्- ''बिलार, ऊँट, भेड़िया, सुअर, श्वावित् (साही), बगुली, नप्ता, कौआ, उल्लू तथा रातमें घूमनेवाले अन्यान्य पशुओं में से एक, दो अथवा बहुतेरे पशुओं की दाहिनी और बायीं आँखें लेकर उनको अलग-अलग कूटकर पीस ले। आवश्यकता पड़ने पर उनमें से बायीं आँख का चूर्ण दाहिनी आँख में और दायीं आँख का चूर्ण बायीं आँख में लगा ले तो वह रात के समय अँधेरे में भी देख सकता है।

एकाम्लकं वराहाक्षि खद्योतः कालशारिवा।
एतेनाभ्यक्तनयनो रात्रौ रूपाणि पश्यति।।[20]

बड़हर, शूकर की आँख, जुगनू तथा काला सरिवन- इन सबका अञ्जन बनाकर लगानेवाला पुरुष रात के अँधेरे में भी मनुष्य का रूप भली-भाँति देख सकता है।

''त्रिरात्रोपोषितः पुष्ये शस्त्रहतस्य शूलप्रोतस्य वा पुंसः शिरःकपाले मृत्तिकायां यवानावास्याविक्षीरेण सेचयेत्, ततो यवविरूढमालामाबध्य नष्टच्छायारूपश्चरति। त्रिरात्रोपोषितः पुष्येण श्वमार्जारोलूकबागुलीनां दक्षिणानि वामानि चाक्षीणि द्विधा चूर्णं कारयेत्। ततो यथा स्वमभ्यक्ताक्षो नष्टच्छायारूपश्चरति। त्रिरात्रोपोषितः पुष्ये पुरुषघातिनः काण्डस्य शलाकामञ्जनीं च कारयेत्, ततोऽन्यतमेनाक्षिचूर्णेनाभ्यक्ताक्षो नष्टच्छायारूपश्चरति।''[21]

अर्थात्- 'शस्त्र से मारे गये अथवा शूली पर चढ़ाये हुये पुरुष की खोपड़ी में मिट्टी डालकर तीन दिन तक उपवास किये हुये मनुष्य के द्वारा पुष्य नक्षत्र में उसमें जौ बोया जाये तथा भेड़ के दूध से उसे सींचे। कुछ दिन बाद उस खोपड़ी में उगे जौ के अङ्कुरों की माला पहनकर विचरनेवाले मनुष्य का न रूप और न ही छाया ही किसी को दिखती है। इसी प्रकार तीन रात्रि उपवास करके कोई पुरुष पुष्य-नक्षत्र में कुत्ते, बिडाल, उल्लू तथा बगुले की दायीं तथा बायीं आँख का अलग-अलग चूर्ण बनाकर रख ले। तदनन्तर अपनी दाँयीं आँख में दाहिनी आँखों का चूर्ण तथा बायीं आँख में बायीं आँखों का चूर्ण लगाये, तो भी उस मनुष्य की छाया व रूप को कोई दूसरा मनुष्य नहीं देख सकता। इसी प्रकार तीन रात्रि उपवास करके कोई मनुष्य पुष्य नक्षत्र में प्राणघातक लौह-बाण लेकर उससे एक सलाई और अञ्जनपात्र बनवा ले। पुनः उपरोक्त विडाल, उल्लू आदि में से किसी एक की आँखों के चूर्ण उसी अञ्जनपात्र में रखकर तथा उसी सलाई से पूर्ववत् अपनी आँखों में लगाकर विचरण करे, तो अन्य व्यक्ति न उसका रूप न ही उसकी छाया ही देख पायेगा।'

उपर्युक्त प्रकरण में आचार्य ने इसी प्रकार अन्तर्धान (अलक्षित) होने के आठ योगों का निरूपण किया है। इसके आगे आचार्य निद्रायोग के नुस्खों का वर्णन करते हैं-

त्रिरात्रोपोषितः कृष्णचतुर्दश्यां पुष्ययोगिन्यां श्वपाकीहस्ताद्विलखावलेखनं क्रीणीयात्। तन्माषैः सह कण्डोलिकायां कृत्वा असंकीर्णे आदहने निखानयेत्। द्वितीयस्यां चतुर्दश्यामुद्धृत्य कुमार्या पेषयित्वा गुलिकाः कारयेत्। तत एकां गुलिकामभिमन्त्रयित्वा यत्रैतेन मंत्रेण क्षिपति, तत्सर्वं प्रस्वापयति।

अर्थात्- 'तीन रात्रि तक उपवास करके पुष्ययुक्ता कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि को किसी चाण्डाली के हाथ से धरती खोदनेवाले मूषक के माँस का टुकड़ा खरीदे। तत्पश्चात् उसे उड़द के साथ किसी पेटिका में रखकर श्मशान में गाड़ दे। उसके बादवाली चतुर्दशी तिथि में उसे निकालकर किसी कुमारी कन्या के हाथ से पिसवाये व उसकी गोली बनाले। तदनन्तर उसे मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करके फिर उसी मन्त्र का जाप करते हुये वह गोली जहाँ फेंकी जायेगी, उस स्थान पर उपस्थित समस्त लोग गाढ़ी निद्रा में सो जायेंगे।

इसमें आचार्य सर्वप्रथम अभिमन्त्रण के मन्त्र को बतलाते हैं-

बलिं वैरोचनं वन्दे शतमायं च शम्बरम्।
भण्डीपाकं नरकं निकुम्भं कुम्भमेव च।।

देवलं नारदं वन्दे वन्दे सावर्णिगालवम्।
एतेषामनुयोगेन कृतं ते स्वापनं महत्।।

यथा स्वपन्त्यजगराः स्वपन्त्यपि चमूखलाः।
तथा स्वपन्तु पुरुषाः ये च ग्रामे कूतूहलाः।।

भाण्डकानां सहस्त्रेण रथमिशतेन च।
इमं गृहं प्रवेश्यामि तूष्णीमासन्तु भाण्डकाः।।

नमस्कृत्वा च मनवे बद्धवा शुनकफेलकाः।
ये देवाः देवलोकेषु मानुषेषु च ब्राह्मणाः।।

अध्ययनपारगाः सिद्धा ये च कैलासतापसाः।
एते च सर्वसिद्धेभ्यः कृतं ते स्वापनं महत्।।

अतिगच्छति च मय्यपगच्छन्तु संहताः।
अलिते पलिते मनवे स्वाहा।।[22]

भावार्थ = ''विरोचनपुत्र बलि, मायावी शम्बरअसुर, भण्डीपाक, नरकासुर, निकुम्भ और कुम्भ की मैं वन्दना करता हूँ। देवल, नारद तथा सावर्णिगालव की वन्दना करता हूँ। इन सब देवताओं व दानवों की सहायता से मैं आपसब शत्रुओं के लिये महान् निद्रायोग का आयोजन कर रहा हूँ। जैसे अजगर, सर्प और सेना में खल-सैनिक सोते हैं, ग्राम में जो सैकड़ों भाण्ड और सहस्त्रों रथनेमि लेकर कुतूहलसम्पन्न लोग सोते हैं, वैसे ही ये पुरुषगण (शत्रु) भी सो जायें। मैं इस घर में प्रवेश कर रहा हूँ, इसमें रखे सभी बर्तन-भाण्ड निःशब्द हो जायें। .....हे अलिते! हे पलिते! मनवे स्वाहा ।''

इसी विधि से तीन स्थान पर कृष्णवर्ण और तीन स्थान पर श्वेतवर्ण वाला साही का काँटा पुष्ययुक्ता चतुर्दशी को किसी खुले श्मशान में गाड़ दे। दूसरी चतुर्दशी को निकालकर उपर्युक्त मन्त्र पढ़ता हुआ श्मशाान की भस्म के साथ उस काँटे को जहाँ फेंक दिया जाये, वहाँ के सब लोग गाढ़ी निद्रा के वशीभूत हो जायेंगे।

अब द्वार खोलने के योगों का निरूपण किया जा रहा है-

उपैमि शरणं चाग्निं दैवतानि दिशो दश।
अपयान्तु च सर्वाणि वशतां यान्तु मे सदा।।- स्वाहा[23]

अर्थात्- ''मै अग्निदेवता तथा दशदिशाव्यापी समस्त देवताओं की शरण गहता हूँ। मेरे सब विघ्न दूर हों और सब लोग मेरे वश में हो जायें। स्वाहा।।''

कौटिल्य के अनुसार इस मन्त्र के प्रयोग की विधि यह है कि- तीन रात्रि उपवास करके कोई व्यक्ति जिस दिन पुष्यनक्षत्र हो, उस रोज शर्कराओं (पाषाण की छोटी-छोटी छर्रियों) को जुटाकर तथा इन्हीं पर आग रखकर उसमें मधु और घृत की इक्कीस आहुतियाँ दे। तदनन्तर उन छर्रियों का चंदन और पुष्प-माल्य से पूजन करके उन्हें मिट्टी में गाड़ दे। अगले पुष्य नक्षत्र के आने पर उन्हें निकालकर, एक छर्री को उपर्युक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करके किसी किवाड़ पर मारे। इस प्रकार चार छर्रियों के आघात से उस किवाड़ में चार छर्रियों के परिमाण जितना बड़ा छेद हो जायेगा जिससे द्वार खोलना सरल हो जायेगा।

उपर्युक्त इस प्रकार के अन्य कई योग बताने के पश्चात् आचार्य कहते हैं कि-

मन्त्रभैषज्यसंयुक्ता योगा मायाकृताश्च ये।
उपहन्यादमित्रांस्तैः स्वजनं चाभिपालयेत्।।[24]

अर्थात्- ''मन्त्र और औषधी से युक्त एवं माया द्वारा किये जाने योग्य जो-जो योग बताये गये हैं, उन सबके द्वारा विजिगीषु राजा, शत्रुओं का नाश करके स्वजनों का पालन करे।''

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. कुलार्णवतन्त्र
2. महाविश्वसार तन्त्र
3. विष्णुयामल तन्त्र
4. नित्यातन्त्र
5. यज्ञवल्क्य,1/5
6. श्रीमद्भागवत 4/2
7. यज्ञवल्क्य,1/179
8. यज्ञवल्क्य,1/180
9. यज्ञवल्क्य,1/272-73
10. यज्ञवल्क्य,1/274-76
11. यज्ञवल्क्य,1/277-80
12. कौटिलीय अर्थशास्त्र,14/1(परघातप्रयोगः)
13. कौटिलीय अर्थशास्त्र, तत्रैव
14. तत्रैव
15. तत्रैव
16. तत्रैव
17. कौटिलीय अर्थशास्त्र,14/2(अद्भुतोत्पादनम्)
18. तत्रैव श्लोक 2-3
19. कौटिलीय अर्थशास्त्र,14/2
20. तत्रैव
21. कौटिलीय अर्थशास्त्र,14/3
22. कौटिलीय अर्थशास्त्र,3/178
23. तत्रैव
24. तत्रैव श्लोक 2-7
25. तत्रैव श्लोक 16
26. तत्रैव श्लोक 24

श्रुतज्ञान का स्वरूप

जोगेन्द्र मित्र एवं प्रो0 अशोक कुमार जैन***

आगम साहित्य में ज्ञान सम्बन्धी जो मान्यताएँ प्राप्त होती हैं वे अत्यधिक प्राचीन है। राजप्रश्नीय सूत्र में केशीकुमार श्रमण राजा प्रदेशी को कहते हैं कि हम श्रमण निर्गन्थ पाँच प्रकार के ज्ञान मानते हैं- (1) अभिनिवोधिकज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मनःपर्ययज्ञान, (5) केवलज्ञान।

एवं खु पएसी! अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहोनाणे पण्णत्ते। तं जहा

आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

राजप्रश्नीय सूत्र 165

इन पाँच प्रकार के ज्ञानों का वर्णन जैन आगमों में मिलता है इनमें श्रुत ज्ञान दूसरे स्थान पर है। मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है श्रुतज्ञान होने के लिए शब्द-श्रवण आवश्यक है। शब्द श्रवण मति के अन्तर्गत है क्योंकि वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द-श्रवण रूप जो प्रवृत्ति है वह मतिज्ञान है, उसके पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान का अन्तरंग कारण तो श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका बहिरंग कारण है। मतिज्ञान होने पर भी यदि श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं हुआ तो श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ-वह ज्ञान जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्बन्ध हो। आप्तपुरुष द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतं मति पूर्वं तत्त्वार्थ सूत्र 1/20

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् मतिज्ञान के निमित्त से श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम पाँच इन्द्रिय और मन इनमें से किसी एक के निमित्त से किसी भी विद्यमान वस्तु का मतिज्ञान होता है। तदनन्तर इस मतिज्ञान पूर्वक जानी गई वस्तु के विषय में या उसके सम्बन्ध में विशेष चिन्तन आरम्भ होता है। यह श्रुतज्ञान कहलाता है। मन का विषय श्रुत है और श्रुत का अर्थ शब्द संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से आरम्भ होता है। पदार्थका संबंध होते ही पदार्थ को जान लेता है। अतः इसे व्यंजनावग्रह की आवश्यकता नहीं होती है। इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होता है और मन शब्द संकेत आदि के माध्यम से श्रुत को ग्रहण करता है। शब्द कान द्वारा सुनाई पड़ता है पर अर्थबोध मन द्वारा होता है। गाड़ी का सिग्नल डाउन होना यह चक्षुका विषय है पर यह किस बात का संकेत करता है इसे चक्षु नहीं जानती है। इसके संकेतों को समझना मन का कार्य है और यही श्रुतज्ञान का विषय है। वस्तु के सामान्यरूप के ग्रहण के अनन्तर ज्ञानावरण का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द अर्थ का सम्बन्ध पूर्वापर का अनुसंधानविकल्प एवं विशेष धर्मो का पर्यालोकन नहीं होता। ईहा के पश्चात् चिन्तन की प्रक्रिया आरम्भ होती है और यह अन्तर्जल्पाकार ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मनोमूलक अवग्रह के पश्चात् होने वाले ईहादि मनके होते हैं। मन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का साधन है। यह श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को भी जानता है। साथ ही शब्द का सहारा लिए बिना शुद्ध अर्थ को भी जानता है। साधारणतः अर्थाश्रयी ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों को होता है। शब्दाश्रयी केवल मन को ही होता है। अतः स्वतन्त्र रूप में ''श्रुत'' मन का विषय है।

श्रुतज्ञान का स्वरूप- श्रुत का अर्थ-'सुना हुआ अथवा ध्यान लगाकर श्रवण किया हुआ। एक अन्य निरुक्ति के अनुसार 'जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र' श्रुत कहलाता है-

श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्। सर्वार्थसिद्धि 1/9 पृ0 94

जो गुरुमुख से सुना जाए, वह श्रुत है। इस दृष्टि से समस्त भारतीय वाङ्मय जैनागमादि श्रुत अथवा श्रुति ही हैं। इन्हीं को आप्त वचन भी कहा गया है। गुरु हो अथवा देव, चाहे विद्या विशारद पंड़ित यदि वह दोषों एवं क्लेशों से रहित है और समस्त चराचर जगत् को जो हथेली पर रखे हुए आवले की भाँति युगपत् देखता व जानता है तो ऐसा प्रचुर आनन्द की धारा विश्वस्त व्यक्ति ही आप्त है। आप्त वचन कभी मिथ्या नहीं होते। अरिहन्त, तीर्थकरों एवं केवली भगवन्तों को ही जैन आप्त-पुरुष मानते हैं। प्रत्येक काल में भरत क्षेत्र में ऐसे आप्त पुरुष संख्या में चौबीस ही स्वीकार किये गए हैं। वर्तमान में चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा हैं। भगवान् महावीर स्वामी आप्त पुरुष हैं।

* कनिष्ठ शोध अध्येता, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

* * प्रोफेसर, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उनके उपदेश उनके शिष्य गणधरों ने श्रमण किए और गणधरों से उनके शिष्यों ने इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्यों के श्रवण द्वारा प्रवर्तित होने वाली भगवान् महावीर स्वामी के देशना वाणी को श्रुत कहा गया है-

इन्हीं श्रुतरूप आगम-ग्रन्थों का यथार्थ तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान इन्द्रियों की सहायता से ही होता है। इसमें अतीन्द्रिय मन का अधिकाधिक योग रहता है। इसी कारण इसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहते हैं।

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्तिगणहरा णिउणं।
सासणस्य हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई ॥

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा, 93

इंदियमणोणिमित्तं जं विष्णाणं सुताणुसारेणं।
णिअयत्थुत्ति समत्थं तं भावसुतं मती सेसं॥

विशेषावश्यक भाग 5 गाथा 99

श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर, मन एवं इन्द्रिय की सहायता से अपने में नियत के अर्थ का प्रतिपादक ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। इसी का समर्थन करते हुए अन्य आचार्यों ने भी कहा है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर नाना पदार्थों के समीचीन स्वरूप का निश्चय करा सकने वाला अस्पष्ट ज्ञान को ''श्रुत'' बतलाया गया है।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है कि श्रुतज्ञान की उपलब्धि के बिना विशुद्ध एवं विशद चरित्र रूप कल्याणकारी मार्ग की आराधना नहीं हो सकती-

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

4/11दशवैकालिक सूत्र

सुयस्स आराहण माएणं अन्नाणं खवेइ,
न य संकिलिस्सइ

उत्तराध्ययनसूत्र 29/25

अर्थात् श्रुतज्ञान की आराधना करने वाला जीव अज्ञान का क्षय करके ज्ञान को प्रकट करता है तथा वही सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न भव्य संसार में कहीं भी संकलेश को धारण नहीं करता, अपितु समाधि अर्थात् परम शान्ति का लाभ प्राप्त करता है श्रुतज्ञान को 'अप्रत्यक्ष केवल ज्ञान ही कह देते है-

नाणमेगग्गचित्तो अ, ठिओ अ ठावयई परं।
सुआणि अ अहिज्झित्ता, रओ सुअसमाहिए॥

9/3दशवैकालिक

आप्तमीमांसा में केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों के समान रूप से प्रकाशक हैं। यदि दोनों में कुछ अन्तर है तो वह मात्र प्रत्यक्ष और परोख का-

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्चह्यावस्तत्वन्यतमं भवेत्।

पृ0 109, आप्तमीमांसा

आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं-

अत्यादो अत्यंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं।
अभिणिवोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥315॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

मतिज्ञान के द्वारा निश्चित अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को जानने वाले जीव के ज्ञान को, जो श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ है, मुनीश्वर श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से अभिनिबोधिक पूर्वक है अर्थात् अभिनिबोधिक यानी मतिज्ञान उसका कारण है। मतिज्ञानावरण के क्षमोपशम से पहले मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है। पश्चात् उससे गृहीत अर्थ का अवलम्बन लेकर उसके बल से अन्य अर्थ को विषय करने वाला श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है; अन्य प्रकार से नहीं। नियम शब्द से यह अवधारणा किया गया है कि मतिज्ञान की प्रवृत्ति के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं होता। इस श्रुतज्ञान के प्रकरण में श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक या शब्दजन्य और लिंगजन्य भेदों में से वर्णपदवाक्यात्मक शब्द से होने वाला श्रुतज्ञान प्रमुख है प्रधान है, क्योंकि देन-लेन, शास्त्र का अध्ययन आदि समस्त व्यवहार का मूल वही है। अनक्षरात्मक अर्थात् लिंगजन्य श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में विद्यमान रहते हुए भी व्यवहार में उपयोगी न होने से अप्रधान होता है-'श्रुयते' अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह श्रुत अर्थात् शब्द है। उससे उत्पन्न अर्थज्ञान श्रुतज्ञान है। इस व्युत्पत्ति से भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञान की प्रधानता लक्षित होती है। अथवा 'श्रुत' यह रूढ़ि शब्द है पर आगम में मतिज्ञान पूर्वक होने वाले अन्य अर्थ के ज्ञान को कहने में रूढ़ है फिर भी यथा योग्य निरुक्ति होती है। रूढ़ि शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ते।

जैसे कुश को जो लाता है, वह कुशल है इस प्रकार कुशल आदि शब्द चतुर आदि अर्थों में रूढ़ है, फिर भी उनकी व्युत्पत्ति उसी प्रकार की जाती है। इसी प्रकार श्रुत के सम्बन्ध में जानना। 'जीव है' ऐसा कहने पर यह जो शब्द का ज्ञान होता है 'कि जीव है', यह श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान है।

इस शब्द के वाच्यरूप आत्मा के अस्तित्व में वाच्यवाचक सम्बन्ध के संकेत ग्रहणपूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, क्योंकि अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कार्य में कारण का उपचार किया है तथा वायु के शीत स्पर्श के ज्ञान से वात प्रकृति वाले मनुष्य को जो उसके स्पर्श में

'यह मेरे लिए अनुकूल नहीं है ऐसा जो ज्ञान होता हैं वह अनक्षरात्मक लिंगजन्म श्रुतज्ञान है क्योंकि वह शब्दपूर्वक नहीं हुआ है।

श्रुतज्ञान का विषय- नन्दीसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से श्रुतज्ञान का विषय बतलाया गया है कि द्रव्य से श्रुतज्ञानी उपयोग लगाकर सर्व द्रव्यों को जानता-देखता है। क्षेत्र से श्रुतज्ञानी उपयोग लगाकर सम्पूर्ण क्षेत्र को जानता देखता है। यहाँ उत्कृष्टता की अपेक्षा से ही ऐसा वर्णन किया गया है। श्रुतज्ञान से जानना तो स्पष्ट ही है, किन्तु देखना चित्र आदि की अपेक्षा समझना चाहिए। कई द्रव्य आदि को श्रुतज्ञानी प्रत्यक्ष मे होने से देखता भी है।

श्रुतज्ञानी द्रव्यों की कितनी पर्यायों को विषय कर सकता है इसे स्पष्ट करते हुए राजवार्तिक में कहा है।सभी शब्द संख्यात ही हैं और द्रव्यों का पर्याय में संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद वाली हैं। अतः संख्यात शब्द अनन्त पदार्थों की स्थूल पर्यायों को ही विषय कर सकते हैं, सभी पर्यायो को नहीं।

यदि विचार किया जाए तो संसार में देखने और जानने योग्य एकमात्र आत्मा ही सारभूत तत्त्व है। देखने जानने के स्वभाव वाला भी यही है। आत्मा का स्वरूप स्व पर प्रकाशक है क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है-**णाणं अप्पा।** इसका कार्य स्व अपने को और पर अपने से इतर रागादि भावों को यथार्थ रूप में जानना और देखना है। 'पर' में कुछ करना अथवा रागादिभाव करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, यही बात जानना श्रुतज्ञान का अभीष्ट विषय है। इस प्रकार भेद विज्ञान वा विवेकज्ञान की यह श्रुतज्ञान आधारशीला है।

श्रुतज्ञान के भेद- जैन दर्शन में द्रव्य एवं भाव की दृष्टि से श्रुतज्ञान दो प्रकार का बतलाया है। प्रथम द्रव्य श्रुत जिसके अन्तर्गत आचारांग आदि बारह अंग उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व ओर सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक स्वरूप आगमज्ञानादि। 'अंग सूत्रों की रचना करने से पहले गणधरों को जो ज्ञान होता है, वह 'पूर्व' ज्ञान कहलाता है। ये चौदह हैं और इसके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान भावश्रुत है यह दूसरा श्रुतज्ञान है।

आचार्य नेमिचन्द्र श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेदों को कहते हैं-

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
बेरूवछट्ठवग्गपमाणं रुऊणमक्खरगं ॥ 316॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और अपर्याय समास दो भेद हैं। इसमें सर्व जघन्य ज्ञान से लेकर अपने उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लोक प्रमाण ज्ञान के भेद होते हैं वे भेद असंख्यात लोकमात्र बार षट्स्थानपतित वृद्धि को लिये हुए हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं। सो द्विरूप वर्गधारा में उत्पन्न छठे वर्ग का जिसका प्रमाण एकट्ठी है, उसके प्रमाण में-से एक कम करने पर जितने अपुनरूक्त अक्षर होते हैं; उतने हैं। इसका आशय यह है कि विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के लिए पुनरुक्त अक्षरों के ग्रहण करने पर उससे अधिक प्रमाण हो जाता है।

यहाँ पण्णट्ठी अपुनरुक्त अक्षर का अर्थ, पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस है को पण्णट्ठी कहते हैं। इसका वर्ग बादल और बादल का वर्ग एकट्ठी होता है, यही छठा वर्गस्थान है। इससे एक कम करने पर श्रुतज्ञान के समस्त अपुनरुक्त अक्षर होते हैं उतने ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं। दो गाथाओं में अन्य प्रकार के श्रुतज्ञान के भेद कहते हैं-

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणि जोगं च।
दुगवार पाछुडं च य पाछुऽयं वत्थु पुव्वं च॥ 317॥

तेसिं च समासेहि य वीसविधं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्य वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति॥ 318॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृत प्राभृतक, वस्तु, पूर्व ये दस भेद होते हैं। इनके दस समास मिलाने से श्रुतज्ञान के बीस भेद होते हैं-अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, प्राभृतक प्राभृतकसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास वस्तु, वस्तुसमास, अनुपयोग, अनुपयोगसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिवसमास, पूर्व, पूर्वसमास यह उनके आलापका क्रम है। यहाँ अक्षरादि के द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का ज्ञानरूप जो भावश्रुत है, उसकी विवक्षा होने से उनके बीस ही होने में हेतु कहते हैं कि श्रुतज्ञानावरण के भेद भी बीस ही होते हैं। यहाँ 'इति' शब्द हेतु के अर्थ में है। इसलिए श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं-

णवरि विसेसं जाणे सुहुमजहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्भि॥ 319॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

यह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव को होता है और इतना ज्ञान हमेशा निरावरण रहता है। यदि उस पर भी आवरण पड़ जाए तो ज्ञानोपयोग का सवर्था अभाव हो जाएगा और ज्ञानोपयोग के अभाव से जीव का अभाव हो जाएगा।

अवरूवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीओ।
संखमसंखमणंतं गुणवड्ठी होंती हु कमेण॥323॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

जब यह पर्याय ज्ञान पर्याय ज्ञान के अनन्तवे भाव के साथ मिल जाता है तब यह पर्याय नामक श्रुतज्ञान कहलाता है यह आवरण सहित है यह ज्ञान अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि तथा अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि एवं संख्यातभाग हानि से सहित है पर्याय ज्ञान के ऊपर संख्यातगुणवृद्धि,

असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि के क्रम से वृद्धि होते होते जब तक अक्षर ज्ञान पूर्णता होती है तब तक का ज्ञान पर्याय समाज ज्ञान कहलाता है।

पर्याय समास ज्ञान के बाद अक्षर ज्ञान प्रारम्भ होता है। उसके ऊपर पद ज्ञान तक एक-एक अक्षर की वृद्धि होती है। इस वृद्धि प्राप्त ज्ञान को अक्षर समास ज्ञान कहते हैं।

अक्षरसमास ज्ञान के बाद पदज्ञान होता है। पद तीन प्रकार का है-अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यमपद, एक से सात अक्षर तक का पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षर रूप प्रमाणपद होता है। मध्यमपद में सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अट्ठासी अक्षर होते हैं। अंग तथा पूर्वो के पद की संख्या इसी मध्यपद से होती है। एक अक्षर की वृद्धि कर पद समास से लेकर पूर्व समास पर्यन्त समस्त द्वादशांग श्रुत स्थित है।

शब्दलिंगज श्रुतज्ञान के दो भेद- (1) लौकिक,(2) लोकोत्तर

(1) सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से उत्पन्न ज्ञान लौकिक शब्द लिंगज श्रुत ज्ञान है।

(2) असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान लोकोत्तर शब्दलिंगज श्रुतज्ञान कहलाता है। इसके भी आगे दो भेद-स्वीकार किये गये हैं अंग बाह्य व अंग प्रविष्ट।

द्वयनेक द्वादशभेदम् । 1/20 तत्त्वाथसूत्र।

अर्थात् इस सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने श्रुतज्ञान के भेद कहे हैं। वह श्रुतज्ञान दो प्रकार का अनेक प्रकारका और बारह प्रकार का है।

अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये दो भेद हैं। तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी दिव्य ध्वनि से प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांग रूप में कथन गणधरों के द्वारा किया गया है। वह श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है और जो श्रुत अन्य शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा रचा गया है वे अंगबाह्य है। इनमें प्रथम अंग्रप्रविष्ट के 12 भेद हैं तथा द्वितीय अंगबाह्य के अनेक भेद हैं-1. आचाराग 2. सूत्रकृताग 3. स्थानांग 4. समवायंग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति 6. ज्ञातृधर्मकथा 7. उपासकाध्ययन 8. अन्तःकृदश, 9. अनुत्तरौपपादिकदशा 10. प्रश्नव्याकरण 11. विपाकसूत्र 12. दृष्टिवाद ये 12 अंग हैं।

1. **आचारांगसूत्र** में निर्ग्रथ एवं निर्ग्रथिनियों के आचार का वर्णन हैं। इसमें दो श्रुतस्कधं है। प्रथम श्रुत स्कन्ध में आठ और द्वितीय श्रुतस्कंध में सोलह अध्याय है द्वितीय श्रुतस्कंध में महावीर के जीवन चारित्र का वर्णन है। आचारांगसूत्र सभी सूत्रों से प्राचीन है।

2. सूत्रकृतांग में साधुओं की चर्या और अहिंसा आदि का वर्णन है तथा क्रियावादी अक्रियावादी वैनयिक अज्ञानवादी आदि' अनेक मतो की समीक्षा के साथ ब्राह्मणो के ''यज्ञ-याग'' आदि का निषेध की गई है। इस अंग का ऐतिहासिक महत्व है। दिगम्बरो के अनुसार इसमे ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना आदि व्यवहारधर्म की क्रियाओं का वर्णन है।

3. **स्थानांग** इसमें द्रव्यों के स्वरूप आदि का विस्तार से वर्णन है।

4. समवायांग एक से लेकर कोड़ा-कोड़ि स्थान तक की वस्तुओं का वर्णन है तथा बारह अंग तथा चौदह पूर्वों का भी वर्णन है। इसमें अट्ठारह प्रकार की लिपि उन्तीस पापश्रुत उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्यायोंसहित नन्दीसूत्र का उल्लेख है तथा दिगम्बरों के अनुसार इसमें द्रव्य क्षेत्र काल-भाव के अनुसार पदार्थो के सादृश्य का (समवाय) कथन है।

5. **भगवतीसूत्र** में एकतालिस शतक है नन्दी सूत्र का भी उल्लेख इसमें मिलता है तथा भगवान् महावीर तथा गौतम इन्द्रभूति के बीच होने वाला प्रश्नोत्तरो का वर्णन है तथा इस पर अभय देव ने टीका लिखे है जिसमें छत्तीस हजार प्रश्न किये गये हैं। साथ ही भगवान्महावीर का जीवन प्रवृत्ति, शिष्योंतथा अतिशय आदि विषयों का विषद वर्णन है। अन्त में पार्श्वनाथ जामालि और गोशाल मक्खलिपुन्त के शिष्यों का वर्णन है तथा सोलह जनपदो का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

6. ज्ञातृधर्मकथा को सस्कृत में ज्ञातृधर्मकथा या (न्यायधर्मकथा) नाथ धर्मकथा तथा प्राकृत में णायाधम्मकहा कहा जाता है। इसमें दोश्रुतस्कन्ध है प्रथम में उन्नीस अध्याय है तथा द्वितीय में दस अध्याय है।

7. उपासक दशा इसमें दस अध्यायों में महावीर के दस उपासकों के आचार का वर्णन है। तथा इसके सातवें अध्याय में गोशाल 'मक्खलिपुत्त के अनुयायी सद्दालपुत्त की कथा का वर्णन है। सद्दाल आगे चलकर महावीर का अनुयायी हो गया था। इसमें आजातशत्रु राजा का भी उल्लेख है।

8. **अन्तकृद्दशा** में दस अध्यायों में मोक्षगामी साधु और साध्वियों का वर्णन है। दिगम्बर ग्रन्थों को इस अंग में प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थ में दारूण उपर्सग सहकर मोक्ष प्राप्त करने वाले दस मुनियों का वर्णन है।

9. अनुन्तरोपपादिकदशा में अगुन्तर विमानो को प्राप्त करने वाले दस मुनियों का वर्णन है।

10. प्रश्नव्याकरण में पाँच आश्रवद्वार और पाँच संवरद्वारों का वर्णन है।

11. विपाकसूत्र इसमें बीस अध्याय है। महावीर मनुष्यों के सुख दुःख के विपाक का वर्णन करते हैं। इनमें दस पुण्य फल और दसपाप फल की कथाओं का विस्तृत वर्णन है।

12. दृष्टिवाद में दर्शनों के 363 मतों का वर्णन है।

अंगबाह्य के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषिद्धिका ये गणधर द्वारा रचे गये अंगबाह्यश्रुत के इतने तथा उनके शिष्यों और प्रशिष्यों द्वारा जिन षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, समयसार आदि शास्त्रों की रचना की गई है वे सब अंगबाह्य है जो बहुत है।

नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान को चौदह प्रकार का बतलाया गया है। अक्षर-अनक्षर, संज्ञी-असंज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादिक, अनादिक, सपर्यवसित, अपर्यवसित, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य आदि।

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरि साणि होंति बाहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवल णाणं ॥ 369॥

गोम्मटसार जीवकाण्ड

श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ज्ञान समस्त वस्तुओं के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने-की अपेक्षा समान हैं, किन्तु इतना विशेष है कि परम उत्कर्ष पर्यन्तको प्राप्त भी श्रुतज्ञान समस्त पदार्थो में परोक्ष होता है अस्पष्ट जानता है, अमूर्त अर्थ पर्यायों में तथा अन्य सूक्ष्म अंशों में स्पष्ट रूप से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। मूर्त भी व्यंजक पर्यायों को अपने विषयों के स्थूल अंशको अवधिज्ञान की तरह साक्षात्कार करने में असमर्थ है, किन्तु समस्त ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान पूर्ण रूप से स्पष्ट होती है। मूर्त अमूर्त, अर्थ-पर्याय, व्यंजनपर्याय, स्थूल अंश, सूक्ष्म अंश सभी में उसकी प्रवृत्ति है और सभि को साक्षात् जानता है। अक्ष अर्थात् आत्मा से ही जो ज्ञान होता है, जो पर की अपेक्षा नहीं करता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। उपान्त इन्द्रियादि और अनुपात्त प्रकाशादि परकारणों की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार निरुक्ति से सिद्ध लक्षणों के भेद से श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में समानता नहीं है। स्वामी समन्तभद्र ने भी अपने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में कहा है-

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व तत्त्वों के प्रकाशक हैं, किन्तु भेद यही है कि केवलज्ञान साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। जो इन दोनों ज्ञानों में से एकका भी विषय नहीं है, वह अवस्तु है।

अतः सामान्य जन, मानव के लिए केवल ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है, परन्तु आज का समाज तथा मानव श्रुतज्ञान का अलम्बन लेकर अपना कुशल जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः वर्तमान परिवेश में श्रुतज्ञान का अपना विशेष महत्व है।

●

शिवशक्तितत्त्व : दार्शनिक मूल्य एवं सामाजिक उपयोगिता

डॉ0 मिथिलेश पाण्डेय[*]

''नमः परमदेवाय नमः परम हेतवे, नमः शिवाय शान्ताय। नमः शिवतराय ते।

सदाशिवाङ्कमारुढा शक्तिरिच्छा शिवाह्वया
जननी सर्वलोकानां प्रयच्छतु-मनोरथम्॥''

शिव आत्म-चेतना संवलित शक्ति समवेत स्रष्टा, सक्रिय एवं विश्व का मूल है- **'चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः'**[1]

इसी प्रकार 'शक्ति' 'शिव' की स्वसमवायिनी एवं अभिन्न पराशक्ति रूप वह उर्जांश है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई मानी जाती है- **'न शिवेन बिना देवी न देव्या च बिना शिवः।'**[2]

शिव ही समस्त विद्या के मूल हैं। एकमात्र शिव ही शान्त, अन्तहीन, अच्युत, पर से भी पर, ज्ञानमय, विशेष, अद्वैत, (भेदरहित) अव्यक्त, अचिन्त्यरूप एवं सारतत्त्व हैं-

'एकं शिवं शान्तमनन्तमच्युतं परात्परं ज्ञानमयं विशेषम्'
अद्वैतमव्यक्तमचिन्त्यरुपं सारंत्वेकं नास्ति सारं तदन्यत्।''[3]

जगत् का स्रष्टा शिव है एवं जगत् शिव का स्पन्दन है- **'न साऽवस्था न यः शिवः'**[4]

कल्याण रूप शिव सर्वत्र व्याप्त हैं- **'सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।'**[5]

वेदों से लेकर पुराण, दर्शन, आगम, साहित्यादि में 'शिवशक्ति' तत्त्व की व्यापक मीमांसा प्राप्त होती है। लौकिक दृष्टि से भी 'शिव' देवों के देव महादेव के रूप में पूज्य हैं। द्वादशज्योतिर्लिङ्ग के रूप में अवस्थित इनकी आराधना लोक में प्रसिद्ध हैं। देवपक्ष हो या लोकपक्ष दोनो में ही 'शिवशक्ति' का स्वरूप कल्याणकारी हैं। सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाक्यानुसार सत्य एवं सुन्दर वह शिव ही हैं जो लौकिक जीवन की सत्यता एवं सुन्दरता को द्योतित करते हैं।

'शिवशक्ति' का शास्त्रसम्मत स्वरूप 'शिव' को परमतत्त्व एवं 'शक्ति' को उस परमतत्त्व की पराशक्ति के रूप में उद्भासित करता है। यह विश्व स्त्री पुरुष रूप है-

'स्त्रीपुंरुपमयं विश्वं'[6]

छः कोशरूप शरीर में आदि के तीन अंश माता के एवं अंतिम तीन अंश पिता से उत्पन्न हुए हैं-

'षट्कोशरूपः पिण्डो हि तत्र चाद्यत्रयम्भवेत'[7]

लोम (त्वक्) रक्त एवं मांस माता से, तथा नसें हड्डिया एवं मज्जा पिता से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार छः कोष प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते॥[8]

'सन् प्रकाशः' द्वारा परमात्मा में प्रकाशरूपता उसके पुरुषभाव को एवं 'चित्' शब्द स्त्रीभाव को सूचित करती है-

'निवर्त्तनं जगत्त्वस्य चिच्छब्देन विधीयते।
त्रिलिङ्गवर्ती सच्छब्दः पुरुषोत्र विधीयताम्॥'[9]

शिवपुराण में शिव की पाँच शक्तियाँ हैं- सर्वकर्तृत्वरुपा, सर्वतत्त्वरुपा, पूर्णत्वरुपा, नित्यत्वरुपा तथा व्यापकत्त्वरुपा।

कला, विद्या, राग, काल एवं नियति ये पाँच जीव की कलाएं हैं। जो उसके स्वरूप को आच्छादित करने वाला आवरण है। इसलिए 'पंचकंचुक' कहे गये इनके निवारण के लिए अन्तरंग साधन की आवश्यकता है-

'पंचकंचुकमाख्यातमंतरंगं च साधनम्'[10]

शिव अपनी शक्ति के संकोच से निर्गुण एवं शक्ति के विकास से सगुण हो जाते हैं, जिससे शिव को सकल-निष्कल भी कहते हैं।

जीवन के उद्गम एवं विकास का ऐसा कोई अंग नहीं है जो

* अतिथि अध्यापिका, वैदिक-दर्शन विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

1 प्र0ह0
2 प्र0ह0
3 (कालिकापुराण 28/4)
4 श0सू0
5 (श्वेता0 उ0 3/11)
6 कै0सं0अ0 16, 22वां श्लोक।
7 कै0सं0अ0 16, 24वां श्लोक।
8 सां0त0कौ0 39
9 कै0सं0अ0 16, 24वां श्लोक।
10 कै0सं0अ0 16, 26वां श्लोक।

मातृशक्ति एवं मातृभक्ति से उद्भासित न हुआ हो। वह माता के रूप में मानव के उत्पादन एवं संवर्धन के लिए सदैव आवश्यक रही है। स्वयं शक्ति ही ब्रह्मस्वरुपा हैं। शक्ति ही रुद्र, वसु, आदित्य एवं विश्वदेवता के रूप में विचरण करती हैं। शक्ति ही सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हैं, एवं अभीष्ट को प्राप्त कराने वाली हैं। वही सम्पूर्ण प्रपंचों में अनेक होकर विराजमान रहती हैं। जीवरूप शरीर में उसी की प्रविष्टि है तथा सर्वश्रेष्ठ रक्षक हैं। शक्ति आकाश एवं पृथ्वी से परे हैं।

'शिव' के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाली वह शक्ति सच्चिदानन्दरुपिणी हैं- **'तदीया परमाशक्तिः सच्चिदानंदलक्षणा'**[11] शक्ति शिव की स्फुरत्ता, उसका आत्मदर्पण एवं हृदय है। 'महेश्वरानंद' ने शक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है-

''यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपमर्थतत्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते।''[12]

परमेश्वर (शिव) की बाह्योन्मुख क्रिया ही शक्तितत्त्व है। महार्थमञ्जरीकार के अनुसार जब परमेश्वर अपने हृदयवर्ती अर्थतत्व को बाहर प्रकाशित करने के लिए उन्मुख होते हैं, वही उनकी बाह्योन्मुखी अवस्था शक्ति कही जाती है। शिव की जो स्वाभिन्ना स्वातन्त्र्य शक्ति है, उसे ही'त्रिकदर्शन में शक्ति की संज्ञा प्रदान की गयी है। परमशिव में शिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व का युगपत् स्फुरण होता है। दोनों में अभिन्न अविनाभाव सम्बन्ध है। 'शिव' चित् प्रधान है और 'शक्ति' आनन्द-प्रधान है। शक्ति शिव की अभिज्ञा हैं, पहचान है। शिव को अपने अहं का बोध कराने वाली सत्ता हैं। शक्ति शिव का मुख हैं- **'शैवी मुखमिहोच्यते।'**

शक्ति स्त्री-पुरूष आदि सभी लिङ्गो से परे है-

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीबं सर्गसंक्षये[13]

शक्ति मन्त्रों में मातृका, शब्दों में ज्ञानरूप से एवं ज्ञानों में चिन्मयातीता एवं शून्यों में शून्यसाक्षिणी एवं दुर्गा है-

''मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरुपिणी,
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।।''[14]

इस प्रकार एक ही परमशिव एक ओर से शिवतत्त्व हैं और दूसरी ओर से शक्तितत्व। शिवशक्ति तत्त्वों की स्थिति में ठहरने वाले प्राणी शिव व अकल कहलाते हैं। शिव, शक्ति सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्धविद्या ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। महामया को शुद्धविद्या के भीतर ही गिना जाता है। इनकी सृष्टि एवं संहार परमशिव ही करते रहते हैं।

'जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत' का श्रुतिनिर्देश अपने को जगाना है। अपनी सोती शक्ति को जगाना है, अपने अन्तःकरण चतुष्टय को जगाना है, तथा जागृत शक्ति के साथ परम जागृत एवं पूर्ण चैतन्य परमशिव के साथ समरसत्व प्राप्त करके अपने शिवत्व का साक्षात्कार करना है।

दार्शनिक मूल्य

भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक साधनातत्त्व के यथार्थ बोध के लिए निगमागम का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। तन्त्रागमों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त हैं जितने षड्दर्शनों के। उनकी साधना पद्धति उतनी ही पावन और उपादेय है जितनी वेदों की। निगम अर्थात् वेद भारतीय साधना-पद्धति प्रथम बहिरंग साधना का द्योतक ग्रन्थ है। तन्त्रागम द्वितीय अन्तरंग साधन का बोधक ग्रन्थ है। 'तन्' धातु से 'ष्ट्रन' प्रत्यय लगने से 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्' अर्थात् तन्त्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है। तन्त्र का दूसरा प्रसिद्ध नाम आगम है। 'वाचस्पतिमिश्र' योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं- **'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः'** अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस के उपाय बुद्धि में आते हैं वह आगम कहलाता है। निगम और आगम दोनों परस्पर उपकारक शास्त्र हैं निगम ज्ञान साधन है एवं आगम क्रियाप्रधान। 'त्रिक' आगम काश्मीर, शैव-दर्शन के मूल स्रोत हैं। जिस तरह उपनिषद् वेदान्त के स्रोत हैं, उसी तरह से शैव दर्शन के स्रोत आगम शास्त्र हैं। काश्मीर के शैवों की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार केवल, परमशिव, अर्थात् उपनिषदों का परब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य तत्व है। वह सर्वशक्तिमान है, उसके भीतर उसकी शक्ति के रूप में सारे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान रहते हैं।

शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन को भी तन्त्रनाम से अभिहित किया है। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए तन्त्र शब्द का प्रयोग उपलब्ध हैं। वाराही तन्त्र के अनुसार- सृष्टि प्रलय, देवार्चन, मन्त्रसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन तथा ध्यानयोग- इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थ को आगम या तन्त्र कहते हैं। अभिनव गुप्त ने समस्त पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को ही आगम माना है।

भारतीय धर्म और संस्कृति जिस प्रकार वेद पर आश्रित हैं उसी प्रकार यह आगम और तन्त्र से भी अनुप्राणित है। सभी पुराणों में तन्त्रशास्त्र की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हैं। पुराण वेदों के समान ही आगम और तन्त्रशास्त्र के भी उपबृंहक हैं।

सामाजिक उपयोगिता

आधुनिक युग में भौतिक शास्त्रों की अत्यन्त प्रगति के बाद भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो जीवनोपयोगी होते हुए भी मानवीय सीमा के बाहर है। इससे यह ज्ञात होता है कि मनुष्य का जीवनक्रम भी उसी 'परमे व्योम्नि' 'परम सत्ता के आश्रय से संचालित होता है।

---

[11] सि0शि0 2.12
[12] परिमल
[13] देवीभागवत
[14] नेत्रतन्त्र प्रथम पटल

समाज को ऐसे नियामक तत्त्व की आवश्यकता है जिसके योग से वह व्यक्तिधर्म को सन्मार्ग में लगाने में समर्थ हो। समाजोन्नति का मुख्य आधार ईश्वरोपासना ही है। सर्वभूतहित अथवा विश्वबन्धुत्व की व्यवहार्यता को ध्यान में रखकर ही भारतीयों ने 'ईश्वरोपासना' को समाज-धर्म को नियामक निश्चित किया है। वैदिक ऋषियों ने ईश्वरोपाना के इस तत्व को निर्भ्रान्त होकर ही चुना और उसके साथ भारतीय समाज धर्म को बाँध दिया। व्यक्ति-मात्र का जीवनक्रम समाधान पूर्ण एवं कल्याणकारक तभी हो सकता है, जब उसमें आत्मसंयम, नीतिप्रियता, उद्यमशीलता उदात्त ध्येयनिष्ठा इत्यादि गुण विकसित होंगे।

'शिवशक्ति' का लोकरंजक स्वरूप प्रत्येक प्राणधारी के भीतर निवास करता है। आवश्यकता है कि उसे अनुभूत कर सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में जाने की, जो साधना द्वारा ही सम्भव है।

सबके अभयदान तथा सबके लिए अनुग्रह का विधान करने वाली सम्पूर्ण उपकारों का कारण शिव की आराधना ही कही गयी है। जिसके द्वारा हम अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए एक सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं।

●

POETRY ON PYRE: HINDI-URDU CONFLICT IN ANITA DESAI'S *IN CUSTODY*

PROF. M.K. PANDEY* AND NAVIN KUMAR YADAV **

Post-Independence era in India marked the emergence of many notable women novelists on literary horizon. The luminaries which form the part of this constellation are Kamala Markandey, Ruth Prawar Jhabwala, Chitra Diwakurni, Nayantara Sahgal, Bharti Mukharjee, Arundhati Roy, Githa Hariharan, Suniti Namjoshi, Kiran Nagarkar, Kiran Desai, and Shashi Deshpande. Though the concerns and writing modes of these writers differ considerably yet a common thread can be discerned in their writings wherein they all attempt to unearth unexplored territories of women's psyche and raise the voices against the dominant patriarchal norms in family and outside. Anita Desai (born in 1937), a giant among her contemporaries, happens to be certainly the foremost leader of this group of women writers. Popularly understood as Virginia Woolf of India, she explores the psychic and emotional complexities of her characters offering intimate insights into their personal lives. She has been a prolific writer who has authored more than a dozen novels, three novellas and three short stories collections. This paper is an attempt to study her novel *In Custody* (1984) which was nominated for Booker prize of the same year and has also been adopted into a film with the same name. *In Custody* marked a turning point in the writing career of Desai who turned her eyes away from the private and domestic life of women and wrote instead about men and their world. Writing about this transition the renowned writer Salman Rushdie states that:

> *In Custody* was, therefore, a novel of transformation for its author, a doubly remarkable piece of work, because in this magnificent book Anita Desai chose to write not of solitude but of friendship, of the perils and responsibilities of joining oneself to others rather than holding oneself apart. And at the same time she wrote, for the first time, a very public fiction, shedding the reserve of the earlier books to take on such sensitive themes as the unease of minority communities in modern India, the new imperialism of the Hindi language, and the decay that, now even more than when the book was written, was and is all too tragically evident throughout the fissuring body of Indian society. The courage of the novel is considerable, and so is its prescience. The slow death of my mother-tongue, Urdu, is much further advanced than it was twenty-three years ago, and much that was beautiful in the culture of Old Delhi has slipped away forever. ("Rushdie on Anita Desai and Urdu")

In Custody tells the story of a Hindi lecturer Deven and Urdu Poet Nur. Deven hails from Mirpore, a small town in the vicinity of Delhi and lives with his wife Sarla and a son named Manu. Though he teaches Hindi literature at Ramlal College, yet his love of life is Urdu poetry. He inherits this love for Urdu poetry from his father and also writes verses in the language. However, Deven always remains dissatisfied because he feels that he is unable to serve his muse properly due to his divided love that he has to earn a livelihood. Therefore, when one of his college friends, Murad who edits a magazine devoted to Urdu literature, suggests him to take an interview of a great living Urdu poet Nur Sahjehanabadi. He considers this as an opportunity to meet not only one of the greatest living poets and also a small service to the language he has always admired. This seems to him an inspiring mission of rescuing already deteriorating state of a glorious literary tradition. However, things do not happen as he had expected. When he meets the poet, he finds both the poet and his haveli ruined, both anticipating their ends soon. Deven finds that the atmosphere at Nur's house is suffocating and unlivable, which annoys him to such an extent that he seems to forget the idea of interviewing the poet at all. The poet, whom he thought to be the God of Urdu poetry, is a frail old human being suffering from poverty and marital discords. He finds that the poet's house, which Deven has imagined to be an abode of harmony, is filled with cacophonic complaints of his much younger wife Imtiaz Begum, whom he had married in the hope of a son. Deven realizes that even the admirers Nur receives everyday are nothing more than sycophants who don't seem to understand anything of his poetry and visit his house for sharab and biryani. His fantasies about the poet and his world

* Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
**Research Scholar, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

are shattered, and he returns unsuccessful. But due to Murad's insistence, Deven revisits the ailing poet, and is shocked by the antipathy the poet shows for the fact that he teaches Hindi literature. However, the feeling that Deven is a rejected like his master helps him to develop an unbreakable bond with the poet. He decides to protect the dying heritage of the poet. Thinking words alone will not suffice and voice too should be preserved, Deven resolves to record the poet on the advice of his friend Murad. But the difficulty Deven faces is to buy the tape-recorder. Murad would not buy him one and he cannot buy it himself. Somehow he manages to convince his college authorities to grant him some money and some amount he borrows from Murad, Deven buys a second hand tape-recorder which he cannot handle himself and hires a child named Chiku to help him in the recording. But unfortunately due to the lack of technical expertise, the record remains a patchwork, worthless from the viewpoint of scholarly interest. The interview turns out to be less of an oration of his lost poetry but a record of revelry, full of rum, kebabs and biryani. Despite spending much on food of the poet and his admirers and the bribe given to Safia Begum, Nur's first wife, to arrange the Interview, nothing comes out much fruitful for Deven.

The novel is rumored, may be rightly, to be inspired from the life of a renowned twentieth century Urdu poet, Faiz Ahmed Faiz. However such connection seems no more than a metaphysical conceits based on impossible comparisons except the fact that the novel was published the same year Faiz died. Whatever be the source of inspiration for Desai behind writing this novel, the novel is about Urdu lying sick on its corpse. It is about a dying language which has turned homeless because of communal tensions of colonial and post-colonial India. This paper proposes to study and analyze Hindi-Urdu Controversy and consequent decay and death of Urdu in Post-partition India which forms the focal thread of the novel.

Hindi -Urdu Controversy:

It's very difficult to exactly locate the origin of Urdu. The word comes from Turkish *ordu* meaning "camp of the army." There are various opinions among the scholars regarding its origin. Mohammad Hussain Azad, eminent Indian scholar is of the opinion that Brij Bhasha, a dialect of Western Hindi, is the mother language of Urdu, which in later being influenced by and borrowing from Persian, gave birth to Urdu language ("History of Urdu Language"). Some other scholars like Mehmud Sherani, consider that Urdu evolved as a language because of the cross cultural encounter between Muslim invaders and native Hindus especially after the conquest of Mehmud of Ghazni ("History of Urdu Language"). Regarding the birth and early evolution of Urdu language, Shiraz Fouz in a very interesting article "History of Urdu Language" argues that:

But the most established theory relating the origination, evolution and development of Urdu language is that Urdu is a conglomeration of many different languages mainly Arabic, Persian, Pashtu, Turkish, Hindi and some local dialects of India. Muslims ruled over India for about 1,000 years. Muslim army comprised of soldiers of different origins and nationalities speaking different languages. Interaction among these soldiers and with the locals led to the development of a new language, mutually understood by all. This new language named as 'Urdu 'proved to be a unifying communication tool between the Muslim soldiers during their conquest of ancient India (including Mayanmar). ("History of Urdu Language" 3)

Thus it can be argued that Urdu was a language born as a consequence of communicational requirements of the invader and the invaded whose origins can be traced back to invasions of Mohammad Bin Quasim and Mohammad Ghajni. Its consolidation as a language started during the rule of Turks, popularly known as Delhi Saltanate. Amir Khusrau is often considered to have written first literature in the Urdu language. Khusrau (1253-1325), composed his poems, couplets and riddles in this newly-born language called "Hindvi". It was more prevalent in an around the areas of Delhi, its expansion was almost pan-Indian. According to Dr. S.R.Faruqi,

Early names for the language now called Urdu were Hindvi, Hindi, Dehlavi, Gujri, Dakanī, and Rekhta, more or less in that order, though until about the middle of the nineteenth century Dakani continued to be the name for the form of the language used in Deccan. The English seem to have found a set of names of their own liking, or invention. Edward Terry, companion to Thomas Roe at Jahāngir's court, described the language in his A Voyage to East India (London, 1655) as Industan, saying that it was a powerful language which could say much in a few words, had a high content of Arabic and Persian, but was written differently from Arabic and Persian. Other

names that the English seem to have used for this language include 'moors', 'Hindoostanic', 'Hindoostanee', 'Indostans'. (Faruqi, 22)

As the Muslim rule expanded in all over India, Urdu came into contact with various local languages, borrowed from and mixed with them, and over a period of time developed into a distinct spoken language. During the medieval period, it was called variously "Hindavi," "Zaban-e-Hind," "Hindi," "Zaban-e-Dehli," "Rekhta," "Gujari," "Dakkhani," "Zaban-e- Urdu-e-Mualla," "Zaban-e-Urdu," or just "Urdu" ("A Historical Perspective of Urdu").

During the Moughal rule, it became more flexible. During the Akbar's reign Hindus and Muslims came very close to each other which indirectly helped in the development of Urdu. There were many other writers and poets who used this language for creative expression during Moughal rule and in its aftermath, notable among them are Mir Taqi Mir(1727-1810), Mushafi (1750-1785), Mir Dard (1720-1785), Qaim Chand Puri (1724-1794), Haider Ali Atish (1778-1846), and Mir Babr Ali Anis (1802-74). It won't be an exaggeration to say that 18th and 19th century were the golden period of Urdu language when it not only replaced Persian as a court language but also registered a phenomenal rise of Urdu literature. Mirza Asad-Ullah Khan Galib (1797-1869) happens to represent this golden period.

Although not only Muslims but all communities of India used this new language for creative and commercial purpose, in the beginning of the 19th century after fall of Moughal Empire, Hindus, however, started looking at Urdu as the language of the invaders. In 1837, Urdu replaced Persian as the official language. A conflict later developed gradually between Hindus who chose to write Hindustani in Devanagari script and Muslims and some Hindus who chose to write the same in Urdu script after the revolution of 1857. Although the colonial government showed encouraging both the languages as a medium of education in the schools, yet this resulted into serious socio-economic conflicts associated with the language as the students educated in Hindi and Urdu both competed for the government jobs, leading to the communalization of the language. In 1867 some Hindus of Agra province and Oudh began to demand Hindi as official language. The anti-Urdu movement continued when in 1871 the Lt. Governor of Bengal G. Cambell banned Urdu in the province at all levels, courts, administration and even schools, which was worked as a fuel in fire for Hindus in other regions like NWFP, Punjab, Bihar, U.P, Sindh, and Oudh etc. ("Hindi–Urdu controversy") Meetings were organized in which thousands of Hindus signed memorandum asking elimination of Urdu. Raja Shiv Prasad in his book 'Grammer' (1875) writes that:

The absurdity began with the Maulvis and Pundits of Dr. Gilchrist's time, who being commissioned to make a grammar of the common speech of Upper India made two grammars... The evil consequence is that instead of having a school grammar of the vernacular as such... we have two diverse and discrepant class books, one for the Mohammedan and Kayastha boys and the other for the Brahmins and Banias. (Quoted in "A Historical Perspective of Urdu")

Later a committee of Hindus in Banaras in 1867 signed a petition to the government regarding the replacement of Urdu with Hindi, and its Devnagari script. In 1882 during the visit of Hunter Commission, a commission formed by the English government to analyze the spread of modern English education in India, Hindu organizations again tried to attack Urdu. They held meetings with its chairman, Dr. Hunter and tried to force him to admit Urdu as the foreign language and to promulgate Hindi, the native language, for educational purposes ("Hindi–Urdu controversy") In 1897, Madan Mohan Malaviya published a collection of documents and statements titled '*Court character and primary education in North Western Provinces and Oudh*' in which, he made a compelling case for Hindi. So the development of Hindi movement in later part of the 19thcentury in India created the worst situation for the Urdu language. Professor Paul R. Brass notes in his book, *Language, Religion and Politics in North India,*

"The Hindi-Urdu controversy by its very bitterness demonstrates how little the objective similarities between language groups matter when people attach subjective significance to their languages. Willingness to communicate through the same language is quite a different thing from the mere ability to communicate." ("Hindi–Urdu controversy")

Several other movements were launched to substitute Urdu with Hindi as an official language and various organizations were set up such as Nagari-Pracharini Sabha (1893), Hindi Sahitya-Sammelan in Allahabad (1910), Dakshina Bharat Hindi Prachar-Sabha (1918), and Rashtra Bhasha Prachar-Samiti in 1926.

The ongoing communalization of Urdu certainly changed the environment. Sir Syed Ahmed khan, who had been a staunch advocate of Hindu-Muslim unity and had once, remarked that:

"I look to both Hindus and Muslims with the same eyes & consider them as two eyes of a bride. By the word nation I only mean Hindus and Muslims and nothing else. We Hindus and Muslims live together under the same soil under the same government. Our interest and problems are common and therefore I consider the two factions as one nation." ("Hindi–Urdu controversy")

Became one of its greatest adversaries and remarked to Mr. Shakespeare, the governor of Banaras:

When even the language of a nation is not safe at the hands of other, it would be unwise to continue living with them…I am now convinced that the Hindus and Muslims could never become one nation as their religion and way of life was quite distinct from one and other. ("Hindi–Urdu controversy")

He set up Urdu Defense Association with Nawab Mohsin-ul-Mulk resolving to protest against such biased attitude of the governor and ultimately succeeded in getting Urdu declared official language of United Province along with Hindi. NawabMohsin-ul-Mulk starts another association called "Anjuman-e-Tarraqi-e-Urdu" to counter all future attempts of the Hindus and the British to demeaning Urdu. Syed Ahmad Khan's Scientific Society Gazette also published write ups on the importance of Urdu. Similarly, some Muslim newspapers like *Noor-ul-Absar* and *Banaras Gazette* also took the responsibility to safeguard the interest of the Urdu language. In an interview with Ather Foroqui, S. R. Foroqui asserts clearly:

It is neither wrong nor discreditable, I feel, that we now begin to declare, unequivocally and openly, that Urdu is the language of the Muslims of north India. I also oppose the apologetic view whereby Urdu is presented as the language equally of Hindus and Sikhs. Let's be honest. Today Urdu belongs only to Muslims. Yes, it was the language of Hindus and Sikhs at one time. ("The Problem of Urdu in India")

Thus there can be no denial that the colonial policy of the divide and rule lead to communalization of Urdu language. However, it would also be wrong to assume that there was no attempt to bridge this communal gap. Mahatma Gandhi sensed the issue of language communalization and supported the composite concept of Hindustani in both script as the national language of country. C. Rajagopalachari, chief minister of Madras Presidency initially introduced Urdu as a compulsory language in secondary school education. However, the communal divide has grown so strong that it had become impossible to resolve the conflict. Its seriousness can be understood by a statement of Abdul Haq who remarked in 1961 that "Pakistan was not created by Jinnah, nor was it created by Iqbal; it was Urdu that created Pakistan". ("Review Essay").

Anita Desai's *In Custody* shows the deteriorating status of cultural and linguistic identity of Muslim in post-independent India. In fact, Hindi-Urdu rivalry constitutes the very core of the novel. Telling about the problems of Hindi-Urdu rivalry and the status of Urdu in post-partition India:

I was certainly very aware at the time of Independence that most of the Muslim population had crossed the border and gone into what became Pakistan. Because half of the population of the school I went to vanished at the time, overnight really. I was aware that because of the Muslim population moving out of India, it would be a struggle to keep their language, Urdu, alive. There were certainly many people in North India and in other parts of India who spoke Urdu. But the fact is that most of them were Muslims, very few Hindus studied Urdu or wrote it or read it. So it seemed to me it was a threatened language, and I think, since those pre-partitioned days, the number of schools and universities that offer Urdu are very few now . . . So it seemed to me it was threatened, and that an effort needed to be made to preserve it. Of course the government of India also recognizes this, and within India's constitution, which is a secular constitution, and it is a very good constitution, every religion and every language is given equal rights, so they do make some effort to have Urdu programs on the radio and on television. But frankly I do not think many people listen to those: it has very little effect. ("*In Custody* and Beyond")

In the novel Nur is always worried about rapid loss of Urdu *jaban* (language) and *tahzib* (culture) and thinks that Urdu is fast declining to be lost into oblivion. It does not remain the language of the people any more, confined to the limits of universities. In a remarkable expression of the excruciating pain the practitioners and admirers of Urdu experience, Nur Shahjehanbadi remarks, "Urdu is supposed to have

died, in 1947. What you see in the universities – in some of the universities, a few of them only - is its ghost, wrapped in a shroud" (*In Custody* 56). When Deven, a lecturer of Hindi in a college and an ardent admirer of Urdu, meets Nur, he is offended to hear his connection with Hindi and disapprovingly declares that:

'That vegetarian monster, Hindi . . . That language of peasants . . . The language that is raised on radishes and potatoes. . . . Yet, like these vegetables, it flourishes, while Urdu -- language of the court in days of royalty -- now languishes in the back lanes and gutters of the city. No palace for it to live in the style to which it is accustomed, no emperors and nawabs to act as its patrons.' (*In Custody* 15)

Nur firmly believes that Hindi, which has received governmental patronage, would soon devour parentless Urdu as a language. When Deven intimates Nur regarding his proposal to contribution to the special issue on Urdu poetry, Nur says that Urdu is a dead language and that there is no use in writing the article.

Nur expresses his ironical surprise and extends his understandable mockery that a Hindi teacher has appeared to interview him to preserve a language that he considers to be on its death-bed. Nur is exasperated to know about the biased favour Hindi receives. He is well aware how cultural nationalism has led and continues leading to exclusion of Urdu and its glorious cultural and literary tradition. Nur is pained to see the communal association of Urdu with the Muslims and often derides Hindi, its practioners and followers. In one such moment of anger, he states

'What is the matter?' Nur mocked, glaring at him with small bloodshot eyes. Why did he choose to pick on Deven, the only one who had remained silent and not expressed any opinion at all? Forgotten your Urdu? Forgotten my verse? Perhaps it is better if you go back to your college and teach your students the stories of Premchand, the poems of Pant and Nirala. Safe, simple Hindi language, safe comfortable ideas of cow worship and caste and the romance of Krishna. That is your subject, isn't it, professor?'(*In Custody* 55)

Nur considers that language is not a political verbal communication system rather affects and is affected by the people in power. For him, the deterioration of Urdu in the newly Independent India is inseparably linked to the decline of Muslim community and culture. Sometimes Nur is found eccentrically correct in his opinions regarding the language politics. Nur firmly believes that there is no respect for his language left and it is lying unattended on its death bed. Although Deven is his ardent admirer, he does not hesitate to contemptuously call Deven a spy sent to hunt and kill Urdu and a slave serving Hindi on knowing that Deven teaches Hindi to earn a living. He reprimands Deven telling him that "now the time of art is over and it is the time of commercialization it will be better for you to go back your college, and teach your students Hindi" (*In Custody* 46). Such instances of language animosity and horrifying eccentricity can also be found in the gathering at Nur's place where Deven hears one of the sycophants of Nur saying:

'Have you heard Sri Gobind's latest poem cycle?' he bawled. 'They are saying in the bazaar that it will win the Sahitya Akademi award for Hindi this year. For Urdu we can of course expect the same verdict as usual: "No book was judged worthy of the award this year'. (In Custody 55)

Further, Deven and his friend Murad reflect a remarkable difference in their approach to Urdu poetry. While Deven considers interviewing Nur as a service done to her beloved muse, for Murad, Nur's interview is nothing more than a commodity which he would use to run his magazine. Murad openly tells Deven, "I get all the material I want, I get it - then I print. I want a full feature on Nur—Nur in his old age, the dying Nur before he is gone, like a comet into the dark. I want you to do that feature" (*In Custody* 17). In an apparent contrast to Murad's views, Deven believes that the death of Urdu is the death of India's rich heritage which Deven tries to protect at any cost.

Deven resolves that only way to preserve this sublime world of poetry is to record poet's composition in his own voice. However his path is not without difficulties because of his financial constraints and an ever-growing antipathy for the language. When he applies for one week's leave to take an interview with the legendary Urdu poet Nur Shahjehanabadi, the head of his department Trivedi threatened him, and warns:

'I did not need to see your stupid mug again. I'll have you demoted, Sharma—I'll see to it you don't get your confirmation. I'll get you transferred to your beloved Urdu department. I won't have Muslim toadies in my department; you'll ruin my boys with

your Muslim ideas, your Urdu language. I'll complain to the Principal, I'll warn the RSS, you are a traitor.' (*In Custody* 145)

Trivedi's response to Deven clearly signifies how language was linked to religious identity and national loyalty in postcolonial India. It implicitly suggests the communal tensions which grew in the aftermath of India's Independence.

Despite Murad's help, Deven fails to buy a tape recorder to record Nur's poetry. Thereafter, he resolves to meet the head of Urdu department, the only person at the university who respects Deven for Urdu poetry. Siddiqui, the head of the one-man Urdu Department, exemplifies the complicity of culture with both privilege and nostalgic self-indulgence. Siddiqui, the last heir of a Nawab family, somehow convinces the university authority to provide Deven funds for buying a tape-recorder. However, when the fund provided by the university does not suffice to the requirement, Deven comes one evening to Siddiqui's house, "one of the last of the large old villas of Mirpore"(*In Custody* 132), surrounded by the bazaar, and in complete ruined. Deven finds Siddiqui sitting on the terrace "much in the attitude of a grand landowner, a man of leisure and plenty" (*In Custody* 133). When Deven tells him about his economic conditions, Siddiqui mockingly replies in a painful voice:

'What! Did you think I had a family, wife, children, relatives? Or did you think I lived like a nawab in a nawab's palace? Take a look, my friend, take a look—have you ever seen such a ruin? he laughed and waved at a grimy boy who emerged from one corner of the derelict house. 'Another chair, Chotu,'he called, 'if we have one. And a glass and a bottle - a drink for our visitor. We have that, nah? Be quick, too.' (*In Custody* 134)

Siddiqui is the silent spectator scrutinizing the shifting interests of the society. His ancestral home is his only profitable commodity which he plans to sell to some landlord.

Desai uses many symbols and metaphors in the novel which marks the dilapidated conditions of Urdu poetry and its admirers. The ruined houses of Nur and Siddiqui symbolize the ruined state of Urdu. Nur lived in Chandni Chowk which now looked like a market in a nightmare. The poet's very name, Nur, is ironic which means 'light' grown very dim indeed. One of the most prominent symbols employed in the novel is that of a dead body of dog and a group of crows feasting on the dead dog:

He turned and peered out of the window to see if the dog lay on the road, broken, bleeding, or dead. He saw a flock of crows alight on the yellow grass that grew beside the ditch, their wings flickering across the view like agitated eyelashes. (*In Custody* 26)

The dead body of dog stands for the putrefying condition of Urdu language in the hands of its new masters, it also bears a resemblance to Nur and his exploitation. Murad's face too serves as a metaphor, which is facially disfigured by pockmarks. His face embodies an Urdu speaker who is tainted by his contempt for Hindi. He runs a magazine called *Awaz* meaning voice. However, paradoxically enough nobody around is interested to hear the voice of Urdu. It merely encapsulates the last cries of a dying language. The admirers of Nur's poetry, except Deven, have very shallow knowledge of Urdu indicating its inevitable demise as a consequence of lost patronage.

Anita Desai's artistic achievement lies in her disinterested representation of opposite viewpoints. Thinking about her intent to tell such a story, Desai reveals the fact in an interview with Magda Costa:

I was trying to portray the world of Urdu poets. Living in Delhi I was always surrounded by the sound of Urdu poetry, which is mostly recited. Nobody reads it, but one goes to recitations. It was very much the voice of North India. But although there is such a reverence for Urdu poetry, the fact that most Muslims left India to go to Pakistan meant that most schools and universities of Urdu were closed. So that it's a language I don't think is going to survive in India…. There are many Muslims and they do write in Urdu; but it has a kind of very artificial existence. People are not going to study Urdu in school and college anymore, so who are going to be their readers? Where is the audience? ("Interview with Anita Desai").

And, through Deven, she explores this marginalized world of Urdu poetry. With a second-hand tape-recorder accompanied by disastrous memories and hardships, Deven sets out for a journey to the poetry of Nur and make himself a custodian of a dying tradition

"He had imagined he was taking Nur's poetry into safe custody, and not realized that if he was to be custodian of Nur's genius, then Nur would become his custodian and place him in custody too. This alliance could be considered an unendurable burden—or else a

shining honour. Both demanded an equal strength." (*In Custody* 203)

At the very end of the novel, Deven comes to an understanding that he has become the 'custodian' both of Nur's friendship and of his poetry. In the novel, Desai raises her voice for its elevation and questions it's unfortunate demise. To sum up, the novel is a narrative of the death of the Urdu literature, a narrative portrayal of an elegiac farewell to a lost tradition.

Works Cited

Bhattacharya, Swagata. "Review Essay." Rev. of *Before the Divide: Hindi and Urdu Literary Culture*, by Francesca Orsini. 2010: n. pag. 2011. Web. 12 June 2014. <http://www.clai.in/11reviewswagata.pdf>.

Desai, Anita. *In Custody*. London: Heinemann, 1984. Print.

Faruqi, Shamsurraḥma□n. "History, Faith, Politics--Origin Myths of Urdu and Hindi." *Early Urdu Literary Culture and History*. New Delhi: Oxford UP, 2001. 21-43. Web. 01 July 2014. <http://www.columbia.edu/itc/mealac/pritchett/00fwp/srf/earlyurdu/01chap01.pdf>.

Fouz, Shiraz. "History of Urdu Language." Sailan Muslim - The Online Resource for Sri Lanka Muslims. *Culture & Heritage*. Salan Muslim, June-July 2014. Web. 04 July 2014.

Guignery, Vanessa, and Alexis Tadié. "In Custody and Beyond: A Conversation with Anita Desai." - *Cairn.info*.

Klincksieck, Mar. 2009. Web. 21 June 2014. <http://www.cairn.info/zen.php?ID_ARTICLE=ETAN_623_0370>.

Yaqin, Amina. "The Communalization and Disintegration of Urdu in Anita Desai's In Custody." Ed. Peter Morey and Alex Tickell. Alternative Indias: Writing, Nation and Communalism. Amsterdam: Rodopi, 2005. 89-113. Print.

"A Historical Perspective Of Urdu." National Council for Promotion of Urdu Language. Ministry of Human Resource Development Government of India, n.d. Web. 17 July 2014. <http://www.urducouncil.nic.in/council/aHistorical_Perspective_Urdu.html>.

"Hindi–Urdu Controversy." *Wikipedia, the Free Encyclopedia*. N.p., n.d. Web. 28 June 2014. <http://en.wikipedia.org/wiki/Hindi%E2%80%93Urdu_controversy>.

"Interview with Anita Desai." Interview by Magda Costa. *Interview: Anita Desai*. Sawnet, 30 Jan. 2001. Web. 08 July 2014. <http://www.sawnet.org/books/writing/desai_interview.html>.

Poets.org. Academy of American Poets, n.d. Web. 09 Aug. 2014. <http://www.poets.org/poetsorg/poet/faiz-ahmed-faiz>.

"Rushdie on Anita Desai and Urdu." Web log post. *Dream Ink*. N.p., 31 Dec. 2007. Web. 1 June 2013. <http://dreamink.blogspot.in/2007_12_01_archive.html>.

The Problem of Urdu in India— Political or Existential? An Interview with S.R. Faruqi." Interview by Ather Faruqi. N.p., n.d. Web. 03 July 2014. <http://www.urdustudies.com/pdf/10/19problem.pdf>.

"Urdu." Wikipedia. Wikimedia Foundation, 08 May 2014. Web. 08 July 2014. <http://en.wikipedia.org/wiki/Urdu>.

●

CYANOPAGE IN RIVER GANGA: A STRATEGY TO CONTROL MICROBIAL POLLUTION

*VANDANA, DR. A. KUMAR, M. SINGH, AND DR. K.D. PANDEY **

The "Mother River Ganga" can be viewed as an embodiment of life, purity, and power. From its use in daily tasks to more spiritual applications, the Ganga maintains its place as a dominant entity in Hinduism. In recent years, pilgrimage to the Ganga has become more popular and fascinating. The Ganga is a very powerful force, and a link between nature, human, and divinity (King, 2005) as in the late May or early June, every year, Hindu celebrate the *avatarana* or descent of the Ganga from heaven to earth. The day of the celebration, *Ganga Dashahara* respect and adoration for physical nature, is reflected in the spiritual importance given to the sacred river and the general landscape. The Ganga is proclaimed to be the most supreme of the entire river and all agree that her power is unending and divine (Eck, 1996)

Pollution is a major problem in most of the rivers of the world and all the rivers of the Asian Continent. In the mind of the common people, pollution in the "Divine River" of India, Ganga is that which is visible from the naked eyes. Many toxicant and nutrients which reach to the river Ganga through flood, agricultural runoff and industrial as well as sewage discharge and through aerosols raise the level of pollution and Ganga was on fifth rank as most polluted river in the world. Microorganisms, mostly pathogenic to human and deleterious to the environment also reach to the Ganga in the similar way and flourish with the aid of nutrients in the river.

However, the ancient believe that Ganga itself regulates its biogeochemical cycle and purity of water as proposed in the "Giya Hypothesis" by Lovelock (1995). The Ganga water has more 25% of oxygen than any other river of India, though many types of organic pollutants and toxicants are thrown in the Ganga every day. To the lesser extent, due to toxic pollutant and excess expel of organic nutrients, both chemical and microbial pollution are invisible pollution to which common person can't assume and believe. The antibacterial property of "Ganga Jal" and replenishing of oxygen indicate that there is 'something' which purify and heal the river Ganga. The most reasonable answer behind that is 'Phages' (https://en.wikipedia.org/wiki/ganga_in_hindusim). In the present article the focus has been mentioned on the Cyanobacteria and viruses controlling their population. Cyanobacteria form blooms, are remain suspended and release different toxicants in the water. Blooms of cyanobacteria are controlled by virus, known as Cyanophage (https://en.wikipedia.org/cyanophage).

Dilution of pollutant in soil, air and aquatic ecosystem is solution of pollution. Natural water has an inherent self-purification capacity (Atlas and Bartha, 2000). Pollutants are degraded in sediments of lentic ecosystem, such as lakes and other water reservoirs, however in lotic ecosystem, like river Ganga, theses pollutants are continuously diluted with the flow of river. Pandit Madan Mohan Malviya vision to set up 'Ganga Mahasabha' at Haridwar in 1905 was a landmark of many problems being faced today including the problem of pollution in river Ganga. In consequence to that a massive public protest against damming of river Ganga, British Government entered an agreement in 1916. The clause 32, para-I of the agreement state "Unchecked flow of Ganga will never stopped", thus the first Ganga movement was enlighted by Malviya ji, who had deep regard for the "Mother river". The agreement binds even today under the article 363 of the Indian constitution. The present crisis of river Ganga is extremely grave due to population load in rural and urban banks and encroachment area, industrialization, religious performance and cremation of dead bodies. The very existence of mother Ganga has come under question Mahamana's vision "the continuous flow of river Ganga without damming was true with the respect to the concept that the dilution is a solution of pollution".

The stagnancy and slow flow of water in Ganga are responsible for the nutrient loading and increase in pathogenic bacteria along with bloom forming cynobacteria. Thus, the continuous flow of river Ganga is necessary for the dilution of nutrient and to check the growth of deleterious microbial population.

Eutrophication of freshwater ecosystems is accompanied by changes in diversity and abundance

∗ Center of Advanced Study in Botany, Department of Botany, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.

of the phytoplankton, leading to a decrease in planktonic diversity and, usually, a dominance of cyanobacteria (Maier et al. 2000). Cynobacteria constitute the major proportion of phytoplankton Community in the river Ganga (Basavarajappa, 2014). Also, the Cynobacteria and algae contribute maximum to the primary productivity in this aquatic ecosystem. After the death and decay of primary producers both particulate (suspended) and dissolved organic matters become available to the heterotrophs. Thus, the sewage discharge and decomposed photoautotrophs are the major contributors of organic nutrient pool of the river (Water Quality Assessments, 1996). Besides, flowers and dead human and animal bodies in the river Ganga thrown and excreta also add to the organic nutrient pool in the river after their decomposition. Organic nutrient pool in the river often determines the number and diversity of heterotrophic organisms. Some of the bacteria are involved in mineralization process and play a major role in bio-geochemical cycling of river while the others are pathogenic which flourish in the water (www.waterencyclopedia.com). These pathogenic bacteria enter in the disease cycle through water as a carrier which is used for drinking, bathing and other purposes.

Cyanobacteria (Blue- green algae) are the gram-negative photoautotrophic oxygen producing bacteria. They are different from most of the bacterial heterotroph as they make their own food by CO_2-fixation in the presence of sun light. In river Ganga cyanobacterial population vary according to seasons. After rainy season water impurities and silt settled down and sun light penetrate under the water column depth. Cyanobacterial colonies start appearing in September and their diversity and biomass increase to till April with slightly fluctuation in December-January. Under the inorganic nutrient specially phosphate rich condition cyanobacterial colonies flourish and from blooms which produce different types of toxins including neurotoxins, cytotoxins, endotoxins, and hepatotoxins (i.e. the microcystin produced by cyanobacterial species *Microcystis*), and are called cyanotoxins (Stewart et. al., 2008). Proliferation of toxic Cyanobacteria in aquatic ecosystems has been associated with major ecological disturbances, such as a decrease in aquatic biodiversity, with potential consequences for the entire food web. The toxic potential of several genera of planktonic freshwater Cyanobacteria producing microcystins (MCs), the most prevalent cyanobacterial hepatotoxins in freshwaters, may also represent a considerable health risk for both wild and domestic animals as well as for human beings.

Heavy metals that are discharged from different industrial effluents in Ganga include Cu, Cd, Hg, Pb, Cr, Zn and Fe (Purushothaman, and Chakrapanim, 1997). The level of Fe is very high which decreases the growth of Chlorophycean algal group and promote the luxuriant growth of Cyanobacteria. The explosive growth of Cyanobacteria results in algal blooms, which can become harmful to other species, and pose a danger to humans and animals, if involved in production of toxins. Several cases of human poisoning have been documented, but a lack of knowledge prevents an accurate assessment of the risks. Recent studies suggest that significant exposure to high levels of some species of Cyanobacteria producing toxins can cause amyotrophic lateral sclerosis (https://en.wikipedia.org/algalbloom).

We believe since long time that there is no epidemic diseases reported in river Ganga water bath, though the quality of water decreased due to high level of different toxicants and industrial discharges. All the suitable growth conditions prevail in river Ganga for Cyanobacteria bloom but there is no any or evidence of mat formation (shodhganga.inflibnet.ac.in).

Since last two decades the Ganga river water has been stored in Tehri Dam and limited flows are permitted in the river due to which the water quality became very poor and contamination of microorganisms and pollutant increased (Ministry of Environment and Forests, Government of India, 2009).

Viruses play a crucial role in food webs as active constituent of microbial loop and in population ecology of algae and Cynobacteria in aquatic ecosystem (Maier et al. 2009). Interactions between Cyanophages and Cynobacteria have demonstrated the complex dynamics of viral infection in the river water. The environmental controls and virus abundance, impacts of viral infection upon host community structures have revealed new roles of Cyanophages in bio-geochemical cycles. Viruses are the most numerically dominant organism on the earth and their abundance varies according to local primary productivity, viral infectivity and bacteriovory by Protozoa which contribute significantly to bacterial and Cynobacteria mortality in aquatic ecosystem Cyanophage induced mortality may be a key factor in controlling the blooms.

Phages are found almost everywhere and the

estimates show that the host (bacteria and Cynobacteria) verses phage ratio is numerically equal to 1:10, making phages the most numerous categories of organisms on this planet. Host range analysis of Cyanophages demonstrated specificity among the different morphological types ranging from infection of a single strain to infection across the several Cyanobacterial genera (Sullivan and Matthew B., 1975**)**. Cyanophages are modified for infection of photosynthetic host that flourish in nutrient limited environment. Cyanobacterial resistances to Cyanophages create the pressure on the phage to develop strongest effect on the Cyanobacteria. *Red Queen Hypothesis* describes this relationship as the organism must constantly adopt and evolve in order to survive. Cyanobacteria have developed multiple defense mechanism including lysogeny and pseudolysogeny for its survival (Cenens et. al., 2013)

The phages affect the movement of nutrients and energy within the ecosystem by lysing host cell and thus a carbon cycle within the microbial loop of the river. The proposed hypothesis that in bacteria – bacteriophage infection each bacterial cell may be infected by 10 phage species, has not been proved in Cyanobacteria - Cyanophage interation though the cyanophage to cynobacteria ratio of ten to one assumed to be true in this interation also. A constant rate of Cyanophage mediated Cynobacteria mortality seems to vary within 10 to 15 % per day. Seasonality in virus titre with low in the winter and high in the summer seasons have been demonstrated by us. Some cyanobacterial blooms collapse is mediated by phage lysis (http://www. garlandscience.com, 2011).

The survival of Cyanophage depends on availability of host, their distribution and abundance as well as ecological factors. Phages in natural environmental condition follow the different replication cycle which are affected by the physical condition of environment and host. The most often displaced life cycle is lytic type in which phage infect and rapidly kill their host cells followed by release of virus particles. In contrast, the lysogenic type of replication phages instead of directly killing their hosts, integrate its genome into their host genome as survival strategy and remains for many generations.

Lysogeny becomes the preferred strategy when the cell density falls below lower limit necessary for maintenance of phage density by repeated cycle of lytic. As shown in the case of bacteria. UV or sunlight is not a good induce of prophage in water samples seems likely to be true for the Cyanophage, in the river Ganga. Although, lysogeny remains prevalent in oligotrophic environment but, low nutrient concentration specially the phosphate determines the lysogeny in the Cyanobacteria when their cells are at their minimum. Lysogeny is a survival strategy for Cyanophages as well as Cynobacteria in river Ganga. It seems that lysogens frequently out compete the lysogeny population possibly due to the selective advantages confered by lysogenic conversion genes of the prophage.

The excessive nutrient loading from the urban municipal discharge and rural agricultural run-off in the river Ganga resulted in microbial pollution of pathogenic bacteria and bloom formation by Cyanobactria. The viruses infecting the bacteria and Cyanobacteria have been implicated to control the pathogenic bacterial population and cyanobacterial blooming. Investigation was undertaken to reveal the diversity and distribution of Cyanopahges infecting the bloom forming Cyanobacteria in river Ganga revealed that the Cyanophage population gradually decreased from the bank to the main stream of the river flow. The cyanophage population was high near the Ghats as compared to the opposite sand catchment river bank. The population was maximum on the surface water where the blooming prevails and gradually decreased in the subsurface water column depth. The titer value of Cyanophage was maximum about 100 m away from the sewage discharge and cremation sites and gradually decreased in the downstream water. The Cyanophage number in the river increased with the nutrient availability specially the nitrogen and phosphorus. It was interesting to notice that under nutrient depletion and bloom population scarcity Cyanophages entered into lysogenic cycle which was further induced into lytic cycle by the reversal of the both abiotic and biotic stresses.

Acknowledgement: Authors thank Head and Coordinator, CAS in Botany, Department of Botany, BHU for facilities and grants.

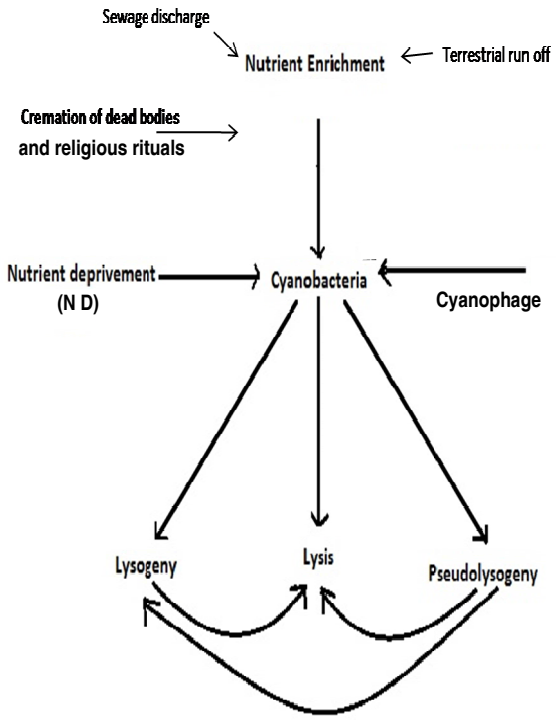

Fig: Nutrient, Cyanobacterial and Cyanophages interaction in river Ganga.

References

1. Atlas, R. M. and Bartha, R. 2000: Microbial Ecology: *Fundamentals and Applications.* Benjamin/Cummngs/ Science. Publishing California, USA
2. Basavarajappa, S.H., Raju, N.S. and Hosmani, S.P. 2014: Limnology: A Critical Review. *Curr. WorldEnviron.* 93. Doi: http://dx.doi.org/10.12944/CWE.9.3.23
3. Cenens, W., Makumi, A., Mebrhatu, M. T., Lavigne, R. and Aertsen A. 2013:Phage-host interactions during Pseudolysogeny. *Bacteriophage* 3: e25029. doi: 10.4161/bact.25029
4. Chapman, 1996. Water Quality Assessments - A Guide to Use of Biota, Sediments and Water in Environmental Monitoring (PUBLISHED ON BEHALF OF UNITED NATIONSEDUCATIONAL, SCIENTIFIC AND CULTURAL ORGANIZATION WORLD HEALTHORGANIZATION UNITED NATIONS ENVIRONMENT PROGRAMME) Chapman and Hall
5. Eck, D. L. 1996: "Ganga: The Goddess Ganges in Hindu Sacred Geography." In J.S. Hawley and D.M. Wulff (ed.) *Devi: Goddesses of India*. Berkeley: University of California Press.
6. King, A. S. 2005: "Waters of Devotion". In A.S. King and J. Brockington (ed.) *The Intimate Other: Love Divine in Indic Religions.* New Delhi: Orient Longman
7. Lovelock, J. 1995: "The Ages of Gaia". W.W. Nortan, New York
8. Maier, R. Pepper, I. L. and Gerba, C. 2000"*Environmental Biology*" Academic Press, USA
9. Maier, R., Pepper, I. L. and Gerba, C. 2009: *Environmental Microbiology*. Elsevier, ISBN: 978-0-12-370519-8, 28-32.
10. Matthew, S. B. 1975: Ecology, diversity and comparative genomics of oceanic cyanobacterial viruses. Massachusetts Institute of Technology http://hdl.handle.net/1721.1/39163
11. Microbes in the marine environment, Garland Science, 2011, www.garlandscience.com, Pp- 1-24
12. Purushothaman, P. and Chakrapani, G. J. 2007: Heavy Metals Fractionation in Ganga River Sediments, India, *Environ Monit Assess* 132:475–489.
13. Puttick, E. 2008: "Mother Ganges, India's Sacred River", In Emoto, Masaru (ed.) *The Healing Power of Water*. Hay House Inc., pp. 241–252, ISBN 1-4019-0877-2
14. Status Paper on river Ganga,State of Environment and Water Quality. National River Conservation Directorate, Ministry of Environment and Forests, Government of India, August, 2009: Indian Institute of Technology, Roorkee,India
15. Stewart, I., Seawright, A.A. and Shaw, G.R. 2008: Cyanobacterial poisoning in livestock, wild mammals and birds – an overview "Cyanobacterial Harmful Algal Blooms: State of the Science and Research Needs. *Advances in Experimental Medicine and Biology* 619: 613–637.

Related Websites

- https://en.wikipedia.org/wiki/ganga_in_hindusim
- https://en.wikipedia.org/cyanophage
- www.waterencyclopedia.com
- https://en.wikipedia.org/algalbloom
- shodhganga.inflibnet.ac.in
- http://www.garlandscience.com, 2011

MEDIA AND ITS IMPACT ON OUR ATTITUDES

SHIPRA SINGH* AND DR. D.K. SINGH **

"Knowledge is the form of an informational commodity indispensable to productive power is already, and will continue to be, a major – perhaps the major- stake in the worldwide competition for power. It is conceivable that the nation- states will one day fight for control of information, just as they battled in the past for control over territory, and afterwards for control over access to and exploitation of raw materials and cheap labour."

Lyotard 1984

The concept of mass media is quite complex and can refer to an assortment of variations on a media theme. Media sociologist have focused on a range of media features including different modes of communication (e.g. television, news papers, etc), media organization, new media technologies such as the internet, news gathering and presentation, the role of media professionals, as well as media representations and their effect upon different types of audiences.

Mass media is considered as those agencies of communication that convey information, education, news and entertainment to mass audience. Until fairly recently, these included:

The Print media- newspapers, magazines, comics, books and some forms of advertising. The audio-visual media- television, radio, cinema and music. This type of media has experienced some evolution over the past 25 years. In the recent years, media sociologists have identified a third type of mass media –the new media- that differs from traditional media in four important respects:

It is comprised of new delivery technologies. The last 25 years have seen a revolution in terms of new media technologies. The most innovative technology that has appeared in the internet or World Wide Web- a global multimedia library of information and services in cyberspace made possible by a global system of interconnected computers. Public access to this information superhighway has been made easier by the introduction of high- capacity broadband wireless networks. Ofcom reported that 76 percent of adults in the UK had broadband access to the internet in 2011. Moreover , a range of new and relatively cheap modes of media delivery have also appeared, such as the laptop computers, 3G and 4G mobile phones, virtual reading devises such as the Kindle, computer game consoles such as the PS3,Xbox and Wii , and in 2010 the iPad. It involves the convergence of media delivery technologies and systems. The last few years have seen media delivery systems converge within single technologies such as the mobile phone, the personal computer, smart televisions, the iPad, etc. In other words, these technologies are able to deliver television, films, radio, music, books, magazines, and newspapers, games and a range of internet services(e.g. paying bills) in one single package. According to Ofcom , 92 percent of adult in the UK and 85.5 percent of children aged 7 to 16 owned a mobile phone in 2012. And 39 percent of adults used their handset to access the internet in 2011. The new generation of 4G and smartphones that went on the market in 2012 is likely to increase this percentage. It has resulted in cross- media convergence. Companies that normally work in quite separate fields are joining up or converging- for instance, Orange have linked up with sony to explore ways of improving mobile-phone technology by giving access to media services such as music, internet, video, etc. It has led to new interpersonal and interactive media delivery system. The convergence of new media technologies has facilitated the use of interpersonal and interactive media delivery systems that have added even greater choice to the ways in which people can interact with one another and project their social identity and opinions into the wider social world. These include mobile phone texting, interactive social network sites such as Facebook and Twitter, and interactive blogs or online dialers that aim to build social relationships with their readers and other bloggers. Ofcom estimates that 50 percent of UK adults used social networking sites in 2012, and according to a survey carried out in 2012 by EU kids Online, almost half of British

∗ Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005.
∗∗Assistant Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

children aged 9 to 12 are using social networking sites, despite minimum age limits.

Mass media has led to the formulation of many theories: **structural and functional** theories believe that social structures are real and function in ways that can be observed objectively; **cognitive and behavioral** theories tend to focus on psychology of individuals;**interactionist** theories view social life as a process of interaction; **interpretive** theories uncover the ways people actually understand their own experience; and **critical** theories are concerned with the conflict of interests in society and the way communication perpetuates domination of one group over another .

The earliest theories were those propounded by Western theorists **Siebert, Paterson and Schramm** in their book *Four Theories Of the Press* (1956).These were termed "normative theories" by **McQuail** in the sense that they "mainly express ideas of how the media ought to or can be expected to operate under a prevailing set of conditions and values." Each of the four original or classical theories is based on a particular political theory or economic scenario.[1]

Libertarianism or Free Press Theory

This movement is based on the right of an individual, and advocates absence of restraint. The basis of this theory dates back to 17th century England when the printing press made it possible to print several copies of a book or pamphlet at cheap rates. The State was thought of as a major source of interference on the rights of an individual and his property. Libertarians regarded taxation as institutional theft. Popular will **(vox populi)** was granted precedence over the power of State.[2]

Advocates of this theory were **Lao Tzu**, an early 16th century philosopher, **John Locke** of Great Britain in the17th century, **John Milton**, the epic poet ("*Aeropagitica*") and **John Stuart Mill**, an essayist ("*On Liberty*"). Milton in *Aeropagitica* in 1644, referred to a self-righting process if free expression is permitted "let truth and falsehood grapple." In 1789, the French, in their Declaration of the Rights of Man, wrote "*Every citizen may speak, write and publish freely*." Out of such doctrines came the idea of a "free marketplace of ideas." George Orwell defined libertarianism as "allowing people to say things you do not want to hear". Libertarians argued that the press should be seen as the *Fourth Estate* reflecting public opinion.

Soviet Media/Communist Theory

This theory is derived from the ideologies of Marx and Engel that "the ideas of the ruling classes are the ruling ideas". It was thought that the entire mass media was saturated with bourgeois ideology.

Lenin thought of private ownership as being incompatible with freedom of press and that modern technological means of information must be controlled for enjoying effective freedom of press. The theory advocated that the sole purpose of mass media was to educate the great masses of workers and not to give out information. The public was encouraged to give feedback as it was the only way the media would be able to cater to its interests.

Two more theories were later added as the "four theories of the press" were not fully applicable to the non-aligned countries of Asia, Africa and Latin America, who were committed to social and economic development on their own terms. The two theories were:

Development Communication Theory

The underlying fact behind the genesis of this theory was that there can be no development without communication. Under the four classical theories, capitalism was legitimized, but under the Development communication theory, or Development Support Communication as it is otherwise called, the media undertook the role of carrying out positive developmental programmes, accepting restrictions and instructions from the State. The media subordinated themselves to political, economic, social and cultural needs. There was tacit support from the UNESCO for this theory. The weakness of this theory is that "development" is often equated with government propaganda.

Democratization/Democratic Participant Media Theory

This theory vehemently opposes the commercialization of modern media and its top-down non-participant character. The need for access and right to communicate is stressed. Bureaucratic control of media is decried.

MAGIC BULLET/ HYPODERMIC NEEDLE/ STIMULUS RESPONSE THEORY

Before the World War I, there was no separate field of study on Communication, but knowledge about mass communication was accumulating. An outcome of World War I propaganda efforts,

the **Magic Bullet** or **Hypodermic Needle Theory** came into existence. It propounded the view that the mass media had a powerful influence on the mass audience and could deliberately alter or control peoples' behavior.[3]

Klapper (1960) formulated several generalizations on the effects of mass media. His research findings are as follows: "*Mass-media ordinarily does not serve as a necessary and sufficient cause of audience effect, but rather functions through a nexus of mediating factors and influences. These mediating factors render mass-communication as a contributory agent in a process of reinforcing the existing conditions.*"[4]

The main mediating factors which he considers responsible for the functions and effects of mass communications are –

Selective exposure i.e., people's tendency to expose themselves to those mass communications which are in agreement with their attitudes and interests; and selective **perception and retention** i.e., people's inclination to organize the meaning of mass communication messages into accord with their already existing views.

TWO STEP FLOW THEORY

In the early 40"s, before the invention of television, **Lazarsfeld, Berelson and Goudet** conducted an American survey on mass campaigns. The study revealed that informal social relationships had played a part in modifying the manner in which individuals selected content from the media campaign. The study also indicated that ideas often flowed from the radio and newspapers to opinion leaders and from them to the less active sections of society. Thus, informal social groups have some degree of influence on people and mould the way they select media content and act on it.[5]

Fig. 1.

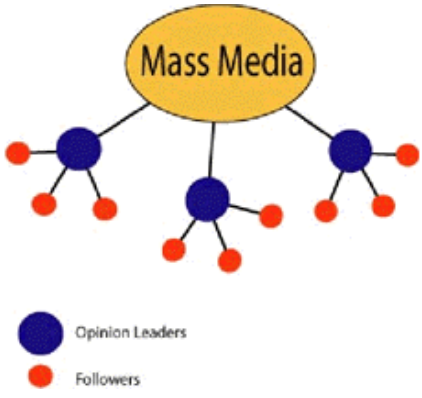

Source: CIA Advertising at www.ciadvertising.org/ortega/Theories.htm

ONE STEP FLOW THEORY

This theory simply stated that mass communication media channels communicate directly to the mass audience without the message being filtered by opinion leaders.

MULTI STEP FLOW THEORY

This was based on the idea that there are a number of relays in the communication flow from a source to a large audience.

Media Dependency Theory

This theory is developed by **Ball-Rokeach and DeFluer**, the key idea behind this theory is that audiences depend on media information to meet needs and reach goals, and social institutions and media systems interact with audiences to create needs, interests, and motives in the person. The degree of dependence is influenced by the number and centrality of information functions and social stability.[6]

Social learning theory

This theory is formulated by **Albert Bandura** at Stanford University, this specifies that mass-media messages give audience members an opportunity to identify with attractive characters that demonstrate behavior, engage emotions, and allow mental rehearsal and modeling of new behavior. The behavior of models in the mass media also offers vicarious reinforcement to motivate audience members' adoption of the behavior.

Social media and changing attitude

Social media is the part of electronic media and it has shape the behaviour, patterns of the interaction in the society. By now, we are all aware that social media has had a tremendous impact on our culture, in business, on the world-at-large. Social media websites are some of the most popular haunts on the Internet. They have revolutionized the way people communicate and socialize on the Web.

However, aside from seeing your friends' new baby on Facebook, or reading about Justin Bieber's latest brush with the law on Twitter, what are some of the real impacts, both positive and negative, that social media has had on our society?

Here is a closer look at the effect of social media on politics, business, socialization as well as some of the negative effects such as cyber bullying and privacy.

Impact on Politics

Every politician worth his salt needs to jump on the social media bandwagon. This is because social websites have played an important role in many elections around the world, including in the U.S., Iran, and India. They have also served to rally people for a cause, and have inspired mass movements and political unrests in many countries.

Impact on Business

Net savvy companies are using social media to advertise their products, build customer loyalty and many other functions. Interactions and feedback from customers help businesses to understand the market, and fine-tune their products and strategies. Many firms organize contests and give away prizes to enthuse consumers to visit their social website page more often. Compared to television advertisements and other expensive forms of marketing, social media presence is a cheap and effective means to enhance brand image and popularity.

Effect on Socialization

Social networks offer the opportunity for people to re-connect with their old friends and acquaintances, make new friends, trade ideas, share content and pictures, and many other activities. Users can stay abreast of the latest global and local developments, and participate in campaigns and activities of their choice. Professionals use social media sites like LinkedIn to enhance their career and business prospects. Students can collaborate with their peers to improve their academic proficiency and communication skills. You can learn about different cultures and societies by connecting with people in other countries.[7]

Negative Effects of Social Media

Unfortunately, there are a few downsides too to social networking. Many introverts and socially reclusive users place too much emphasis on virtual interaction, and ignore the real world outside. Read on to learn about a few more negative repercussions of social media.

Cyber Bullying and Online Harassment

If you are not careful, unscrupulous people can target you for cyber bullying and harassment on social sites. School children, young girls, and women can fall prey to online attacks which can create tension and distress. If you are a victim of cyber bullying, do not take it lying down, but try to take appropriate legal action against the attacker.[8]

Impact on Productivity

Many companies have blocked social networks on their office Internet as addicted employees can distract themselves on such sites, instead of focusing on work. In fact, studies show that British companies have lost billions of dollars per year in productivity because of social media addiction among employees.

Impact on Privacy

If you are not careful, what you post on the Net can come back to haunt you. Revealing personal information on social sites can make users vulnerable to crimes like identity theft, stalking, etc. Many companies perform a background check on the Internet before hiring an employee. If a prospective employee has posted something embarrassing on social media, it can drastically affect their chances of getting the job. The same holds true for our relationships too, as our loved ones and friends may get to know if we post something undesirable on social networks.

Conclusion

Social media has its advantages and drawbacks as revealed in this article. It is up to each user to use social sites wisely to enhance their professional and social life, and exercise caution to ensure they do not fall victim to online dangers.

References

1. James Curran (2005), ‘ Mass Media and Society’ Bloomsbury USA; 4 edition
2. Jacobs Norman(1994), Mass Media in Modern Society, Transaction Publishers U.S.A.
3. Gorham John (2002), Mass Media , TMH
4. Biagi Shirley (2014), Media / Impact: An Introduction to Mass Media, California State University.

5. Haralambos & Holborn (2011), Sociology: Themes and Perspective, Collins.
6. Kalawat W. James(2014), An Introduction to Psychology, Belmont USA
7. Hunt Tara(2010), The power of social Networking, Three river press.
8. Kumar D Shiva (2009), Socila media changing relationship, The economic times.

●

A CONTRASTIVE STUDY OF HINDI-GERMAN SOUND SYSTEM

*DR. PREM NIWĀS SINHĀ**

This paper deals with the contrastive study of sound system in Hindī and German (Deutsch) languages. Of course, historically both Hindī and German languages belong to the indo-European language family; yet both the languages belong to different sub-families, i.e. Hindī belongs to modern Indo-Aryan while German belongs to West Germanic within the Germanic branch. Hindī is written in Devanāgarī script while German is written in two styles,

(I) Gothic – is written using the Latin alphabet, and (II) the roman script. Both the languages are written from left to right.

Hindī is official and national language of the Federal Government of India. It is official and state language of Delhī, Bīhar, Uttar Pradesh, Madhya Pradesh, Rājasthān, Haryānā, Himāchal Pradesh, Jhārkhand, and Chhattisgarh and Uttarākhand states. It is spoken in other parts of India, i.e. Nepāl, Banglādesh, Pākistān, South Africā, Mauritius, Fijī, Surinām, Guyānā, Trinidād and Tobāgo. It is currently used by about 545 million speakers. [1]

German is official and national language of the federal Republic of Germany, the German Democratic Republic Austria and Switzerland, Luxembourg, Liechtenstein, Belzium etc. It is used by over 94 million speakers within Europe. [2]

The characteristic features of a language are constituted by the range of vowel and consonant quality. The proportion of vowel and consonant sounds varies from language to language.

The paper attempts to focus on similarities and dissimilarities in segmental sound system of both the language. The main approach of this study is descriptive.

The Hindī alphabets consist of 46 (Fourty Six) segmental phonemes, where 10 are vowels and 36 are consonants; while 26 segmental phonemes are in the German alphabet, where 5 are Vowels and 21 are consonants.

"The Sound system of Hindī and German"

1(a). The Vowel phonemes of Hindī.

In Hindī vowel is called Loj /[svar]. The vowel phonemes of Hindī are normally classified according to height of tongue (high, mid and low), tongue advancement (front, central and back), and lip rounding (rounded and unrounded). There are two types of Hindī Vowels, (i) monophthong, and (ii) Diphthong. Monophthong vowels are called pure vowel.

1. Monophthong : The monophthong Vowel phonemes of Hindī are as follows:

v vk b bZ m Å , ,s vk vkS

a/ə ā/a: i ī/i: u ū/u: e ai o au

Note:

i The two sign (–) anusvār, i.e. placed above a vowels or consonant. vaM (an), e.g. vad /ank (marks), jax /rang (colour); and visarga (:), i.e. vk% (ah): is transliterated as g {h}); e.g. iqu% @punah (again), are also included.

ii The nasals combine only with consonant of their own class (Varga) or with another nasal. e.g. dax u / kangan (Bangles). The nasals can be replaced by Anusvār, e.g. iaM[kk / Pankhā (fan) is also written as ia³[kk/ Pankhā.

iii The nasal e@ m / occurring at the end of a word and followed by a consonant changes to anusvār e.g. le (sam) + lkj (sār) = lalkj (sansār) – world etc. [3]

iv. The retroflex vowel _/rī occurs only in Sanskrit word borrowed into Hindī. It does not represent a single vocalic sound in Hindī. It is pronounced as a combination of r and ī. e.g. _@**rī -** rīn (debt).

v. The sign chandrabindu (ँ) occurs above a vowel or a consonant. e.g. vk[k / ã:kh(eye). pkn @ chã:d (moon), but anusvār in panek / chandramā

---

* Guest Professor, Department of Modern Languages and Linguistics, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi, U.P.

**This article is a revised version of the paper presented at the 28th all India Conference of Linguistics, Banaras Hindu University, Varanasi U.P. on 2nd – 4th November, 2006.

(moon). The sign (˘) vk indicates English o in words like MkDVj (doctor) etc.

II. Diphthong: There are two diphthongs: ,s (v $ b)/ ai (a+i) , and vkS ¼v $ m½ / au (a+u).

The vowels are classified into two groups.

gLo / harswa (short) and nh?k / dirgha (long).

i. Short Vowels : v**/**a, b**/**i] m**/**u. ,@ **e,** vk @ **o**

ii. Long Vowels: vk**/ ā/a:**] b@ ī**/i:**] Å@u/u: ,s@ **ai,** and vk@au.

The vowels are indicated as:

k] f] h] ¨] ©] ª] «] k] k] k] ¼

ā/a: i ī/i: u ū /u: e ai/ɛ o au/ə an ah

These indications are in intrasyllabic vowel forms i.e. called mātrā and combined with preceding consonants and are also called bārahkharī because these are twelve in number. e.g.

d] dk] fd] dh] di] dq] de] dS] dk] dk] do] d¼

ka/ə kā/a:,ki, kī/i:, ku, ku/u:,ke, kai, ko, kau, kan, kah

These are also called kakaharā and are found in sequence upto K@**gyə**

Vowels are represented differently according to whether the comprise entire syllables or are parts of syllables i.e. immediately preceded by a consonant, thus, the symbol b@ **ī** represents the syllable ī/i: , but in the syllable dh@kī, it has the shape h which is adjoined to the symbol for d / k , resulting in dh/ kī/i:, Even though each consonant symbol represnts a consonant plus the inherent vowel, a word written as dy/kal /kalə, is not pronounced as kələ, it is pronounced as kəl (yesterday, tomorrow). That is, all the final inherent vowels are dropped in pronunciation.[4]

The vowels subscripts/ intrasyllabic forms ¨] © are written below the vertical stroke of a character if it has running throughout its height, otherwise usually under the centre of the character . e.g.

d©@ku, d©@kū/u:, etc. but .#@rū, :@ru/ū:, are written as #= j$m (r+u); : ¾ j$Å (r+ū/u:)

All the vowels are voiced.

Related examples are as follows:

i. v / a/ə (short) : vukj/anār (pomegranate)

ii. vk/ ā/a: (long) : vke / ām (mango)

iii. b / i (short) : beyh/imalī (tamarind)

iv. b©/ ī/i: (long) : b©[k / i:kh (sugarcane)

v. m/ u (short) : i=/ putra (son)

vi. Å/u/u: (long) : fgUn/ Hindu (a caste)

vii. ,/e (short) : ,Mh/ eṛī (heel)

viii. ,s/ai (long) : ,sud/ ainak (mirror)

ix. vk/o (short) : vkB/ oṭh (lip)

x. vk/au (long) : vkjr/ aurat (lady/ woman)

xi. _/ rī/i: : _f"k/ rishi (saint)

xii. v/ an : vx/ ang (organ)

xiii. v¼/ ah : vr¼/ atah (hence)

The vowel phonemes of Hindī can be presented in the following way.[5]

Table – 1

	Unrounded		Rounded
	Front	Central	Back
close high	b**/i** b©/**ī/ i:**		m/**u** Å/**u/u:**
half close higher mid	, @ **e**		vk @ **o**
half open lower mid	,s @**ai /ɛ**	v@**a/ə** **(**inherent**)**	vk@**au** / ˃
open low		vk @**ā/a:**	

1(b). **The vowel phonemes of German**

In German, vowel is called Vokal [voka:l]. The vowel phonemes of German are also classified according to height of tongue (high, mid and low), tongue advancement (front, central and back), and lip rounding (rounded and unrounded).

There are two types of vowel in Geman also.

I. Monophthong II. Diphthong.

I. Monophthong : The monophthong vowel phonemes are as follows:[6]

A/a - [a/a:] / (ah) - v @ vk]

E/e - [e/e:] / (eh) - , @ ,]

I/ ī - [i/i:] / (ee) - b @ b]

O/o - [o/o:]/ (oh) - vk @ vk]

U/u - [u/u:]/ (oo) - m @ Å]

Hence, vowels can be lengthened by adding an –h or by using a double vowel.

These vowels are classified into two groups.

Related examples are as follows:
(i) Short and (ii) Long

SHORT

1. a / v e.g. Mann [man] eu % man
2. e / , & Melodie [melodi :] (eykMh) melody
3. i / b & Milch [milç] – (feY'k) – milk
4. o/ vk & oft [ˀft] (vk¶V) – often
5. (i) u/m – Butter [bōtər] (cVj) – butter
   (ii) u/œ/ vk, & Curry [kœri] (dk, jh) curry powder

LONG

a:/ vk & Vater [fa:tər] (QkV·j) father

e:/ ,s & Nebel [ne:bəl] (uc·y)- fog

i:/ bZ & Kino [ki:no] (dhuk) – cinema

o:/ vkW & Brot [bro:t] (ckV) – bread

u: / Å & Stute [*f* tu:tə] ('V·) – mare

Note:

A. Unstressed –e- is very common in German. It is opposite of e-ə i.e. written in Devnāgarī as · which is known as schwa (avagarh) i.e. also called inherent vowel. e.g. Garten [gartən]. xkjV·u - garden, etc.

B. The final–e-in spoken German is frequently dropped when the last syllable is unstressed. e.g. Ich hab (b'k gkc·) in stead of Ich habe (b'k gkc) - I have, Tag/Tage [ta:gə] – (Vkx·) – day, Lampe [lampə]- yEi· - lamp etc.

Umlaut: There are three umlauts in German; Vowels which carry a double dot on top are called umlaut. i.e. Ä/ä , Ö/ö and Ü/ü . German is the only Indo- European language to make such extensive use of this feature; these are modified vowels.[7]

The umlauts are also classified into short and long.

Example:

ä [ɛ]/(a+e) = /e/-, März [mɛrts] (eRl)- March	ä[ɛ:]/ ai-(a+e:)= ,s zählen [tsɛ:lən] (Rly·u)- count
Ö[œ]-(o+e) & ओए zwÖlf [tsvœlf] (Rlovk,YQ) – twelve	Ö[ø:] – vkW schön [ʃø:n] (“kku)- beautiful
ü[y]/(u+i = y)= mh@bZ fünf [fynf] (¶;hUQ) - five	ü[y:] (u+i: = y:) mhW @ bZ Schüler [fy:lər] ('khy·j) - pupil

II. Diphthongs: There are five diphthongs in German.[8] These are not exactly reproducible in writing.

e.g. - ei (vkb) – nein [nain] (ukbu) – no.

au (vkm) – Haus [Haus] (gkml) – house.

eu (vk;)- Europa [əyropa] (vk;jkik) Europe.

ai (,s) - Kaiser [kaizər] (dstj) Emperor.

ui (mbZ) - Pfui [pfui] (lQb) – ugh.

Other are– äu[vk;]-Häuser[hˀyzər]-(gvk;t·j)-houses.

ou (m)- coupon[kupo;]-(dwik)-coupon.

The vowel phonemes of German can be presented as follows: [9]

Table: 2.I

	Unrounded		Rounded
	Front	Central	Back
High	i: / bि i/b		u: / Å u/ ु
mid	e: , ेि ei/ vkbि e/ , े	ə/v	o:/vkी o/ vk
Low		a/v] vk a: / vk	

ai/ , ैि au/ vkु

Table : 2.II (Umlaut) [10]

	Fornt		Central		Back	
	Unrounded	Rounded	Unrounded	Rounded	Unrounded	rounded
High		ü=y/ई				
mid		ö =ø/ओ				
Low		ö=œ/ओए	ä= ɛ/ए			

Contrastive points of vowel phonemes of Hindī and German are as follows:

	Hindī	**German**
Similar vowels	v@a] vk@ā/a:] , @ e] b@i] vk@o] ु@u] etc.	a/v]vk, e/ , , i/b, o/vk, u/ु, etc.
Dissimilar vowels	bि@ī/i:] v@ a] , @ e] vk@ au] vk@ ā/a:] etc.	y/bि, ee/bि, ie/bि, ə /v, eh/ , , au/vkु, a/v, a:/ vk, etc.
Shrot and Long vowels	Present	Present
Diphthongs	Present ैि@ai] vk@au]	Present au, eu , ei , äu , etc.
Mātrā (intersyllabic vowels forms)	Present dk@kā/a:]dh@kī/i:] dk@ko] etc.	Absent
Anusvār, visarga and chandrabindu	&] ः] • Present	Absent
Umlaut(modified vowels)	Absent	Present
Inherent vowel	Present v @ ə, ·	Present e/ ə / ·
In both the languages shrot and long vowels are predominant features.		

2(a). The consonant phonemes of Hindī

In Hindī consonant is called 0;atu [vyanjən] . There are thirty six (36) consonant phonemes in Hindī, where thirty three are pure consonants and three are conjunct consonant. The consonantal phonemes are classified on the basis of (I) Voicing: voiceless and voiced (ii) Aspiration: unaspirated and aspirated. (II) Articulation: (a) place of articulation and (b) manner of articulation.

The consonant phonemes can be divided into velar, uvular, Palatal, Retroflex , Dental , Bilabial, Labio-dental, Alveolar and Glottal and Stop, Fricative, Nasal, Lateral, Trill, Sibilant and Semivowel; voiced-voiceless and aspirated– unaspirated as well.[11]

The consonant phonemes of Hindī are as follows:

d	[k	x	?k	³	&	d ox
kə	khə	gə	ghə	ŋə		(k class)
p	N	t	>	´	&	p ox
čə	čhə	jə	jhə	ŋə		(č class)
V	B	M	<	.k@jkk	&	V ox
ṭə	ṭhə	ḍ	ḍhə	ŋə		(ṭ class)
Rk	Fk	n	/k	u	&	r ox
tə	thə	də	dhə	nə		(t class)
Ik	Q	c	Hk	e	&	Ik ox
pə	phə	bə	bhə	mə		(p class)
;	j	y	o	'k		
yə	rə	lə	və	śə		
"k	l	g	¼{k	=	K ½	
şə	sə	hə	kşh	trə	gyə	
¼M½	¼<½					
ḍə	ḍhə					

Additional consonants (i.e. loan phonemes/ words from Persian, Arabic and Turkish) are:

d	[k	x	t	Q
kə	khə	gə	zə	fə

Hence the first twenty five consonants - d/kə to e/ mə are divided into five classes, i.e. called d ox/ k class, p ox/ č class, V ox / ṭ class, r ox/ t class and Ik ox/ p class. The fifth class sounds of each class are nasals: ³/ ŋə, ´/ ŋə, .k/ ŋə, and u/nə and e/ mə .

Note: - j@rə - is written in different super-script forms e.g. ( ) Øe/ krəm, Je/ šrəm, ( ) de / kərm, (^) jk"V / rāştrə, ¼ ½ Ñ".k/ krişhən, etc.

The consonants donot indicate the consonant sounds only. They stand for the particular consonant. **v/a/ə.** This is called inherent v **/a/ə** e.g. d/ k –> d $ v / k + ə , etc.

The inherent v@ə, when occurring at the end of a word is, as a rule silent. e.g. dke / kāmə – work, is pronounced as dke / kām, txr / jagat – txr (world), etc. ( ) , it is called gyr / halant- ending in a consonant.

There are three types of conjugated consonants (consonant clusters) in Hindī. e.g.

(i)

{k@d $ "k & kşə e.g. – {kek @ kşamā

= @ r $ j & trə e.g. – f=dk.k @ trikoŋ

K @ x $; & gyə e.g. – Kku @ gyānə

J @ “k $ j & srə e.g. – ifjJe @ prišrəm

(ii)

Ug @ u $ g & nh, e.g. dUg;k @ kanhaiyā

Re @ r $ e & tm, e.g. egkRek @ mahātmā

PN @p $ N & ččhə, e.g. vPNk @ ačchā

| @ n $; & dyə, e.g. fo|k @ vidyā

Rd@ r $ d & tkə, e.g. mRd'k @ utkərş

Eg @ e $ g & mhə, e.g. rEgkjk @ tumhārā

{e@ {k $ e &kşmə, e.g. y{e.k@lakşməŋ etc.

(iii)

;Xed (yugəmak sounds) – couple consonant phonemes are also found. e.g.

Uu @ U $ u @ nnə - iIUurk @ prasənntā

TT @T $ T @ jj – mTToy @ ujjval

Ùk @ R $ r @ tt – fpÙk @ čitt

Ee @ E $ e @ mm – mEehn @ ummīd

Í @ V $ V & t t, e.g. feÍh @ miṭṭī

Related examples are as follows:

d @ kə - dcrj @ kəbutər – pigeon.

[k @ khə – [kjct @ khərbujə – muskmelon.

Xk @ gə - xeyk @ gəmələ – ā flower pot.

?k @ ghə - ?kMh @ ghəṛī – watch.

³ @ ŋə – x³xk @ gəŋgā – a river.

p @ čə – pEep @ čəmməč – spoon.

N @ čhə – Nkrk @ čhātā – umbrella.

Tk @ jə – t y @ jəl – water.

> @ jhə - >Mk @ jhənḍā – flag.

´ @ jnə – iP´ @ pŋ əč - five.

V @ ṭə – VekVj @ ṭəmāṭər – tomato.

B @ ṭhə – BBjk @ ṭhəṭherā – brazier.

M @ ḍə – Mky @ ḍāl – branches.

< @ ḍhə - <Ddu @ ḍhəkkən – lid.

.k @ ŋ ə – dk.k @ koŋ - angel.

Rk @ tə – rfd;k @ təkiyā – pillow.

Fk @ thə – Fkkyh @ thālī – dish.

n @ də – nokr @ dəwāt – inkpot.

/k @ dhə - /ku @ dhən – wealth.

u @ nə – ued @ nəmək – salt.

Ik @ pə – i ihrk @ pəpītā – papāyā.

Q @ phə - Qy @ phəl – fruit.

Ck @ bə – cVvk @ bəṭuā – purse.

Hk @ bhə – HkDr @ bhəkt – devotee.

Ek @ mə – eNyh @ məčhəlī – fish.

; @ yə- ;K @ yəgyə – sacrifice.

j @ rə – jFk @ rəth – chariot.

y @ lə – ydhj@ ləkīr – a line.

o @ və – oLrq @ vəstu – thing.

'k @ śə – 'kgj @ śəhər – city.

"k @ ṣə - "kVdk.k @ ṣətəko ŋ - a hexagon.

Lk @ sə - lkxj @ sāgər – sea.

g @ hə – gFkkMk @ həthauḍā – hammer.

{k @ kṣə – {kf=; @ kṣətriyə – a Hindu caste.

= @ trə – f='ky @ triśhul – trident.

K @ gyə – Kku @ gyān – knowledge.

M @ ḍ̣ə - tM @ jəḍ̣ - root.

< @ ḍ̣hə – i<uk @ pəḍ̣hənā – to read.

(M @ ḍ̣a and < @ ḍ̣ha – are allophone of M @ ḍ̣a and < @ ḍ̣ha .

These are additional phoneme are made by a mark (^) under M @ ḍ̣a and < @ ḍ̣ha . These phonemes are always used in the middle and final position of the word.)

'k @ ś @] "k@ṣ @ and l @s@ are sibilants or hissing sounds.

Loan phonemes (words) from Persian and Arabic. In these languages a dot / point (.) i.e. called uqrk (nuqtā) is used under some consonant phonemes e.g. d @ kə , [k @ khə etc.

Related example are as follows:

d @ k̤ə – dye @ k̤ələm - pen

[k @ k̤hə – [kcj @ k̤həbər – news

Xk @ g̤ə – xty @ g̤əzəl – a popular poetic form of urdu/ hindī

Tk @ z̤ə – tcku @ z̤əbān – tongue, language

Q @ p̤hə/ fə – Qty @ f̤əzul – useless

The consonant phonemes of Hindī can be presented in the following way (Table 3).

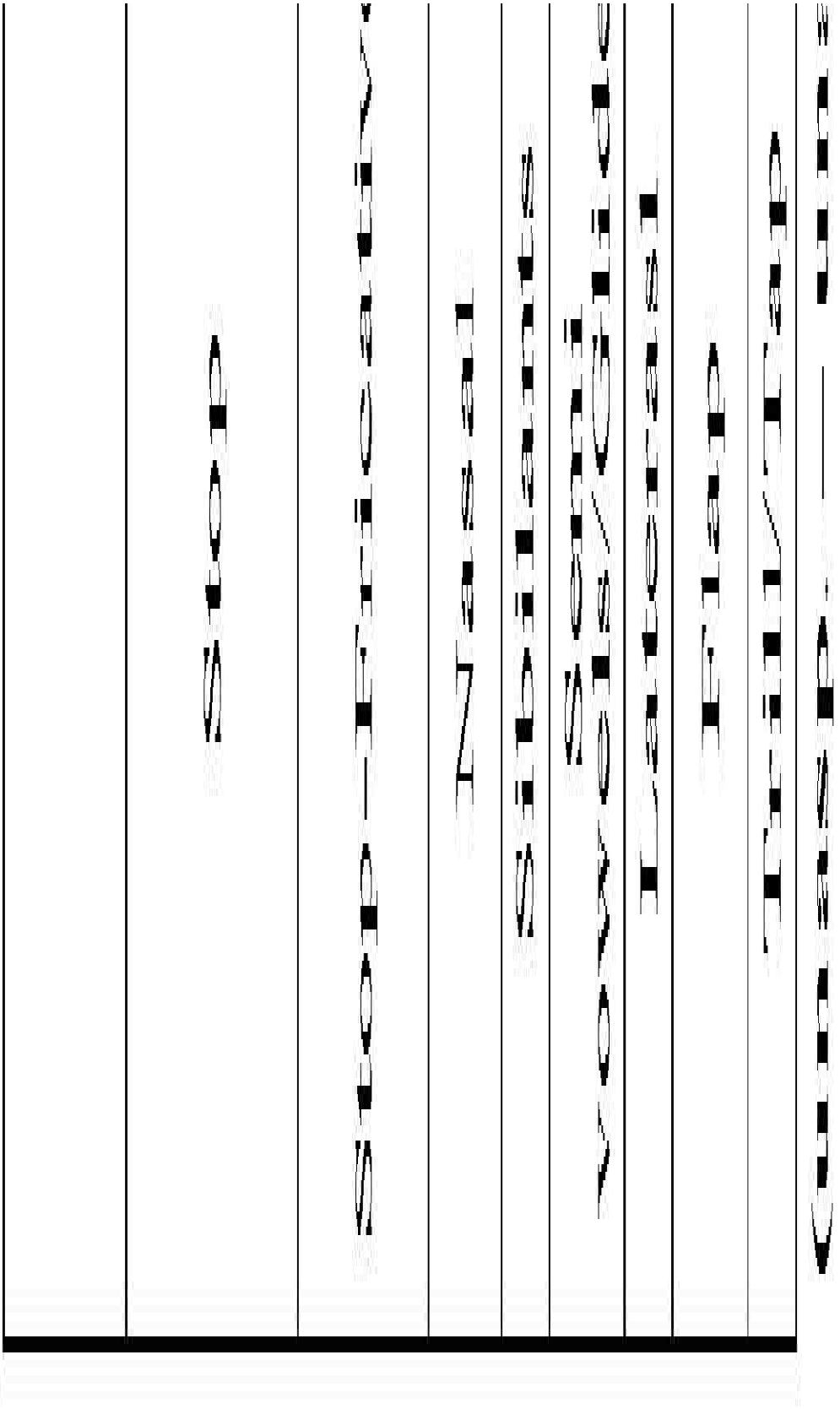

2 (b). **The consonant phonemes of German**

In German consonant is called Konsonant [kɔ-nzonant]. The twenty one (21) consonant phonemes of German are also classified on the basis of (i). Voicing- voiceless and voiced and (ii). Aspiration – unaspirated and aspirated. (iii). Articulation – (a) place of articulation and (b) manner of articulation.

The consonant phonemes can be divided into Bilabial, Labiodental, Dental, Alveolar/Retroflex, palato- alveolar, Palatal, Velar and Glottal; and Stop, Fricative, Nasal, Lateral, Trill and Semi-vowels.

The consonant phonemes of German are as follows : [13]

B b [be :] bay – c e.g. [bindən] (fcM·u) – bind

C c (i) [k] / d e.g. Camp [kamp](di) - camp

(ii) [tse:] tsay/ Rl@R'k

e.g. Cellist [tʃɛlist](R'kfyLr) – cellist

D d [de:] day – M@n

e.g. Danken [dankən](Mkd·u) – thank

F f [ɛf] ef - Q

e.g. Freund [frɔynt](Ýk;UV) – friend

G g [ge :] gay - x

e.g. Gehen [ge: ən](x·u) – go

H h [ha :] hah - g

e.g. haben [ha:bən](gkc·u) – have

J j [jat] yot - ; e.g. ja [ja:] (;k) – yes

K k [ka:] kah - d e.g. Kind [kint](fdUV) – child

L l [ɛl] el - y

e.g. lassen[lasən] (ykl·u) – stop,leave

M m [ɛm] em - e

e.g. Mann [man] (eu) – man, husband

N n [ɛn] en - u

e.g. nehmen[ne:mən] (ue·u)- take

P p [pe:] pay - lk

e.g. Papier [papi:r] (ikfij) – paper

Q/q **Q/q** [ku:] ku - d

e.g. Quartal [kvarta:l] (DokV·y)- quarter

R r [ɛr:] er - j

e.g. Reisen [raizən] (jkbt·u) – journey

S s [ɛs] es - l

e.g. Smoking[smo:kiŋ] (lekfdx) dinner- jacket

T t [te] tay - V@r e.g. Tag [ta:k] (Vkd) – day

V v [fau]fow - Q e.g. Vater [fa:tər] (QkV·j) – father

Ww[ve:]vay - o e.g. wann [van] (oku) – when

X x [ix] iks - Dl

e.g. x-mal [iksma:l] (bDlelky) – any number of time

Y y [ypsilən] ipsilon - ;@b

e.g. typisch [ty:piʃ] (Vhfi'k) – typical

Z z [tsɛt] tset - ts/Rl

e.g. Zimmer [tsimər](fRle·j) – room

Note:

i. A peculiar sharp sound β (ess – tsett/ɛszett or scharfes ɛs.) special kind of "s" is sometime written instead of ss.

e.g. essen [ɛsən](,l·u) – iβt(bLV) it is pronounced like s / l

e.g. groβ [gro:s](xkl) – big, large.

The distinction between β and ss is a particular feature of German in Germany. In Switzerland and Austria ss is used throughout. Both ss and β are voiceless consonants. [14]

Vowel becomes long and short according to their position, i.e. vowel is placed before β – ss[15]

e.g. vowel (long) – β : fuβ [fu:s] (Ql) – foot

vowel (short)– β : fluβ [flus] (Qyl)– river

vowel (long) – β : schlieβen [ʃli:sən] ('yhl·u) – close

vowel (short)– ss : Verbessern [fɛrbɛsərn] (Qjol·u) – correct, improve

ii. The pronunciation of consonant phonemes are different according to their position and conjugation in a word. e.g.

B	b / c	i. Bad [ba:t] – ckV & bath ii. Abend [a:bənt] - vkc·V & evening
	p/ i	Kalb [kalp] – dkYi & calf
C	k/ d	Cafe [kafe:] – dQ & café
	tf/ R'k	Cello [tfɛlo] – R'kyk & cello
	ts / Rl	Circa [tsirka] – fRljdk & about, approximately
D	d/ M]n	dann[dan] Mku & then
	t / V]r	Kind[kint] – fdV@r & child
G	g / x	geben[ge:bən] – xc·u & give
	z/ t	Garage[gara:zə] – xjkt· & garage
	k/ d	Tag [ta:k] – Vkd & day
S	s/ l	lassen[lasən] – ykl·u & leave,let
	z/ t	i. sagen [za:gən] – tkx·u & say ii. tausend[tauzənt] – Vkm tUV & thousand
J	y/ ;	Ja [ja:] ;k & yes
	z/ t	Jacket [ʒak3t] – tkdV & jacket
	dz/ t	Joggen [ḍ3əgən] – tkx·u & jog
V	v/ o	Vocal [voka:l] – okdky & vowel
	w/ o	was [vas] – ok & what
	f/ Q	Volk [fɔlk] – QkYd & people, nation
g/ t		Genie [ʒeni:] – tuh & genius
tz/ts/Rl		Satz [zats] – tkRl & sentence
w/v/o		abwehr [apve:r] – vioj & defence

iii. Consonant clusters are also found. The pronunciation of compound consonant phonemes (consonant clusters) in a word are different. e.g.

ck / k/ d & Knick [knik] (dfud) – bend

ch / k/ d & Cholera[kolera](dkyjk) – cholera

ch / x/ [k & Buch [bu:x] (c[k) – book

ch / *f*/ 'k & Charme [*f*arm] ('kke) – charm

ch /ç/ 'k & ich [iç] (b'k) – I, but g with vowel i- ig –> ç/'k – König [kø:niç] (dkfu'k) - king

sch/ *f* / 'k & Tisch [ti*f*] (fV'k) – table

tsch/t*f*/V'k &Deutsch[dɔyt*f*] (nk;V'k&@nk;p) - German

sp/*f*p/ 'Ik & spielen [*f*pi:lən] (f'iy·u) – play

st / *f*t/ 'V & stehen [*f*te: ən] ('V·u) – stand

(At the beginning of a word)

st/st/LV@r& Restaurant [rɛstorã:] (jLVkjk) – restaurant

(in the middile of a word)

th / ṭ/ V & Theater [ṭea:ṭər] (VvkV·j) – theatre

tio/tsio/fRlvk & Nation [natsio:n] (ukfRlvku) – nation

ss / s/ l &Flüssig [flysiç] (¶yhflk) – liquid

ng/ŋ/ ³ & singen [ziŋən] (ft³·u) – sing

tt / t/ V& futter [fuṭər] (QV·j) – fodder, feed

ph/ f/ Q & Phase [fa:zə] (Qkt·) – phase

ff/ f/ Q & Neffe[nɛfə] (uQ·) – nephew

tz/ts/ Rl & Netz [nɛts] (uRl) – net

zz/ts/ l & Puzzle[pasəl] (il·y) – jigsaw

qu/kv/Do & Quader[kva:dər] (DokM·j) – sqauare

iv. (i) - (e) r : A final r, including r in the syllable 'er' is either vocalized or completely silent.

e.g. Bier [bi: ə] – ch· & beer. etc.

but in Theater [ṭeaṭər] – VvkV·j & 'r' is not silent

(ii) - the 'h' after a vowel makes the sound long.

e.g. Bahnh of [ba:nhof] – ckugkQ & station. 'h' is silent.

The 'h' after't' does not sound at all.

e.g. Apotheke [apotekə] – vikVd· & drugstore

'h' is silent in gehen [ge:ən] – x·u & go

stehen [*f*te: ən] – 'V·u & stand

But it is not silent in gehören [gehø:rən] – xgkj·u & belong

(iii) – ig the suffix -ig is represented by [-iç] in the IPA [-iç]

indicates the basic form is pronounced differently in final position either [-iç] in northern Germany or [-ik] in southern Germany, while the inflected forms [-ig-] are pronounced with the intervocalic [-g-] , e.g.

selig [ze:liç] – tfy'k & happy (North) [ze:lik] – tfyd & happy (south), but genrally : selige, seliger, seliges [ze:ligə , ze:ligə, ze:ligəs] etc. [16]

The consonant phonemes of German can be presented in the following way : Table-4.

Table-4

	Bilabial		Labio-dental		Dental-alveolar		Palatal		Velar		Uvular	Glottal
	Voiceless	Voiced	Voiceless	Voiced	Voiceless	Voiced	Voiceless	Voiced	Voiceless	Voiced	Voiceless	Voiced
Stop	p/प	b /ब			t/ट	d/ड/द			k/क	g/ग	q/कू	
Plosive							c/क/त्स		ch/x/ख			
Fricative			f/फ	v/व/क	s/स/ज	z/त्स	sch/ʃ श ç/ श and g/ ɕ/ श		x/इक्स			h/ह
Nasal		m/म				n/न				ŋ/ङ		
Lateral					l/ल	r/र						
Semi-vowel	w/व						j/य,y/ई					

(Note: sch= ʃ/ ś/ श, ç: (i)- ch-ç / ɪ, (ii)- g- ç / श x- ch/ख, ŋ- ng/ङ are pronounced)

Contrastive points of consonant phonemes of Hindī and German are as follows:

	Hindī	German
(i) Similar consonant phonemes	d@ k, x@ g] t@ j] i@ p] Q@f, ph] c@ b] n@d e@m] u@n] y@ l] j@ r] l@ s] g@ h] V@ṭ ³@ŋ]	k/d, g/x, j/t, p/i, f/Q, b/c, d/n m/e, n/u, l/y, r/j, s/l, h/g, ṭ/V, ng/ŋ/³,
(ii) Dissimilar consonant phonemes	(i) l@s] c@b] n@d] 'k@ś] [k@kh] p@č] d@k] t@j x@g] o@v] Fk@th] Rl@ts] g@h] unslient (ii)any consonant phonemes never change into another	(i) s/t, b/i, d/V, M ch/sch/'k, ch/[k, tsch/p, ck/c/d, j/; g/d, v/Q, th/V, z/Rl, h/g, sometimes slient according to position in the word. e.g. gehen [ge: ən] – x·u & go (ii) the consonant phoemes b/d/g change into p/t/k
(iii) consonant cluster (iv) sequence of consonant class (v) nasal sounds (vi) semi – vowels	Present Present Five, voiced Present	Present Absent Two, voiced Present
(vii) In both the languages consonant phonemes are voiceless – voiced and unaspirated – aspirated in nature (viii) Hence, we find that there is a marked difference between the use of Hindī and German Consonant phonemes.		

Conclusion

On the basis of aforesaid discussion we find that Hindī sounds/phonemes are pronounced as these are written, but in the case of German, it is not written as it is pronounced. We also find that some sounds /phonemes of German are written in more than one way. I have given pronunciation of German sounds in Devnāgarī and Hindī in roman according to IPA (International Phonetic Alphabet) to learn both the languages correctly. Hence this study can be equally useful for the language teachers and learners as well of both the languages.

References

1. Hindī Wikipedia : Page 1-2
2. John, A. Hawkins : "German" in Major world languages edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 110.
3. Sharma, Dr. Aryendra : A basic Grammar of Modern Hindī (fifth edition 1994) Central Hindī Directorate. R.K. Puram, New Delhi, Page 15.
4. Kachru, Yamuna: "Hindī" in Major world languages. edt.: Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge Page 474.
5. Kachru, Yamuna: "Hindī" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 472.
6. Christine Eckhard - Black Ruth Whittle. German: Cassell Language Guide German Book Centre, 32 second Main road, CIT East Madras 35, Page 158, 1992.
7. Christine Eckhard - Black Ruth Whittle. German: Cassell Language Guide, German Book Centre, 32 second Main road, CIT East Madras, 35 Page 159-160, 1992.
8. Christine Eckhard - Black Ruth Whittle (1992) : German: Cassell Language Guide German Book Centre, 32 second Main road, CIT East Madras 35, Page 160.
9. John, A. Hawkins : "German" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 122.
10. John, A. Hawkins : "German" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 122.

11. Kachru, Yamuna: "Hindī" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 475.

12. Kachru, Yamuna: "Hindī" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 472.

13. Collins German Grammer : Harper Collins Publishers (Third edition 2011) Westerhill Road, Glasgo, Great Britain Page 198.

14. Christine Eckhard–Black Ruth Whittle (1992) : German: Cassell Language Guide (1992): German Book Centre, 32 second Main road, CIT East Madras 35, Page 162.

15. Heinz Griesbach, Dora schulz (1967) : Deutsch sprachelre für Ausländer, Max Hüeber verlag, München, Page 14.

16. Langenscheidt Basic German Voca-bulary Langenscheidt (1991): KG, Berlin and Munich Page 420.

17. John, A. Hawkins : "German" in Major world languages. edt. : Barnard, Comrie: (1987, second edition) Routledge, Page 122.

18. Collins compact German Dictionary: German – English, English – German (1st Edition 1993): Harper Collins Publisher Co. Ltd. London

●

THE CHRONOLOGICAL DEVELOPMENT OF INDIAN STRING INSTRUMENTS: ANCIENT PERIOD TO CONTEMPORARY PERIOD

SARADA PRASAN DAS AND DR. SWARNA KHUNTIA ***

As an integral part of Indian culture, which is contained with various fine arts, music holds its place at the paramount. With gradual development of civilization and the ever changing society, Indian music has come up with diverse musical styles. Historically, the Indian music is said to have emerged from the Vedic period, which can be traced from the Vedic literature and its effect is also contained in the Vedic texts. In terms of the core elements of Indian music, instrumental music is considered to be the complete representative of the actual art.

The term 'vādya' is derived from the Sanskrit Dhātu'Bad' which means 'speak'. So vādya defines an instrument which speaks or can be made to speak[1].

A genuine piece of Soulful music is derived from the subtle use of tone and rhythm in the instrumental music. If chronologically assessed, the importance of each instruments in all periods, we will come across the fact that each era had the impressive forms of 'Vīṇā' in the string instrument's category, in which several new instruments were invented with minimal change and innovation.

Mostly the string instruments were used in music from the ancient period to the present era, we can get its proof from the 'YajñavālakyaSmriti' written in the vedic period. Tohigh light the importance of vīṇā it has been said in 'YajñavālakyaSmiti' that –

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः
तालज्ञश्चाप्रयासेनमोक्षमार्गनिगच्छति॥

From the ancient period in Indian music, string instruments which had a greater expansion in all aspects was later ornamented with the name of 'Vīṇā'. Therefore it can be said that all the string instruments are indisputably the changed and the enhanced forms of "Vīṇā', which has gone through development for thousands of years to reach its present form.

From the Mohenjo-Daro and Harappa excavation we get clear facts that since the Sindhughatī's period music laid a prominent role and this finds its proof in the 3000 years old dancer's idol found there. But we don't have any clear fact about the available forms of music[2]. The advent of Vedic period starts from the arrival of the 'Aryan' who were very fond of music. During this period Music reached its peak[3].

In his book 'Bharatiya Sangīt Kā Itihas' page no-175, Thakur Jayadev Singh has explained the string instruments-

Tat, Tantu, Tantrietc these words derived from the prefix 'Tan'(तन्धातु) which means tensions of strings. String instruments or chordophones are musical instruments that produce sound from vibrating strings. In most string instruments, the vibrations are transmitted to the body of the instrument, which also vibrates along with the air inside it.It was not compulsory that those strings had to be made of Iron, Bras, Copper or any other metals. Earlier strings were also made of some kind of natural grass and gut of animal.

Ancient Period

From historical point of view Indian music originates from vedas. Among all the Vedas, Sāma-veda is considered to be the veda of music. Practically Sāma-veda is the bunch of SāmaMantrars from Rig-veda which are basically musical line (गेय). This tradition reciting Sāma-gān before the Yajña and rituals became the genesis of music. In the vedic period among all the forms of art, music had been recognized and approved as the principle art[5].Vedic period, Rāmāyana period, Mahābhārata period etc. are counted under the ancient period.

When we look upon the Vedic period we find that 'Vīṇā' the famous string instrument, being mentioned for the first time in Rig-veda, the first Vedic scripture.Vīṇā was used as an accompany instrument, while reciting Sāma- gān.

Descriptions of a lot of string instruments can be found in ancient period. Here I am giving a few examples among them, such as Vīṇā, Vīṇā,

* Research Scholar, Department of Instrumental Music (Violin), Faculty of Performing Arts, Banaras Hindu University, Varanasi.
**Supervisor, Assistant Professor, Department of Instrumental Music (Violin), Faculty of Performing Arts,, Banaras Hindu University.

EktantrīVeena, GottuVādya or MahānāyakVeena.

Vāṇa (वाण)

Vaan was a string instrument. There were many references of Vāṇa in Rg-veda and Atharva-veda. Vaan which had 100 strings was found in the sub content of Rg-veda row no.1/85/10. Vāṇa was made of the wood of Audumbar tree and it was covered by the skin of red sox. Then, after all this manufacturer methodologies 10 big holes were made and each hole wasknitted by 10-10 strings. So by this way there were total 100 strings used in Vāṇa. At times, some types of natural grass were used to make the strings of this instrument[6].

Vīṇā

The Vīṇā is one of the most beautiful instruments in North Indian as well as in south Indian Music. It is possibly the oldest instrument and finds mention in the ancient text.

The Sanskrit word Vīṇā (वीणा) (sometimes transliterated as vina) which is attested already in the Rigveda has designated in the course of Indian history a variety of instruments of various types, as it is a generic term for all kinds of string instruments. In the last centuries and today the instruments designated under the designation Vīṇā of which there are several kinds, have tended to be mostly instruments of the lute or cithar type, and recently the word was even applied to modified some ancient Vīṇā or Bin and Western guitars. But the early Vīṇās could be plucked string instruments of any type.

There has been much discussion and disagreement over the instrument called Vīṇā in the Vedic writings (1500-500 B.C.). Loosely translated, the Vīṇā means lute, and the ancient Vīṇā apparently was similar to the instruments used in the ancient Egyptian and Middle Eastern civilizations. It is widely believed that it had a hollow belly covered with a board or stretched leather. The belly was broader towards the back where its end is rounded and tapers toward the front, and it is continued into an upstanding curved arm. The strings are stretched one above the other, from this arm to the belly. These strings vary in their length. This kind of Vīṇā is found, although with minor variations, in the sculptures of the temples at Sānchi, Bhaja, and Bharhut (second to first century B.C.), at Amarāvatī (first to second century A.D.), at Nāgārjunkondā (second to fourth century A.D.), and at other places. It is depicted as being placed on the lap and played either with the fingers or with a plectrum[7].

EktantriVīṇā (One String Veena)

Ekatantrī Vīṇā, which consists of only one string, was made of bamboo. This twelve fingers length bamboo tube was played by placing it in the left hand. Whereas it was earlier known as Ghosak, Ghosavartī or BramhiVīṇā during the period of Bharat, Mataṇga and Nārada Muni, later it came to be known as 'EkatantrīVīṇā' during the times of Nānyadeva, sudhakalash and Sāraṇgadev[8].

GottuVādya or MahanayakVeena

GottuVādya was made of Ebony wood vkcuwl. The length and diameter of the wood were 3 inches and 1 inch respectively. The shape of this instrument was very similar to TanjouriVīṇā and one can produce a variety of melodious tunes from this Vīṇā[9].

Medieval Period

The Medieval period starts from 11th A.D. from this time onwards Indian classical music became sub divided in to north Indian classical music and South Indian Classical music. Another important thing that happened during this period was the classification of the instruments[10].

It was Bharatmunī, who first classified the four types of instruments in his Nātyasāstra.

ततंचैवावनद्धंचघनंसुषिरमेवचचतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यंलक्षणान्वितम् ।।

Bharatmuni divided all the instruments in four groups namely- Tat Vādya (String instrument), ṣusśīrVādya (Blown air instruments), AvanaddhVādya (percussion instrument), Ghana Vādya (Non-membranousive instrument) [11].

After Bharatmuni, many authorsclassified the instruments into various categories in their own ways. Considering the great numbers and the developed playing techniques of the string instruments, in medieval period and present era the string instruments have been classified in to two groups in the contemporary period. Those instruments in which the strings are played with strokes with help of a plectrum are called 'stroked string instrument (तत् वाद्य) and the other one, in which the strings are played with a 'Bow' are called 'Bowed string instrument' (वितत् वाद्य)

Esrāj, Sursingār, Surbahar, Rabab, Dilrubāetc are the string instruments which were popular in the medieval period and some of these instruments are still

in use till date. Among these instruments some are played with plectrum and some with the Bow.

Some example of the string instruments of medieval period

Esrāj

Esrāj is a musical bowed string instrument structurally similar to sitar. The arrangement of strings and frets on Esrāj's neck is very similar to the sitar's neck. Whereas the tabli (Top covering of resonator) part of sitar is made of some special types of wood, but in case of Esrājthe animal skin is used on the top of resonator (tabli). Since it is played with bow, the build of its belly and the arrangement for the placement of bridge look similar to Sarangi[12].

Rabāb

Rabab is an Arabic word. Lot of verities of this instrument can be found in Arabiancountries. It can be played by stroke as well as by bow. The Rabab played by stroking with the help of plectrum was popular in India during the medieval period. Ain-E-Akbari (1590 A.D.) and RāgaDarpan (1617 A.D) bear the descriptions about Rabab.

Rabab is made of 3 to 3 ½ feat length empty wood which is known as neck. There is a round shaped resonator towards the bottom, which is a part of the neck itself. Resonator of Rabab is little bit wide and it goes narrows towards the top. Pegs are used on the top to tighter the strings. The top part of resonator is covered with the skin of wolf and is called 'Mand'. It has six strings which are made of animal gut and these were played by plectrum (made of coconut cell). While stroking by using plectrum, it is always stroked from the opposite direction, i.e. from right to left[13].

Later on, two new variations came out of this instrument. Where as one is known as 'Sursingar' and the other is known as 'Sarod'.

Contemporary Period

In the contemporary period the term 'Vīṇā' is not much used to refer to all musical string instruments. Each of the musical instruments are named differently as RudraVīṇā, VichitraVīṇā, Sitār , Surbāhār, Sarod, Santoor, Sāraṇgī, Violin, Guitar, Dilrubā, Tānpurā, etc. while in the vedic period, veena was the common term used to refer to all kinds of string instruments[14].

Some example of the string instruments of contemporary period

Sitar

In the contemporary period 'Sitar' has become one of the most popular and complete string instruments. According to Srimati Sulochana Chaturvedi and Acharya Brihashpati modern Sitar was invented by 'Khushro Khan' the father of 'Firoz Khan (Adarang) [15].

The neck of Sitar is made of the woods of Rasiya or tun. The bottom part of dand is connected with resonator and the upper part of resonator is called Tabli (top covering of resonator) on which bridge and targahan are fixed.

There are frets above the neck of sitar and the strings are knitted with the peg by spreading on the Fretsand Bridge starting from the langoot (one pin made by bone which is knitted under the resonator. This is played with plectrum.

Violin

The violin is one of the most commonly used modern string instrument today. This stringed instrument was first manufactured in the early sixteenth century, the forefront of the European Renaissance. The first known modern violin was made by Andrea Amati in 1555. The history of the violin in India is believed to have begun in the early 17th century. BaluswamiDikshitar is the first known violinist to introduce the violin into traditional Karnatic music, and it is no surprise that this instrument became extremely popular in the country in on time while the Indian violin is identical to its foreign counterparts; it is normally tuned differently and played in a different position[16].

The violin is played with a bow. It has four strings. The strings are unusually tuned to the notes G.D.A.E in western style and in Indian style SA Pa SA Pa, Pa SA Pa SA-It is held between the left color bone and the chin. Different notes are made by fingering with the left hand while bowing with the right hand. The horse hair is used on the bow. It has no frets and other marks. Players have to learn the exact place to put the finger of the left hand and memories the position of notes on finger board.

Comparison of String Instrument

In regard to the references and the entire music scenario from ancient to present era, there we can find

a lot of changes; the string instrument has goes through. Here some of the important points are described below.

(i) In ancient times, all the string instruments were known as 'Vīṇā'. They ``were usually made of wood, bamboo and the resonator, made by one kind of pumpkin. The strings used in these instruments were made of Munj (A tough Asiatic grass) and sometime of animal gut loom. That time no frets were used in any Vīṇā. "The beginning of the use of frets on Vīṇā is started from 7th Century A.D." [17]

(ii) Some changes in the manufacturing techniques and playing techniques were made in the Vīṇā, available in the ancient period and they came to be known as Rabab, Sursingar, Sarod etc. in the medieval period.

(iii) In contemporary era the term 'Vīṇā is not used to refer to all string instruments. Instead different names were used to identify different instruments. They are usually made of wood, bamboo, pumpkin and metal also. The strings of the instruments are made of metals like steel, brass and sometimes copper etc. In the playing technique of present string instruments, we find a perfect blending of new developed techniques with the old ones. In comparison with ancient timeKhatkā, Murkī, Krintan, Meendetc. Are used more in number in the contemporary times. This way the designs, the playing techniques and the gradual developments of the string instruments from the ancient period to contemporary era can be understood.

References

1. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-10, Kanisk Publishers, New Delhi
2. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-16
3. Sharma, Dr. Swtantra, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, Page No-13, T.N Bhargav and Sons Publication, Nev Katra, Allahabad
4. Singh, Thakur Jayadev, भारतीय संगीत का इतिहास, Page No-175, Vishwa Vidyalay Prakashan, Varanasi
5. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-38
6. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-40
7. veenawikipedia
8. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-53
9. Mishra, Dr. Lalmani, भारतीय संगीत वाद्य, Page No. 95, Bharatiya Jnanpith Publication, New Delhi-110003
10. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-10
11. Mahadik, Dr. Prakash, संगीत कला बिहार, Page No.29, May - 2001.
12. Mishra, Dr. Lalmani, भारतीय संगीत वाद्य, Page No. 244, Bharatiya Jnanpith Publication, New Delhi-110003
13. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-63, 64
14. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-66
15. Singh, Dr. Shangeeta, उत्तर भारतीय संगीत में तन्त्रवाद्यों का स्थान एवं उपयोगिता, Page No-70
16. www.kalaramnath.com/a-brief-history-of-the-violin
17. Mishra, Dr. Lalmani, भारतीय संगीत वाद्य, Page No. 244, Bha`ratiya Jnanpith Publication, New Delhi-110003

●

EVE TEASING AND MIND SET OF YOUNGSTERS- "A SOCIOLOGICAL STUDY"

ASHUTOSH-PANDEY AND DR. DINESH KUMAR SINGH ***

About the study

The present study examined the experiences of Eve Teasing (in Indian context also known as street harassment or sexual harassment) within students of Banaras Hindu University campus. It's a part of my research and submitted as a dissertation in department of sociology. Research was done on 50 female students from different faculties including Undergraduate, Postgraduate and Research students between age group of 18 to 35 year. The study consist four main objectives-

i. To understand the perceptions about teasing.

ii. To ascertain the reasons/factors of teasing.

iii. Rate of such incidences within BHU campus and Mind set of teenagers with reference to teasing.

iv. Impacts of teasing and how it may be reduced and eradicated from the society.

Basically, I wish to know that what are the basic circumstances in back to fact that women's face harassment on such a large scale but they couldn't accept on a social scale that they are victim of particular crime, while in several cases they are treated as a culprit not as a victim

Extract

Eve-teasing is a kind of gender violence and most emerging social problem of modern society. It's a kind of sexual harassment but very difficult to prove. Eve-teasing is normally meant as teasing a girl or woman. "Eve-teasing" refers to public sexual harassment or street harassment to a girl by a boy. It ranges from whistle, catcalls, sexually evocative remarks, brushing in public places to outright groping and sometimes teasing by mobile phone and mobile tracking. It's a resultant of narrow male dominated thinking. As we know that it's mostly occurred in youth that's why college and university are most fecund area. This paper investigates experiences about teasing within Banaras Hindu University campus. The results have found that only (42%) of respondents accepted that they face teasing like incidences within university campus, it means that the university is quite safe from such incidences. (89%) of respondents faced such incidents outside the university, some time while in way to college from their house, sometimes in crowd and cinema halls, multiplex, busy markets, in lifts, on railway stations etc. They face comments on their wearing, art of living and walking, Light hearted flirtation with strangers in public space. Many Respondents told that they faced teasing by the known persons including neighbours, friends of friends, sometimes classmates, and their own friends. (71%).In over all respondents (70%) faced Verbal (comments, whistling etc.), (20%) Physical (touching, feeling up etc.). (10%) Visual (staring, leering, gesticulating etc). Only (11%) of respondents accepted that the never faced teasing like incidences. The most interesting and fact that I found, was something shocking. (4%) of my respondents openly stated that they enjoy such incidences when it's only verbal or visuals (sometimes comments about their look or wearing, about their makeup etc) and it's also remarkable that they enjoy it only in group of girl, not individual. In short we can say that Eve Teasing is a cancer of the society. It is a mindset in which the men show their supremacy. A woman, weak, helpless and crying out provides the eve teasers with a perverse pleasure which is both sickening and tragic. Though it is true that strong laws and punishment are an effective deterrent but that is not enough. Our purpose is not just to punish eve teasers but to prevent such crimes.

Introduction

The term 'Eve teasing' is used to refer to sexual harassment of women in public places such as the streets, public transportation, parks, beaches, and cinema halls. This type of a public harassment by a lone man or gangs of women includes such as verbal assaults such as making passes or unwelcome sexual jokes: nonverbal assaults such as showing obscene gestures, winking, whistling, and staring; and physical assaults such as pinching, fondling and rubbing against

* Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

**Assistant Professor, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

women in public places. The United Nations Declaration on Violence against Women provides a basis for defining gender-based violence. According to Article 1 of the Declaration, violence against women is to be understood as:

"Any act of gender based violence that results in, or is likely to result in, physical, sexual or psychological harm or suffering to women, including threats of such acts, coercion or arbitrary deprivations of liberty, whether occurring in public or private life".

As we know, the term 'eve teasing' is an Indian origin. The term itself has some demerits. Eve represents temptress and the term actually signifies that eves (women) tempt or provoke males for vulgar comments and behaviours. Ironically, that also means women cause the problem and are also a victim to it. But that is almost like blaming the victims for their sufferings.

Research area and Methodology opted

Banaras Hindu University campus is selected as research area and 50 female students were selected by random sampling. I used both quantitative and qualitative methods for data collection. Used questionnaire and scheduled interviews to extract much empirical data. Participant and non participant observations were made by the help of girl classmate to understand case more practically. For secondary data various books, journals, articles, and websites were browsed. The collected data was analyzed and the findings were tabulated and interpreted.

Forms of teasing

Generally there are three main types of teasing-

i. Verbal Teasing - Passing vulgar comments about figure and other sexual remarks, whistling, texting unfair means to others on same place, singing songs loudly just to grab the attention of the girl, lewd remarks.

ii. Physical Teasing- Pushing & shoving in the streets and mostly in public transports, unnecessary touching, getting rubbed and squeezed by the males.

iii. Visual Teasing –staring, follows a girl, movement of the face, indicating something wrong, hands or any other parts of the body in an awkward way.

Teasing in recent context

India is increasingly portrayed as a "high globalise" and a poster state of globalization. Now we have reached in post modern stage after modernity, but the status of girls and women still same. No doubt they are achieving everything and stabilizing them self as an independent but there social and traditional sector have not much improvement as desired. In the contemporary development context, eve teasing is being recognized as formidable challenges to women's mobility as well as to the overall development of the society. Eve teasing causes different unpleasant situations to women at individual and social level. There can be found numerous instances where due to teasing girls being forced to discontinue their education. Many occurrences remain unreported as the majority of the victims of eve teasing prefer to ignore this out of fear or not to be disgraced or part of social gossip. This situation is becoming alarming that, in general, it can be argued that at present no girls have been spared from being a victim of eve teasing in one form or another. Teasing young girls is not a new phenomenon in everywhere. From electronic media to our nearby street, we are almost used to seeing girls subjected to teasing. Even middle age women while go outside of home, they are more likely to become a victim of indecent verbal comments or physical gestures.

Reasons

Most cases of the sexual harassment are unreported and unpunished due to the young girl's fear of further physical and sexual harm, being socially rebuked, or becoming the subject of local "social gossip". Eve teasing mainly occurs due to attitude towards girls, family culture and education and loss of morality. There are laws but eve teasing has no specific law because sometimes it becomes very difficult to judge whether it is eve teasing or not. Eve teasing is very complicated in nature. Sometimes too much restriction and religious fundamentalism not to intermix with the girls make the boys more curious towards the young girls. From experience and behalf of questionnaire, the basic causes of eve teasing could be generalize as-

i. Open mind culture of boys and sometime their foolish attitude to prove them as a smart and cool guy.

ii. Having a curious and natural attraction towards opposite sex.

iii. Misuse of technology and simple availability of

iv. Sexual contents on internet and on cell phones.

v. Improper socialization, lack of family education and culture.

vi. Lack of morality and ethical and social values.

vii. Drug addiction and frustration disparity, due to poor results in academics, contact with outer and anti social elements.

viii. Sick attitude towards girls and no respect to them. Influence of electronic media and film shoving girls and women as product of enjoyment.

ix. Traditional representation of girls and women's in society, representing them as an object of pleasure.

x. Ignorance of girls about such phenomena and act of no complains.

xi. Untended role of police, local security, society and college administration.

Impacts

This type of violence has no boundary no definite form, sometimes not visible and provable as a hidden way eve teasing is becoming the grave issue for the young girl which throwing to them in the dark world of fear, disrupted education, social stigma which sometimes bound them to commit suicide. Eve teasing is a hidden and most dangerous form of violence which many of the close people of the girls come to know when it is public in the newspaper. A common scenario of defining how girls are sexually harassed would be the fact that these teasers wait in schools mostly, in colleges or they just sit outside the houses and as soon as they cite the girls walk past them they start passing vulgar comments, filthy jokes, sly whistles, uncouth laughter, and sometimes reaching the extreme of indecent exposure. The society blames the women or girls stating that they aggravate the teasers by failing to wear modest clothes. On the contrary, those wearing decent dress are not found to be teased as usual and sometimes to an even greater extent.

Restraint

i. First of all we need to change our mentality, we have to understand that when nature and constitution does not make any discrimination when how could we?

ii. Police and university security agency should play a strong roll.

iii. Education policy should ensure equality and equity between girls and boys and curriculum has a strong role to take initiatives to portray girls and boys equal.

iv. Moral education should be implemented during the early age of socialization and no discrimination would be placed in girls and boys at this stage.

v. A chapter on the violence against women by giving emphasis to establish eve teasing as a social curse.

vi. Teachers should play a remarkable roll in this. They need to be aware of treating both boys and girls equally. They should talk about morality about violence to make them understand the gravity of violence on total humankind.

vii. Law should be implemented properly and strictly.

viii. Local police and university security should play a strong role.

ix. From government level, an award could be announced for the person who could resist eve teaser.

x. Electronic media and printing media should aware about the consequence and negative impact of eve teasing.

Legal Provisions

Eve teasing, however, is not a legal category in Indian constitution and included in sections of gender violence and crime against women. Generally it describes under the IPC crimes. Sections 354 (Molestation) and 509 (Sexual Harassment), have been classified and documented as 'crimes against women', in the Crime in India Reports published by the Crimes Records Bureau. Supreme Court observed that in the absence of effective legislation to contain eve-teasing, normally, complaints are registered under Section 294, Section 354 and Section 509 of IPC. Key among them is the ratification of the Convention on Elimination of All Forms of Discrimination against Women (CEDAW) in 1993 Constitutional Provisions for women are as under:

A) Article 14, confers on men and women equal rights and opportunities in political, Economic and social sphere.

B) Article 15, prohibits, discrimination against any citizen on grounds of religion, race, caste, sex etc.

C) Article 16 provides for equality of opportunities matters relating to employment or appointment to any office under the state.

D) Article 39(a), mentions policy security of state equality for both men and women the right to a means of livelihood and equal pay for equal work for both men and women.

The Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013 of Indian Penal Code (IPC) is a new legislation in this regards.

Conclusion and Findings

Summing up all we can say that the persons involved in teasing have a kind of mental disorder and seek mentality. They occur in this act just for enjoyment. They never think about the impacts on victims. It's an ironical that women's are reasons of it and they are victim of it. Maximum problems dealt with them just because of their tolerance. They generally ignore the incidences and walk away from spot without taking any action. This behaves increases the teasers will power and provides them more will to re attempt the case. Lack of related law and there complexity, there implementation and lack of social support are some basic factors broadly affecting to it. Girls need to be aware about their rights, having solid will power and need to oppose it. They need to realize that they are victim not a culprit. Society needs to play a supportive role for girls in such conditions. That's the way to come out of this social evil. Besides, all of us have to stop being mute witnesses to such crimes. We must stand up and speak and act against this menace. The punishment given to the eve teasers should be strong enough so that it sets an example for others. And, above all, women need to be aware of and fight for their rights.

i. Highest proportion of the respondents agreed that eve teasing was irritating and creating mental and psychological pressure upon them.

ii. The study exposed that there were many respondents who agreed that they have never been subjected to eve teasing on the campus.

iii. Majority of the respondents agreed that light hearted eve teasing was a common phenomenon of the university.

iv. Findings revealed that Eve-teasing was commonly committed in the evening. It was also extracted that they face teasing like phenomena frequent in western cloths and very less in traditional Indian cloths like sari and suit.

v. Maximum proportion of the respondents was fed up with the eve teasing on the campus.

vi. The study also highlighted that the respondents agreed that they did avoid going to the market during odd hours.

vii. Majority of the respondents stated that university campus should be free of eve teasing.

viii. Further findings also stressed that market area of the university was highly prone to eve teasing. Especially Viswnath temple and Madhuban like parks.

ix. Findings stated that majority of the respondents expressed that the eve-teasers indulged more in using indecent gestures.

x. Findings unveiled that highest proportion of the respondents reported the matter of eve teasing to the university authorities and findings exposed that the outsiders were generally involved in eve teasing inside the university campus.

Suggestions

Awareness is of paramount importance as regards the issue of eve teasing. Most of the people are not aware that eve teasing is an offence and legal action can be taken against eve teasers. This arises out of the fact that eve teasing has been normalized in our society. It has become a part of the routine of a girl's life that it is not given a second thought. But we do not realize that if we nip the problem in the bud the problem will not escalate to heinous crimes.

Also our attitude towards the women who face eve teasing has to change. Instead of blaming them we should take action against the offenders. Most of the offenders don't see that their acts are offences capable of leaving trauma. Generally it has been seen that men don't feel guilty about treating women as sexual objects as due to such aggression only they can be seen as real men. Such predisposition towards eve teasing has to be changed. The answer may lie in

spreading awareness about women being as human as men, providing them with the same liberties and restrictions as men in their homes so that the brothers can see that they are equal to them and not mere sexual objects.

i. Socialization and social control at the family and social level should not be gender biased.

ii. Media should raise slogans against this evil and should make aware people about the seriousness of this issue and should not portray men as powerful and women as powerless, vulnerable and in a position to be exploited; and it should not project women as sex objects and (especially cinema) should not portray eve-teasing as something harmless, they should raise slogans against this evil and should make aware people about the seriousness of this issue.

iii. A stringent and effective action has to be taken. The mindset of the society has to change. This can be done when women are treated with respect and as true equals to the men.

iv. Another matter of importance is the punishment provided to the offender should not be minor but should have the impact of deterring him and others to commit such an offence again.

v. The schools can play a very major role in sensitizing young adults about the need to treat the women with respect.

vi. True accounts of eve teased victims and the negative impact on them should be highlighted. In their homes too, the male and the female child should be treated as equals.

vii. There is a need of implications of laws that can directly make an effect on this.

viii. Eve-teasers should be treated as major criminals as their acts cause educational, social insecurity to girls

ix. The CCTV cameras need to be installed at strategic places of the university campus as well as the hostel.

x. The entry of strangers should be prohibited and controlled. And proctorial board needs to be faster to resist such incidences.

References

i. Eve Teasing, available on http://en.wikipedia.org/wiki/Eve_teasing

ii. Dr. Zobaida Akhter: International Women Online Journal of Distance Education October, 2013 Volume: 2 Issue: 4 Article: 01 ISSN: 2147-0367.

iii. Eve-teasing as Sexual Harassment in India: Manifestation of the Patriarchal Mind–set, available on http://ijd.cgpublisher.com/product/pub.26/prod.1293.

iv. Sexual harassment by Pratiksha Baxi, available on http://www.indiaseminar. com/ 2001/ 505/505%20pratiksha%20baxi.htm.

v. Mir, A.A. (2013). Seeds of Criminality in Kashmir: A Social Analysis. *International Journal of Criminology and Sociological Theory*.

●

WORK-FAMILY CONFLICT : AN OVERVIEW

DR. SWAPANA MEENA AND GUNJAN MISHRA ***

Nowadays, changes and challenges are everywhere, also changing day by day. Like the life of women in general and Indian women in particular, has emerged a new class of women workers in recent times, though their number is still small, as compared to the total Indian population, working women constitute an important segment of society (Achrya,1998). The problem of role conflict which is occurring with working women, although also with working men, but still mostly with women in the compression with men. As it is known that the sexual division of labour has divided the work of man and women in society. Ironically, the primary role of women is rearing and bearing children, the problem of work-family conflict arose when women took to play dual responsibilities.

The phrase "work-family conflict" (WFC) emerged in the 1980s, with the sharp increase in women's participation in the workforce. The change in employee demographics challenged the gendered ideology of men as the primary breadwinner and women as the stay-at-home mother. The traditional gendered sex-role connotes the conflict that arises when women attempt to fulfill the responsibilities of both roles.(Tsai,2008). Further, in a study conducted by Desai (2003) work-family conflict is actually a newly recognised conflict in India. It has been only within the last two or three years that people in India have begun to talk about the strain dual-earner families experience. She further states that many women who are experiencing work-family conflict in their own lives fail to recognise this as a problem that can be resolved. A lot of women are still fulfilling multiple roles such as caregiver, employee, spouse as well as homemaker, without realising that they are assuming a greater burden than necessary. "They work on the assumption of 'no-choice'," says Desai (2003, p.1). The source of conflict between work and family domains does not imply that work and family cannot be mutually supportive.

The meaning of work-family conflict

Role conflict- Kahn et al. have defined role conflict as the "simultaneous occurrence of two (or more) sets of pressures such that compliance with one would make more difficult compliance with the other" (1964, p. 19).

Interrole conflict- Interrole conflict is a form of role conflict in which the sets of opposing pressures arise from participation in different roles (Greenhaus,Beutell,1985,p.77).

Work-family conflict- Kahn et al. (1964), the following definition of work-family conflict is offered: a form of interrole conflict in which the role pressures from the work and family domains are mutually incompatible in some respect. That is, participation in the work (family) role is made more difficult by virtue of participation in the family (work) role.

Forms of work-family conflict

Work-family conflict is conceptually bi-directional. There can be family-to-work conflict, which occurs when experiences in the family (for example, the presence of young children, primary responsibility for children, elder care responsibilities, interpersonal conflict within the family unit, and unsupportive family members) interfere with work life (Frone et al, 1996). There can also be work-to-family conflict, which occurs when experiences at work (such as extensive, irregular, or inflexible work hours; extensive travel, and unsupportive supervisors or organizations) interfere with family life. Although these two types of interference are strongly correlated, research has found that work roles are more likely to interfere with family roles than vice versa (Mokomane, 2009). Both of the conflict which arises from work to family conflict and family to work conflict can take one of three major forms(a) time-based conflict,(b) strain-based conflict,(c) behavior-based conflict. These are in detail such as-

i- Time-based conflict, which occurs when the amount of time devoted to fulfilling obligations in one domain, reduces the amount of time available to perform roles in other domains (Niemeyer, Boles & McMurrian, 1996; O' Driscoll, llgen & Hildreth, 1992; Small & Riley, 1990 as cited in Wallis & Price, 2003).

ii- Strain-based conflict which arises when strain or

∗ Assistant Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi-
∗∗ Research Scholar, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi-

fatigue is experienced in one role and therefore hinders performance or exploits resources which would be otherwise available for another role (Byron, 2005; Carlson, 1999 as cited in Mauno, Kinnunen & Ruokolainen, 2006).

iii- Behaviour-based conflict refers to specific patterns of in-role behaviour that may be incompatible with expectations regarding behaviour in another role. It has been suggested, for example, that the male, managerial stereotype emphasizes self reliance, emotional stability, aggressiveness, and objectivity (Schein, 1973).

Risk factors and consequences

As ***Eby*** et al., 2005; Lapierre et al., 2008; have given factors and consequences related with work-family conflict those are such as-

- Occupational stress
- Family related stress for e.g. child behaviour problems
- Low job satisfaction and performance
- High absenteeism rates
- Poor organization and reduced career commitment
- Increased psychological distress
- Increased parental conflict and marital distress
- Increase in child behaviour problems and poor parenting styles
- Lower satisfaction with parenting

Discussion and Conclusion

All told that it can be concluded that the problem of Indian working women that they suffer several problems because the life of women in society very vulnerable at present scenario especially, those working at organized or unorganized sector. In the capitalist workplace where the working hours have been increased, but the tradition primary role of women in patriarchal society has not been changed then the result of all these fact working women face challenges and problems and work-family conflict is one of them a major problem at present. Now the question arose before MNCs, development programmers and government before few years that how women could get rid of all the problems like dual role, stress absenteeism, conflict etc. Presently, our government and multinational companies have bought several policies and implement at workplace so that with the help of such policies and programs employees and working women could be made the most of and have not to leave a job because of their personal work.

References

1. Aryee, S., & Luk, V. 1996. Balancing two major parts of adult life experiences: Work and family identity among dual-earner couples. *Human Relations*, 49: 465–487.
2. Arora, P. (2003). Professional Women: Family Conflicts and stress, *Manak*,
3. Bakker, A.B., Geurts, S.A.E. (2004).Toward a Dual-Process Model of Work- Home interference, *Work and Occupations*, Vol.31, No-3.
4. Brough, Anouk, P.K., Women, Work & Well-Being: The Influence of Work-Family and Family-Work Conflict, *New Zealand Journal of Psychology*, Vol. 31, No- 1.
5. Chandra, V. (2010). Indian Women on the work- family interface.
6. Chen, C.P. (2008).Coping With Work and Family Role Conflict: Career Counselling Considerations for Women, *International Handbook of career Guidance.*
7. Costa, D. L. (2000). From Mill Town to Board Room: The Rise of women's Paid Labour, *The Journal of Economics Perspectives*, Vol. 14, No. 4.
8. Desai, T. P. (2003). Work-Family conflict in India: An emerging concept.
9. Greenhaus, J. H. & Beutell, N. J. (1985). Source of conflict between work and family roles. *The Academy of Management Review*, vol.10, No.1, pp.76-88.
10. Prasad, G. (2006). The Great Indian Family: New Roles, Old Responsibilities, *Penguin book publication.*
11. Ramu, G N. (1989). Women, Work and marriage in Urban India: A study of dual-and single earner couples, *Sage*.
12. Rani,K.(1976).Role conflict in working women , *chetna publication.*
13. Reddy, K.(2010). An investigation into work family conflict in females occupying lower-level jobs.
14. Tsai, Hui-y. (2008). Work-family conflict positive spillover and emotions among Asian-American working mothers.

श्री विश्वनाथ मंदिर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

ISSN: 0554-9884

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।

3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.